(गोविन्द माधव)

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्री भगवान उवाच –

मूल श्लोक–एक

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।

पदच्छेद –

अनाश्रितः ,कर्मफलम् , कार्यम् ,कर्म ,करोति ,यः।
सः, संन्यासी, च, योगी, च ,न, निरग्निः, न, च, अक्रियः ।।

भावार्थ– कर्मफल का आश्रय त्यागकर जो (साधक) शास्त्रसम्मत कर्म करता है। वह संन्यासी है तथा योगी है। यज्ञादिक कर्मो का त्यागी संन्यासी नहीं है तथा क्रियाशीलता का त्यागी योगी नहीं होता है।

व्याख्या –(1) कर्मफल क्या है?–

मनुष्य तीन प्रकार से कर्म करता है जिन्हें मनसा, वाचा, कर्मणा कहा जाता है। ये तीनों प्रकार के कर्म भी तीन प्रकार के होते हैं जिन्हें शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ कहा जाता है। शुभ कर्म का परिणाम (फल) शुभ, अशुभ कर्म का परिणाम अशुभ तथा शुभाशुभ कर्म का परिणाम शुभाशुभ (मिश्रित) होता है। इस प्रकार शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ कर्म का जो परिणाम होता है वह ही कर्मफल कहलाता है।

परमात्मा की कर्मफल की निश्चित, पारदर्शी तथा सुस्पष्ट व्यवस्था है। हम जो भी कर्म करते हैं उसका फल हमें अवश्य ही प्राप्त होता है। शुभ कर्मों के सम्पादन से हमें शुभ परिणाम भी अवश्य प्राप्त होता है। अशुभ कर्मों के सम्पादन से अशुभ परिणाम भी अवश्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार शुभाशुभ कर्मों के सम्पादन से शुभ तथा अशुभ (सुख तथा दुःख) रूप फल अवश्य ही प्राप्त होता है। इसी को मिश्रित फल कहा जाता है।

परमात्मा की इस व्यवस्था में कोई दोष नहीं है। हमारे समग्र कर्म अवश्य परिणामी होते हैं। इस कारण कर्मफल हमें निश्चित ही प्राप्त होता है। जैसे हम माता पिता की सेवा करते हैं तो इस शुभ कर्म का फल हमें अवश्य ही प्राप्त होता है। माता पिता की सेवा नहीं करते हैं इस अशुभ कर्म का फल हमें दुःख के रूप में अवश्य प्राप्त होता है। हम अवसर पाकर माता–पिता की सेवा करते हैं और उन्हें कतिपय कारणों से कष्ट देते हैं तो इस मिश्रित कर्म का परिणाम भी हमें अवश्य ही प्राप्त होता है। यह परमात्मा के अस्तित्त्व और उसकी स्पष्ट व्यवस्था का एक साक्ष्य है। इस कारण इस तथ्य से हमें संशयरहित हो जाना चाहिए कि हम दुष्कर्म करके उसके परिणाम (फल) से किसी प्रकार बच पायेगे । दुष्कर्म किया तो हमें उस का परिणाम अवश्य ही भुगतना पडेगा तथा सत्कर्म के क्रियान्वयन से सुख अवश्य प्राप्त होगा । इसी को कर्मफल कहा जाता है।

(2) मनसा कर्म क्या है?

परमात्मा ने मनुष्य को मन (mind) प्रदान किया है। मन की वृत्ति (कार्य) को संकल्प कहा जाता है। सहजता से यह कहा जाता है कि मन नाना प्रकार के विषयों पर निरन्तर (सुषुप्तिकाल को छोङकर) विचार करता रहता है। मन जो भी विचार करता है वह सबका सब 'मनसा कर्म' कहा जाता है। मन परमात्मा की अपरा प्रकृति का छठा तत्त्व है। इस कारण बहुत प्रबल है। वैकारिक अंहकार से 'मन' की उत्पत्ति मानी जाती है। प्रातःकाल से रात्रि सोने तक अर्थात् जाग्रत अवस्था में तथा स्वप्नावस्था में भी मन विभिन्न प्रकार के विचार करता है। सम्पर्कित विषयों समस्याओं तथा भविष्य की सम्भावनाओं आदि पर मन विचार करता रहता है। हम जाग्रत अवस्था में मन का बहुत उपयोग करते हैं तथा निरन्तर उठते–बैठते, चलते, फिरते, कार्य करते, विश्राम करते हुये मन अपनी वृत्ति संकल्प में संलग्न रहता है। मन एक क्षण भी शान्त नहीं रहता, तथा निरन्तर गति करता रहता है। इस कारण ही मन को चंचल तथा प्रमथनशील कहा जाता है। मन की विचारण प्रक्रिया स्वप्नावस्था में भी रहती है, वह समाप्त नही होती। मन के द्वारा किया जाने वाला समस्त विचारण ही मानसिक कर्म कहा जाता है।

विशिष्ट तथ्य यह है कि सर्वप्रथम मानसिक कर्म ही होते हैं, तत्पश्चात वाचिक और कायिक कर्म होते हैं। जब कोई विषय मन में आता है तब मन उस पर विचार करके बुद्धि को विनिश्चय हेतु संप्रेषित करता है। बुद्धि से उसका विनिश्चय होकर वह

वाणी के द्वारा प्रकट–व्यक्त होता है। तदोपरान्त वह इन्द्रियों के द्वारा क्रियान्वित हो सकता है। इस प्रकार सर्वप्रथम मानसिक कर्म ही होता है। मन चूँकि जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में निरन्तर गतिशील रहता है। इस कारण उक्त दोनों ही स्थितियों में निरन्तर मानसिक कर्म हुआ करता है।

(3) वाचिक कर्म क्या है ?

मन जो भी विचार करता है वह वाणी के रूप में मनुष्य प्रकट करता है। यह वाचिक कर्म कहलाता है। मन के द्वारा विचारण की प्रक्रिया चला करती है और उस विचारित विषय का विनिश्चय बुद्धि करती है तथा विनिश्चित किया गया विषय हम वाणी के रूप में प्रकट कर देते हैं। जो भी वाणी प्रकट करती है वह सबका सब वाचिक कर्म कहलाता है। जब हम बातचीत करते हैं तो जो बोलता है, वह वक्ता होता है और अन्य श्रोता होते हैं। हमारे समक्ष जो कुछ बोला जाता है। वह वक्ता का वाचिक कर्म कहलाता है तथा हम जब बोलते हैं तो वह हमारा वाचिक कर्म कहलाता है। हम पहले जो शब्द–वाक्य सुनते हैं उसे हमारी श्रवणेन्द्रिय (कर्ण) ग्रहण करते हैं। श्रवणेन्द्रिय ग्रहण किये गये वाक्यों को मन को प्रेषित करती है, अथवा मन उसे स्वतः ही ग्रहण कर लेता है तथा मन ग्रहण किये विषय को बुद्धि को भेजता है। बुद्धि उसके उत्तर पर विचार करके वाणी के माध्यम से उसे प्रकट करती है। यह संक्रिया सेकेण्डों में होती है। इस प्रकार मन बुद्धि के सहयोग से वाणी जो भी कहती है। वह सबका सब वाचिक कर्म कहा जाता है।

(4) कर्मणा क्या है ?

हमारी इन्द्रियों तथा शरीर से जो कर्म किये जाते हैं वह कर्मणा कर्म कहे जाते हैं। आंख देखती हैं। कान सुनने की क्रिया करते हैं। नासिका सूघॅने की क्रिया में संलग्न रहती है। इस प्रकार जिह्वा तथा त्वचा रस ग्रहण करने में तथा स्पर्श की क्रियाओं में संलग्न रहती है। हाथों से आदान –प्रदान रूपी कर्म होता है। पैरों से गमन (चलने) की क्रिया होती है। उपस्थ तथा पायु से मुत्रत्याग ,मलत्याग ,की क्रियायें होती है। यह समस्त कर्म ही कर्मणा कर्म कहे जाते हैं। कर्मणा कर्म पर भी मन तथा बुद्धि का नियन्त्रण रहता है। मन तथा बुद्धि के निर्देश से ही समग्र इन्द्रियॉ कर्म करती हैं। इस कर्मणा कर्म का भी फल होता है।

मनसा ,वाचा ,कर्मणा कर्मों के तीन प्रकार हैं। प्रत्येक शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ कर्मों का प्रकार होता है। जिस श्रेणी का कर्म होता है। उसी श्रेणी का कर्मफल प्राप्त हो जाता है। समस्त मानसिक दुष्कर्मो का दूषित परिणाम विनिश्चय के उपरान्त सूक्ष्म रूप से होता है। तथा वैसे ही सत्कर्मो के विनिश्चय के उपरान्त उसका अनुकूल तथा शुभ परिणाम देखने में आता है। इस प्रकार समस्त कर्मों का फल अवश्य होता है। यही कर्मफल तथा प्रारब्ध का आधार भी है।

(5) कर्मफल का आश्रय क्या है ?

हम सभी जो भी कर्म करते है। वह कर्मफल पर विचार करके ही करते है। सामान्यतः पहले कर्मफल के बारे में विचार होता है। तत्पश्चात कर्म होता है। जैसे हम कोई व्यवसाय आरम्भ करते हैं तो उसके हानि लाभ के बारे में विचार ही कर्मफल का विचार है तथा इस प्रकार का विचार रखना ही कर्मफल का आश्रय है। संसार में जितने भी कर्म है उसके सम्पादन के पूर्व कर्मफल का विचार मनुष्य अवश्य करता है कि अमुक कर्म करेगें तो हमें अमुक फल की प्राप्ति होगी ,यह विचार रहता है। मनुष्य की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह कर्म के पूर्व कर्मफल के बारे में अवश्य ही विचार कर लेता है। प्रत्येक कर्म का आरम्भ चूकि मनसा कर्म से होता है इस कारण पहले मन से वह विचार करता है कि अमुक कर्म से हमें अमुक फल प्राप्त होगा । यह स्थिति साधारण रूप से प्रत्येक मनुष्य के साथ रहती है। जैसे दुष्कर्मी मनुष्य हत्या –डकैती –लूटपाट करता है। तो वह पहले ही विचार कर लेता है कि हमें इस लूटपाट रूपी कर्म से बहुत सारा धन प्राप्त हो जायेगा । उस धन से हम सुख प्राप्त करेगें तथा संसार के विषय भोगों की वस्तुओं को एकत्र करके आमोद – प्रमोद करेगें इस प्रकार का विचार ही कर्मफल का आश्रय है। इस प्रकार जब एक दुष्कर्मी मनुष्य भी दुष्कर्म के पूर्व ही फल के सम्बन्ध में विचार करता है। साधारणतयाः इस कर्मफल के आश्रय से मुक्त नही हो पाता है।

(6) कर्मफल का अनाश्रय क्या है ? (अनाश्रितः कर्मफलम्) –

कर्म आरम्भ करने के पूर्व कर्मफल के सम्बन्ध में विचार न करना कर्मफल का आनाश्रय है। क्या बिना कर्मफल के विचार के भी कर्म हो सकता है ? जैसे हम कोई कर्म करे और यह विचार न करे कि हमें उस कर्म का फल प्राप्त होगा । दुष्कर्म के संबंध में भी यह विचार नहीं किया जा सकता है क्योंकि दुष्कर्मों के करने के पूर्व उन

दुष्कर्मों के क्रियान्वयन तथा उससे होने वाले हानि लाभ के वारें में मनुष्य विस्तार से विचार कर लेता है। तत्पश्चात् वह बहुत विचार के उपरान्त ही दुष्कर्मो का सम्पादन करता है।यदि धन की प्राप्ति न हो तो कोई मनुष्य चोरी –डकैती–लूटपाट क्यों करेगा ? इस प्रकार के कर्म करने के पूर्व मनुष्य बहुत विचार करता है, कि अमुक दुष्कर्म से इतनी मात्रा में धन की प्राप्ति हो जायेगी । तब वह कर्म के सम्पादन पर विचार करता है। धन की प्राप्त की सम्भावना न हो तो लूटपाट– चोरी– डकैती क्यों होगी ?यह सबका सब कर्मफल का आश्रय है। इसी प्रकार शुभ कर्मो में भी मनुष्य शुभ कर्मो के क्रियान्वयन के पूर्व ही उसके फल पर विचार कर लेता है, कि हम अमुक शुभ कर्म कर रहे है तो हमें अमुक फल मिलेगा । स्वर्ग, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य धन पद आदि प्राप्त होगा । शुभ कर्मों के क्रियान्वयन के पूर्व इस पर विचार करना कर्मफल का आश्रय है। क्या यह स्थिति प्राप्त हो सकती है? इस पर विचार करने से यह ज्ञात होता है, कि स्थिति सहजता से प्राप्त होना सम्भव नही है। हम शुभ कर्म करें और उसका परिणाम (फल) न चाहे तो सहज प्रतीत नही होता ।

(7) कर्मफल के आश्रय का त्याग कैसे ?–

जब साधक यह जान जाता है, कि हमें कर्मफल का अधिकार नही है। मात्र कर्म का अधिकार है। तो वह दो कार्य करता है –एक शास्त्रसंगत कर्मो के क्रियान्यवयन का प्रयास करता है तथा वह कर्मफल (कर्म के परिणाम) का विचार त्यागने लगता है। हम इस सम्बन्ध में दृढ.मत हो जावे कि हम जो भी कर्म करेगें तो उसका फल हमें अवश्य प्राप्त होगा,तब दुष्कर्मों के क्रियान्वयन का विचार भी धीरे –धीरे समाप्त हो जाता है, तथा हम शास्त्रों में वर्णित कर्मो के बारें में विचार करने लगते है और उसके क्रियान्वयन का भी प्रयास करते हैं। एक साधक दुष्कर्मो के परिणाम से सदैव भयभीत रहता है । जब कर्मफल का अधिकार परमात्मा के पास सुरक्षित है तो हमें कर्मफल के बारें में विचार करने का अधिकार ही नहीं है। यह तथ्य नितान्त सत्य है। हम कर्मफल के बारे में विचार करने से उसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

कर्मफल के आश्रय के त्याग के बारें में दो ही तथ्य प्रमुख है। एक– कर्मो के शास्त्रसंगत आचरण का तथा उस आचरण से प्राप्त फल के विचार के त्याग का । जब हम शास्त्रसंगत आचरण करेगें तो हमें शुभ परिणाम स्वतः ही प्राप्त होगे। जब यह विचार बहुत दृढ.हो जाता है,तो कर्मफल के आश्रय का त्याग भी सहजता से हो जाता

है। कर्मफल के आश्रय के त्याग के लिए वर्ण –आश्रम–कुल आदि कोई बन्धन नहीं है। कर्मफल के आश्रय का त्याग कोई भी साधक कर सकता है। कर्मफल के आश्रय के त्याग में यह तथ्य प्रमुख है कि हम शास्त्रों का अध्ययन करें ,शास्त्रों में उल्लिखित शास्त्रसम्मत कर्मों को जाने तथा कर्मफल के आश्रय के अभाव में कर्म करने की चेष्टा करें । जैसे हम दूसरो की सेवा रूपी कर्म करते है तो उसके धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति हो इस भावना का हमें त्याग कर देना चाहिए । हमें समाज सेवा रूपी शास्त्रसम्मत कर्मो से धन ,सम्पत्ति ,ऐश्वर्य ,प्रतिष्ठा आदि परमात्मा की व्यवस्था से स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। उनके लिये इच्छा की आवश्यकता नहीं होती । यदि उक्त प्राप्त हो जावे तो उनका उपयोग भी समाज सेवा के लिए ही करना चाहिए यही कर्म फल के आश्रय का उत्कृष्ट त्याग है।

(8) शास्त्र संगत कर्म करना – (कार्यं कर्म करोति यः)–

शास्त्र संगत कर्मो को जानना तथा उसका आचरण करना भी एक जटिल कार्य है। क्योकि कर्म की गति गहन है। गीताजी में कर्म के तीन स्वरूपों का वर्णन है जिन्हे (1)कर्म (2)अकर्म तथा (3)विकर्म कहा जाता है। इनमें अन्तर करना कठिन है। हमें कर्म के स्वरूप का अकर्म के स्वरूप का तथा विकर्म के स्वरूप का भी बोध होना चाहिए ।

संसार में असंख्य मनुष्य हैं। तथा असंख्य प्रकार के कर्म हैं। असंख्य मनुष्यों की प्रवृत्ति–प्रकृति पृथक्–पृथक् है तथा उनके कर्मो के सम्पादन भी पृथक्–पृथक् हैं। एक मनुष्य के लिए एक कर्म शास्त्रसम्मत है तथा दूसरों के लिए विकर्म है। इस कारण कर्म की व्यवस्था बहुत ही जटिल है।इस सम्बन्ध में एक तथ्य विशेष विचारणीय है कि जब दूसरों को उत्पीडित करके उनका शोषण करते हैं तथा अधिकतम वस्तुओं के उपयोग करने का प्रयास करते हैं तो हमारे कर्म विकर्म की श्रेणी में आ जाते है। इस कारण मनुष्य को दूसरों के उत्पीडन –शोषण का प्रयास नहीं करना चाहिए तथा दूसरों के अधिकार की वस्तुओं के उपयोग का प्रयास भी नहीं करना चाहिए । यह प्रवृत्ति हमें

विकर्म से बचाये रखती है। साधारणतया जब हमें दूसरों के अधिकार की वस्तुओं को स्वयं प्रयोग करने का प्रयास करते हैं तो हम साधरणतया शास्त्र के प्रतिकूल कर्मों का आचरण करते हैं ।

प्रत्येक मनुष्य जिस स्थिति में है उस स्थिति में उसके निश्चित कर्तव्य कर्म हैं। व्यक्ति चाहे निम्न पद पर विराजमान हो अथवा उच्च पदस्थ हो प्रत्येक के कर्तव्य कर्म उसके साथ रहते है। कर्तव्य कर्मों की उपेक्षा, अतिक्रमण तथा व्यवहार न करने से मनुष्य शास्त्रसंगत कर्मों के आचरण से पृथक् हो जाता है । इस कारण परमात्मा की व्यवस्था के अधीन हमें जो भी सांसारिक भूमिका प्राप्त हुयी है ,जन सामान्य की सेवा हेतु प्राप्त हुयी है । इस कारण सबका विशेष दायित्व है कि वह स्वार्थपरता का त्याग करके लोगों की सेवा करें । यदि हम ऐसा करते हैं तो हम शास्त्र संगत कर्मो का आचरण नही करते है । इसके अतिरिक्त जिन कर्मों का शास्त्रों में उल्लेख है वे हमारे लिये अनिवार्य रूप से अनुकरणीय है। उनका भी आचरण करना चाहिए। यही शास्त्र सम्मत कर्म करना है।

(9) योगी तथा संन्यासी कौन है ? (सः संन्यासी च योगी)–

श्रीभगवान ने योगी तथा संन्यासी को एक समान कहा है। जो मनुष्य कर्मफल के आश्रय का त्याग करके शास्त्रसंगत कर्म करता है। वह योगी है तथा संन्यासी है। कर्मफल का आश्रय का त्याग कर देना तथा शास्त्रसम्मत करना ये दो पृथक् –पृथक् स्थितियॉ है। दोनो ही कर्म यदि एक साथ चलते हैं तो यह विशेष तथ्य है। शास्त्रसम्मत कर्म करे तथा कर्मफल के आश्रय का त्याग कर दें तो साधक स्वतः ही योगी हो जायेगा तथा संन्यासी की उपाधि से भी विभूषित हो जायेगा। वैसे योगी को विशेष स्थिति वाला समझा जाता है तथा संन्यासी को विशेष आश्रम वाला मनुष्य जाना जाता है। योगी के लिए जो भी आवश्यक कर्म है तथा संन्यासी के लिए भी जो आवश्यक योग्यता है वह सब दोनों ही तथ्यों में समाहित हो जाती है। यह विशिष्ट तथ्य है कि साधक यदि शास्त्रसम्मत कर्मों का आचरण करें तथा कर्मफल के आश्रय का त्याग कर दें तो वही योगी हो जाता है तथा संन्यासी भी हो जाता है।

योग तथा योगी को विशिष्ट शब्दों में नहीं बॉधा जा सकता है, परन्तु श्री भगवान ने विशिष्ट शब्दों में बॉध दिया है। वैसे ही संन्यासी को भी विशेष स्थिति में रहना पङता है परन्तु श्रीभगवान ने उसे विशेष स्थिति में आबद्ध कर दिया हैं। शास्त्रसंगत कर्मों का बहुत विस्तार है तथा कर्मफल के आश्रय का त्याग भी कठिनता से होता है। परन्तु योगी होने के लिए उस विस्तार को समझना पङेगा तथा कर्मफल के आश्रय के त्याग का

विधिवत आचरण करना पडेगा । शास्त्रसंगत कर्मो के आचरण से तथा कर्मफल के आश्रय के त्याग से योगी तथा संन्यासी की स्थिति कैसे प्राप्त हो जाती है ?यह परम विचारणीय तथ्य है।

शास्त्रसंगत कर्मो के आचरण से मनुष्य शुद्ध हो जाता है जिससे अशास्त्रीय कर्मो के आचरण से आयी अशुद्धता समाप्त हो जाती है। मनुष्य स्वभावतः शुद्ध है, उसका परम स्वरूप परम शुद्ध है परन्तु उसमें अशास्त्रीय कर्मों के आचरण से अशुद्धता का प्रादुर्भाव हो जाता है। जैसे कोई पात्र यदि प्रतिदिन धोया –मांजा न जावे तो वह स्वतः ही अशुद्ध तथा गन्दा हो जाता है। इसी प्रकार यह मानव शरीर भी स्वभावतः शुद्ध है परन्तु अशास्त्रीय कर्मो के आचरण से यह अशुद्ध हो जाता है। इस कारण इसकी शुद्धि का एक उपाय है कि हम शास्त्रीय आचरण करें । शास्त्रीय आचरण से शरीर में स्वतः ही शुद्धता आ जायेगी तथा ऐसे निरन्तर आचरण से पूर्ण शुद्धता आ जाती है तथा मनुष्य योगी हो जाता है। यह शास्त्र सम्मत कर्मो के आचरण का ही परिणाम है।

शास्त्रसम्म कर्मों के आचरण में कर्मफल के आश्रय का त्याग का विचार परमात्मा के अधिकार का हमें बोध कराता है। साधक के मन में जब यह विचार आ जाता है, हम शास्त्रसंगत कर्म करें तथा परमात्मा के अधिकार की अनुभूति करें । जब हम कर्म के पश्चात उसके परिणाम की प्राप्ति की चेष्टा करते हैं तो परमात्मा के अधिकार का अतिक्रमण करते हैं। अधिकांश लोग कर्म करके फल प्राप्ति की चेष्टा करते हैं। यह चेष्टा तथा फल प्राप्ति का प्रयास भ्रमपूर्ण है। कर्म के पश्चात हमें फल निश्चित मिलेगा हमारी चेष्टा इसमें काम नहीं आयेगी । कर्मफल को हम चेष्टा से अथवा अथक प्रयास से प्राप्त नहीं कर सकते हैं, वह तो श्री भगवान की ओर से स्वतः ही प्राप्त होता है ।यदि हम शास्त्रसम्मत कर्म करते हैं तथा फलेच्छा का त्याग करते हैं तो हमें स्वयं ही फल प्राप्त होता है। योगी और संन्यासी की संज्ञा से भी विभूषित होते हैं। इस प्रकार वह साधक योगी भी है तथा संन्यासी भी है जो फलेच्छा का परित्याग करके शास्त्र सम्मत कर्मों का आचरण करता है।

(10) निरग्नि तथा अक्रिय मनुष्य संन्यासी योगी नहीं होता –

(च न निरग्निं चाक्रियः)

संन्यास आश्रम में दो तथ्य विशिष्ट आ जाते हैं एक तो संन्यासी यज्ञादिक कर्मों को नहीं करना चाहता हैं तथा बहुत संन्यासी अग्नि से पके हुये अन्न को भी त्याग देते हैं। यज्ञादिक कर्मों का त्याग तथा अग्नि से पकाये अन्न के त्याग करने को निरग्नि कहा जाता है। निरग्नि होने के पश्चात मनुष्य संन्यासी हो जाता है अथवा वह अपने को संन्यासी समझता है तथा अपने को संन्यासी मानने लगता है। श्रीभगवान की दृष्टि में निरग्नि मात्र से ही मनुष्य पूर्ण संन्यासी नहीं हो सकता है। इसके लिए शास्त्र सम्मत कर्मों का फलेच्छा से त्याग करके आचरण कर लेने से ही पूर्ण संन्यासी की स्थिति आ जाती है । इस प्रकार निराग्नि को पूर्ण संन्यासी मान लेना सही नहीं है। यदि संन्यासी ने शास्त्रसम्मत कर्मों के आचरण का त्याग कर रखा है तथा फलेच्छा की भावना है तो उसके संन्यासीपने में संन्दिग्धता रहेगी इस संबंध में दो तथ्य विचारणीय है।

(क) संन्यासी भी शास्त्र की मर्यादा से आबद्ध है–

मनुष्य चाहे वह किसी भी वर्ण तथा आश्रम का हो अथवा देवसृष्टि का सदस्य हो प्रत्येक के लिए शास्त्र की मर्यादा है। शास्त्रों के जो नियम है वे सभी के लिए हैं। ब्रह्मचारी ,गृहस्थ , वानप्रस्थ तथा संन्यासी प्रत्येक शास्त्रों के नियम से बॅधें हैं। प्रत्येक के लिए शास्त्रों के पृथक् –पृथक् नियम हैं हम सभी शास्त्रों की मर्यादा से बॅधे हुये हैं। संन्यास की दीक्षा के पूर्व ही संन्यासी को संन्यास धर्म से परिचित करा दिया जाता है। उसके गुरू के द्वारा संन्यास धर्म के नियमों को कडाई से पालन करने को कहा जाता है । यह शास्त्र के नियम ही शास्त्र की मर्यादा कहे जाते है । संन्यासी यदि संन्यास धर्म का पालन नहीं करता है वह अपनी स्थिति से च्युत हो जाता है।

(ख) संन्यासी हेतु फलेच्छा का त्याग अनिवार्य है –

संन्यासी के लिए फलेच्छा का त्याग विशिष्ट त्याग है । संन्यासी अपने जीवन की आवश्यक उपयोगी वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का त्याग दीक्षा के समय ही कर देता है । सांसारिक वस्तुओं तथा संबन्धों के उपयोग की सीमा है तथा इस सीमा में मर्यादा ही उसका गुण है । 'वसुधैव कुटुम्बकम् ' ही उसका परिवार है । संन्यासी समग्र कर्म मानव कल्याण के लिए निष्काम भाव से करता है । 'सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय' ही उसका कर्म सिद्धात है इसी सिद्धान्त के आधार पर कर्म करके वह फलेच्छा का त्याग कर देता है सबके हित तथा सबके सुख की भावना से कर्म करने पर फलेच्छा

का त्याग स्वतः ही हो जाता है संन्यासी हेतु फलेच्छा का त्याग ही एक महत्वपूर्ण तथ्य है वही पूर्ण संन्यासी है जिसने फलेच्छा का पूर्ण त्याग कर दिया है। फलेच्छा के त्याग से शास्त्र सम्मत कर्म स्वतः ही होने लगते है क्योकि शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन मनुष्य स्वार्थ भावना से प्रेरित होकर ही करता है ।

(ग) शास्त्र संम्मत आचरण, फलेच्छा के त्याग से मनुष्य संन्यासी हो जाता हैः–

मनुष्य किसी भी वर्ण आश्रम का सदस्य हो यदि वह शास्त्र सम्मत कर्म करता है स्वधर्म पालन करता है तथा फलेच्छा का त्याग कर देता है तो वह संन्यासी ही मानने समझने योग्य है । संन्यासी बनना तथा संन्यासी होना दो पृथक् –पृथक् बातें हैं संन्यासी बनने में दोष रह सकते है परन्तु संन्यासी होने में दोषरहित स्थिति आ जाती है यदि संन्यासी शास्त्र की आज्ञा का उलंघन करके फलेच्छा की दृष्टि से कर्म करता है तो वह संन्यासी हुआ व्यक्ति अपनी स्थिति से नीचे गिर जाता है । दोषी हो जाता है यदि किसी भी वर्ण आश्रम का व्यक्ति शास्त्र की आज्ञा की अवहेलना नहीं करता है तथा फलेच्छा का त्याग करके कर्म करता है तो वह पूर्ण संन्यासी ही है । संन्यासी होना तो अच्छा है पर संन्यासी बन जाना श्रेष्ठ है । संन्यासी होना उत्कृष्ट है परन्तु बन जाना सर्वोत्कृष्ट है ।

(घ) संन्यासी के विशिष्ट धर्म –

(1) संसार के व्यापार –व्यवहार से मुक्त रहना ।

(2) सम्मान प्रतिष्ठा से रहित व्यवहार ।

(3) सर्वत्र एक समान व्यवहार ।

(4) क्रोध से रहित शान्त आचरण ।

(5) अनावश्यक प्रलाप, तर्क वितर्क से मुक्त पूर्ण शान्त आचरण ।

(6) सांसारिक क्रियाकलापों से रहित दृष्टि ।

(7) कामना संकल्प – लोभ रहित चेष्टा ।

(8) सांसारिक मनुष्यों की चेष्टाओं के पूर्ति पूर्ण उदासीन ।

(9) सुख दुःख ,हानि लाभ में सम रहना ।

(10) शास्त्र ध्यान में रूचि तथा आत्म साक्षात्कार का प्रयास ।

(11) सत् के अवलम्वन तथा असत के परित्याग की भावना ।

(ड.) अक्रिय योगी नहीं होता है –

अक्रिय मनुष्य योगी नहीं हो सकता है। योगी का प्रथम चरण ही क्रियाशीलता है। शम, दम, तपादि, यम, नियम आसनादि जितने भी योगी बनने के साधन हैं वे सबके सब क्रियाशीलता के पर्याय हैं। क्रियाशीलता समाप्त होते ही योगी की साधना को विराम लग जाता है। इस प्रसंग में ध्यान योग के साधन का विषय हैं। इस कारण ध्यानयोग के साधन में क्रियाशीलता की विशेष आवश्यकता होती है। ध्यान में बैठना पड.ता है तथा संसार से ध्यान हटाकर लक्ष्य पर ध्यान टिकाने की जितनी सक्रियता होती है, उतनी ही तीव्रता से ध्यान का विकास होता है। इस प्रक्रिया में क्रियाशीलता के घटते ही ध्यान का घटना आरम्भ हो जाता है। ध्यान परमात्मा का किया जाता है तथा संसार से चित्त को हटाया जाता है और परमात्मा में समाहित किया जाता है। यही ध्यान की परिभाषा है। चित्त संसार से हटकर परमात्मा में समाहित हो जावें इसी का नाम **योग** है। जब तक चित्त संसार में रहता है तब तक ध्यानयोग की पूर्णता नहीं होती । चित्त का संसार में रहना तथा परमात्मा की ओर भी रहना व्याभिचारिणी योग कहलाता है। संसार से चित्त के हटने तथा परमात्मा में समाहित करने में क्रियाशीलता ही आधार है। इस कारण श्री भगवान कहते है कि अक्रिय योगी नहीं होता । शास्त्र सम्मत कर्मों का आचरण तथा फलेच्छा के त्याग में रहना ही योगी की विशिष्टता है।

छठे अध्याय के प्रथम श्लोक में संन्यासी तथा योगी को एक स्वरूप में स्थापित किया गया है। कोई भी मनुष्य फलेच्छा का त्याग करके शास्त्र सम्मत कर्मों का आचरण करता है तो वह संन्यासी भी है तथा योगी भी है। इस प्रकार शास्त्र सम्मत कर्म को, फलेच्छा के त्याग को बहुत महत्व दिया गया है। श्री भगवान ने उसे संन्यासी तथा योगी कह दिया है। वस्तुतः शास्त्र सम्मत कर्म तो सभी का आधार है, परन्तु फलेच्छा का त्याग बहुत ही महत्वपूर्ण है। फलेच्छा का त्याग जब तक नहीं होता है। तब तक मनुष्य

स्वार्थी रहता है तथा फलेच्छा त्याग करते ही वह परमार्थी हो जाता है और परमात्मा के फल के अधिकार को छोड.देता है। परमात्मा के फल के अधिकार का अभिप्राय बहुत ही विशिष्ट है। इस कारण श्री भगवान ने फलेच्छा के त्यागी को योगी तथा संन्यासी कहा है।

(च) योगी के विशिष्ट धर्म –

(1) समस्त प्रकार के संकल्पों का पूर्ण परित्याग ।

(2) चित्त को परमात्मा में समाहित करने का प्रयास ।

(3) परमात्मा के साथ स्वाभाविक रूप में रहने की क्रिया का निष्पादन ।

(4) संसार में चित्त को जाने की प्रक्रिया में विराम ।

(5)अपने सादृश्य ही समस्त जीवों को समझना ।

(6) परमात्मा से अतिशय प्रीति करना ।

(7) संसार की वस्तुओं तथा व्यक्तियों से स्नेह का समापन ।

(8) शुद्ध सत्त्वगुण में स्थित रहना ।

(9) रजोगुण की वृत्ति का पूर्ण त्याग ।

(10) परमात्मा का पूर्णाश्रय ग्रहण कर लेना ।

(11) कर्तापन के भाव से मुक्त होने का प्रयास ।

जिस प्रकार संन्यासी तथा योगी एक ही है वैसे ही संन्यास तथा योग एक ही है। श्रीभगवान इसी तथ्य को स्पष्ट करने हेतु अगला श्लोक कह रहे हैं। –

मूल श्लोक – दो

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।।

पदच्छेद–

यम्, संन्यासम्, इति, प्राहुः, योगम्, तम्, विद्धि, पाण्डव ।
न ,हि, असंन्यस्त संकल्पः, योगी, भवति, कश्चन ।।

भावार्थ : हे अर्जुन । जिसे संन्यास इस प्रकार कहा जाता है, उसे 'योग' जानें , क्योंकि संकल्पों का त्याग किये बिना कोई व्यक्ति योगी नहीं होता ।

व्याख्या : (1) संन्यास क्या है ?

संसार को त्यागने तथा परमात्मा को प्राप्त करने के धर्म का नाम संन्यास है।

इस प्रकार संन्यास में दो ही क्रियायें होती हैं । एक संसार को त्यागने की तथा दूसरे परमात्मा को पाने की । कोई भी मनुष्य संन्यास धर्म की दीक्षा लेता है तथा संन्यास आश्रम में प्रवेश करता है तो वह संसार को छोड.ने का संकल्प लेता है । संसार में रहकर संसार को छोड.ना संन्यास धर्म की विलक्षणता है। साधारण मनुष्य संसार में रहता है तथा संसार के व्यवहार में ही डूबा रहता है परन्तु संन्यास धर्म में दीक्षित मनुष्य संसार में रहकर संसार छोड.देता है। यह संन्यास धर्म की विलक्षणता है। यदि कोई मनुष्य संसार में रहकर संसार छोड. दे तो वह भी संन्यासी मानने योग्य है। इसके प्रतिकूल संन्यास धर्म की दीक्षा के उपरान्त भी संसार से व्यवहार करता है, तो वह संन्यास धर्म से पृथक् हो जाता है। इस प्रकार संन्यास धर्म में संसार का त्याग किया जाता है और श्रीभगवान की ओर उन्मुख हुआ जाता है। इस कारण हम यदि संसार के व्यवहार को छोड.कर परमात्मा की ओर उन्मुख हों तो हम भी संन्यास धर्म का आचरण करते हैं।

(2) संन्यास में संसार का त्याग क्या है?

सामान्य मनुष्य संसार में रहता है तथा संसार को प्राप्त करने का प्रयास करता है। जीवनपर्यंत संसार में रहकर धन, संपत्ति, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, पद आदि प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। मनुष्य चाहें किसी भी स्तर का हो वह अपने स्तर से संसार को प्राप्त करने का यत्न करता है। यह प्रयत्न निरंतर चलता रहता है। संसार में रहकर मनुष्य अनेक विधियों से संसारिक वस्तुओं तथा स्थितियों को प्राप्त करने का यत्न करता है। संसार में प्राप्त करने के लिए कितनी वस्तुएं हैं? और उनकी प्राप्ति की कितनी विधियां हैं? इसका वर्णन कठिन है, असंभव है। संसार की वस्तुओं को प्राप्त करने का एक ही उद्देश्य है जिसे संसारिक भोगों को भोगना कहा जाता है। अच्छा भोजन, अच्छा रहन–सहन, विलासता पूर्ण जीवन आदि ही धन के उपार्जन के उद्देश्य हैं। इस प्रकार एक सामान्य व्यक्ति संसारिक कर्मों में अपने को व्यस्त रखता है। संन्यास ग्रहण करने के उपरांत मनुष्य संसार के क्रियाकलापों, संसारिक वस्तुओं की प्राप्ति की चेष्टा, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करने का प्रयास समाप्त कर देता है। एक संन्यासी की दीक्षा किसी उद्देश्य को लेकर होती है कि हमें संसार को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करनी है। इस पर पूर्णविराम लग जाता है। यही संन्यास में संसार का त्याग है।

(3) संन्यास में संसार का त्याग आवश्यक है :–

साधारण मनुष्य संसार में रहकर सांसारिक क्रियाकलापों में रहता है जबकि संन्यासी सांसारिक क्रियाकलापों से अपने को पृथक् कर लेता है। यदि संन्यासी भी साधारण मनुष्यों की भॉति सांसारिक क्रियाकलापों में व्यस्त रहेगा तो वह अपने संन्यास धर्म को खोता जायेगा तथा एक दिन वह सांसारिक मनुष्यों के सदृश हो जायेगा । इस कारण जब मनुष्य संसार से विरत हो जाता है, तब वह संन्यास धर्म की दीक्षा लेता है । संसार के प्रति अनिच्छा का भाव आ जाये तथा परमात्मा की ओर उन्मुखता आ जावे तो संन्यास धर्म आरम्भ हो जाता है तथा संसार धर्म समाप्त होता जाता है। संन्यास धर्म की दीक्षा ले और संसार में सांसारिक मनुष्यों की तरह से रहे तो वह संन्यासी नहीं हो सकता, यदि दीक्षित भी हो चुका है तो वह सन्यास धर्म खो देता है। इस कारण संन्यासी का गुण समाप्त हो जाता है। वह संसार से पृथक् दीखे, पृथक् व्यवहार करे तथा संसार के प्रति मोह को त्यागे तो वह संन्यासी रहेगा । अपने संन्यासी गुण को स्थापित करने के लिये ही संन्यास में संसार का त्याग आवश्यक होता है।

(4) योग क्या है ?

संसार को छोड.कर धीरे–धीरे परमात्मा की ओर बढ.ने की क्रिया को **योग** कहा जाता हैं। जब साधक ध्यान में बैठता है तो वह अपने चित्त को संसार से हटाने का प्रयास करता है तथा लक्ष्य में स्थापित करने का प्रयास करता है। आकस्मिक स्थिति में जब ध्यान होता है तब चित्त क्षण–क्षण में लक्ष्य से हटकर संसार से भागता है। यह क्रिया पुनः पुनः होती है। साधक पुनः प्रयास करता है तथा संसार से, संसार की गतिविधि से चित्त हटाता है और परमात्मा समाहित करता है। ध्यान का अभ्यास कोई साधारण अभ्यास नहीं है क्योंकि उसमें हम अपने चित्त को अव्यक्त परमात्मा में संलग्न करने का प्रयास करते है। योगक्रिया की मुख्य प्रक्रिया ही संसार के बारे में हमारी स्मृति में जो संचित है वह शान्त कर परमात्मा के स्वरूप के चिन्तन में अपने को संलग्न करना है। ध्यानयोग के साधन में धीरे–धीरे आगे बढ.ने पर अच्छी स्थिति आती है । प्राप्त हो जाती है । पर्याप्त क्षणों तक संसार के चिन्तन में विराम लगता है तथा परमात्मा के स्वरूप का किसी न किसी रूप में चिन्तन होता रहता है । संसार को छोड.ना है तो उसकी स्मृति को विस्मृत करना चाहिए । इससे अपने को पृथक् करना है तथा लक्ष्य परमात्मा का ध्यान करना है,यही ध्यान की प्रक्रिया है। ध्यान की प्रक्रिया में

परिपक्वता आने पर साधक की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। इसी को योग कहते है।

(5) संन्यास तथा योग एक ही है

(यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव)–

संन्यास में संसार का त्याग करना पड.ता है तथा परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयास होता है तथा योग में भी संसार का त्याग करना पड.ता है तथा ध्यान के माध्यम से परमात्मा से सम्पर्क करने का प्रयास चलता है । इस प्रकार योग तथा ध्यान की क्रिया और लक्ष्य एक ही है। मनुष्य के लिए संन्यास तथा योग एक ही धर्म है इस प्रकार संन्यास तथा योग की क्रियायें और लक्ष्य में एकरूपता है। संसार जब तक रहेगा तब तक योग सिद्धि नहीं होगी तथा संन्यास धर्म का आचरण भी नहीं हो सकेगा । इस कारण संसार को समाप्त करने की क्रिया योग में तथा संन्यास दोनों में करनी पड.ती है। यह संन्यास तथा योग में एकरूपता है । योग और संन्यास का लक्ष्य परमात्मा की सान्निध्यता प्राप्त करना है। इस कारण संन्यास तथा योग में एकरूपता है और संन्यास तथा योग एक ही है ।

(6) संन्यासी योगी होता है तथा योगी संन्यासी होता है :–

संसार में अरूचि होना , संसार से विरक्ति हो जाना ही संन्यासी का प्रमुख लक्षण है। संसार से विरक्ति होने पर सांसारिक विषयों से अरूचि हो जाती है। जब तक सांसारिक विषयों में रूचि रहती है तब तक मनुष्य संन्यासी होने पर भी संन्यासी नही कहा जा सकता है। संसार के विषयों में अरूचि होने को वैराग्य भी कहा जाता है। जब मनुष्य में वैराग्य का प्रादुर्भाव हो जाता है तो वह परमात्मा की ओर स्वतः ही उन्मुख होता है । अर्थात् जब मनुष्य को वैराग्य होगा तो वह स्वतः ही परमात्मा की ओर बढ.ना चाहेगा । ऐसी स्थिति में उसे परमात्मा के बारे में जिज्ञासा हो जाती है तथा वह परमात्मा के स्वरूप, गुण तथा उसकी अनुभुति के विषयों पर विचार करने लगता है । यह संन्यासी की स्थिति भी है तथा योगी की स्थिति है । संन्यासी भी मुक्ति चाहता है तथा योगी भी मुक्ति के लिए ही प्रयत्नशील होता है । संन्यासी तथा योगी के परमात्मा की अनुभूति के मार्ग तो पृथक्–पृथक् हो सकते हैं परन्तु उनमें सामंजस्य होता है

सहधर्मिता रहती है । संन्यासी यदि परमात्मा की अनुभूति कर लेता है तो वह योगी हो जाता है तथा यदि योगी परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है तो वह संन्यासी हो जाता है। इसी कारण श्रीभगवान कहते है कि जिसे संन्यास कहा जाता है उसे योग जानो । यह संन्यास तथा योग को एक समझने का आधार है ।

(7) संकल्प किसे कहते है?– मन की वृत्ति को संकल्प कहा जाता है । वृत्ति का साधारण अर्थ कार्य होता है । इस प्रकार मन जो भी कार्य करता है वह सबका सब संकल्प कहा जाता है मन के कार्यो को श्रेणीबद्ध नहीं किया जा सकता है । मन परमात्मा द्धारा प्रदान विशिष्ट विचारण शक्ति है जिससे इन्द्रियों द्वारा अनुभूत अर्थात् अनुभव में आये विषयों तथा काल्पनिक विषयों पर भी विचार होता है । हमारी इन्द्रियॉ जो भी अनुभव कर सकती है अथवा मन जो भी कल्पना कर सकता है ,पढ.कर–सुनकर ,पढे. पढ.ाये विषयों तथा सुने–सुनाये विषयों के बारें में कल्पना करके उन विषयों के बारे में भी मन विचार कर सकता है। मन की विचार शक्ति अत्यन्त प्रबल है तथा गमन शक्ति बहुत तीव्र है वह क्षणमात्र में हजारों मीलों की यात्रा कर सकता है। मन सम्पर्क में आयी वस्तुओं के सम्बन्ध में, पूर्व घटनाओं के बारें में तथा अन्य अनेक विषयों के बारें में सहजता से विचार कर लेता है। मन के द्वारा विचरित समग्र विषयों को ही संकल्प कहा जाता है मन साधारणतया क्या विचार करता है? इसका अवलोकन कीजिए–

(क) पूर्वकालिक घटनाओं के बारें में विचार करता है ।

(ख) वर्तमान समस्याओं के बारें में सोचता है।

(ग) भविष्य की योजनाओं के बारे में चिन्तन करता है ।

(घ) सांसारिक भोगों के बारे में विचारण चलता है।

(ड.) तात्कालिक विषयों के संबंध में गहनता प्रखरता से विचार करता है ।

(च) अन्तःकरण के अनुरूप चिन्तन करता है ।

(छ) प्रकृति के अनुसार चिन्तन करता है ।

(ज) अधिकांश अनावश्यक विषयों पर विचार कर लेता है ।

(झ) आशंकाओं के बारें में विचारता है।

(ञ) सम्भावनाओं को तलाशता है।

(8) संकल्प का परित्याग क्या है ?–

पूर्वोक्त प्रकार से यह स्पष्ट हुआ है कि मन जो भी विचार करता है वह संकल्प कहा जाता है । साधारणतया मन जो भी विचार करता है वह सबका सब सांसारिक विषयों से संबंधित होता है । हम जगत में रहकर जगत के विषयों के बारें में विचार करते रहते है हमें क्या करना है ?किससे किस कारण से मिलना है ?कहॉ जाना है आदि–आदि विषयों के संकल्प साधारण रूप से होते हैं। इन संकल्पों से हम संसार के कार्य करते हैं तथा सांसारिक चेष्टायें करते हैं । इन समग्र चेष्टाओं से सांसारिक व्यस्तता बढ.ती जाती है । हम यह नहीं जान पाते है कि जीवन में वृद्धावस्था कब आ गयी ? जीवन समापन की ओर अग्रसर है और वह सांसारिक व्यस्तताओं में समाप्त हो जाता है हम जीवन के उद्देश्य को समझ नही पाते है कि हमारा जीवन क्यों हुआ ? यह तथ्य समझने का समय नहीं मिलता है । मनुष्य जीवन का कुछ उद्देश्य अवश्य है परन्तु वह संकल्पों के कारण विस्मृत रहता है । अन्त समय तक संकल्पों के कारण ही हम जीवन के उद्देश्य से अनभिज्ञ रहते हैं । यह अनभिज्ञता संकल्पों के कारण ही है। जब तक संकल्प रहते हैं तब तक हम संसार में व्यस्त रहते हैं । इस प्रकार संसार के संबंध से होने वाले विचारों को समाप्त कर देना ही संकल्पों का परित्याग है।

(9) संकल्पों का त्याग कैसे होता है ?

हम जो भी संकल्प करते हैं उनका एक ही उद्देश्य होता है कि हम सांसारिक वस्तुओं को किसी न किसी प्रकार प्राप्त कर लें। सांसारिक वस्तुओं को प्राप्त करने के उद्देश्य पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य इन्द्रिय अर्थो (भोगों) की पूर्ति हेतु समस्त सांसारिक वस्तुओं का संग्रह करता है । सांसारिक वस्तुयें असीमित हैं तथा सांसारिक भोग भी अनन्त है इस कारण न तो सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति का क्रम समाप्त होता है और न ही सांसारिक भोगों के क्रम का अन्त होता है । यह दोनों ही प्रक्रियायें निरन्तर गतिशील रहती है। प्रत्येक मनुष्य के साथ साधारणतया ऐसा ही होता है । हम सांसारिक वस्तुओं के संग्रह का निरन्तर प्रयास करते हैं तथा मन में नवीन प्रकार के भोगों का उदय होता रहता है । जीवनपर्यन्त यह क्रम चलने पर हमारा अन्त हो जाता है परन्तु सांसारिक वस्तुओं तथा भोगों का अन्त नहीं होता है यह आश्चर्य जनक तथ्य ही है कि हम संसार में इतना लिप्त हो चुके हैं कि अन्त समय तक भोगों के क्रम में संलग्न रहने को बाध्य है ।

मनुष्य को चाहें जितने भोग प्राप्त हो परन्तु वह सन्तुष्ट नहीं होता क्योंकि भोगों में सन्तुष्टता नहीं है। जिस प्रकार हम भोजन करते हैं तो तृप्ति हो जाती है ,परन्तु पुनः भूख लगती है। क्षुधा का आभास हमें पुनः होता है उसी प्रकार भोगों की स्थिति है। एक भोग में कुछ समय के लिए तृप्ति प्रतीत होती है परन्तु वह कुछ समय के पश्चात् लुप्त हो जाती है। यह सब संकल्पों का परिणाम है। संकल्प होते रहते हैं, उनकी पूर्ति का प्रयास चलता रहता है। इस कारण जब तक सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह समाप्त नहीं होता है तब तक उनकी आवश्यकता का आभास रहता है । ऐसी स्थिति रहने पर संकल्पों का त्याग नहीं हो सकता है।

संसार की वस्तुओं की आकांक्षा का त्याग तथा सांसारिक भोगों के प्रति प्रियता के त्याग से संकल्पों का अभाव होने लगता है। सांसारिक वस्तुओं का जब तक आश्रय रहता है तब तक उनकी प्राप्ति रूपी संकल्प भी रहता है । यह समाप्त नहीं होता है । इस कारण यदि हमें संकल्पों का परित्याग करना है तो संसार की वस्तुओं की आंकाक्षा का त्याग करना ही पडे.गा । जीवन को अनिवार्य वस्तुओं के आश्रय में रखना पडे.गा ।भोगों के प्रति अनिच्छा का उपार्जन करना पडे.गा क्योंकि भोग ही सांसारिक वस्तुओं के एकत्रीकरण की प्रेरणा देते हैं। संकल्पों का त्याग हमारी इच्छा पर आधारित है कि हम कितनी शीघ्रता से अपने को संसार के मोह तथा भोगों से मुक्त करते हैं । जितना शीघ्र हम अपने को संसार से मुक्त करेगें उतना ही शीघ्र संकल्पों का त्याग होगा ।

(10) संकल्पों के त्याग के बिना कोई योगी नहीं होता –

(न ह्यसन्न्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन)

श्रीभगवान ने योगी की विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत की कि जब तक संकल्पों का सम्पूर्णता से त्याग नहीं होता तब तक साधक योगी नहीं हो सकता। पहले श्लोक में यह कहा गया था कि फलेच्छा का त्याग करके शास्त्र सम्मत कर्म करने वाला मनुष्य योगी भी है तथा संन्यासी भी है । यहॉ पर योगी की दूसरी विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत की गई कि जो संकल्पों को त्याग देता है वह योगी है । यदि संकल्प रहते है तो योगी नहीं हो सकता । जब फलेच्छा का त्याग हो जाता है तब संकल्पों का भी अभाव हो जाता है । फल की इच्छा से कर्म करना ही संकल्प है। फलेच्छा का भाव समाप्त होते

ही संकल्प भी स्वतः समाप्त हो जाते हैं । मनुष्य के मन में साधारणतया किस प्रकार के संकल्प रहते है? उसका अवलोकन कीजिये –

(क) धन प्राप्ति का संकल्प :–

मनुष्य के मन में धन प्राप्ति का संकल्प रहता है तथा वह मन से इस तथ्य का विचारण करता है कि हम धन की प्राप्ति करें । जब संकल्प होता है तब धन प्राप्ति के उपायों के विषयों में चिन्तन होता है । यदि संकल्प न होता तो धन प्राप्ति का प्रयास भी न होता । धन प्राप्ति के संकल्प के पश्चात् ही मनुष्य उन उपायों पर गहनता से विचार करता है जिससे धन की प्राप्ति तथा संग्रह हो सकता है । धन प्राप्ति के संकल्प का कारण है। उससे सुख की सम्भावना रहती है कि धन की प्राप्ति से सुख मिलेगा, यह विचार जब प्रबल हो जाता है तो उसकी प्राप्ति का विचार संकल्प तथा संकल्प के उपरान्त धन प्राप्ति के साधनों पर चिन्तन चलने लगता है जब तक धन प्राप्ति का संकल्प रहता है तब तक मनुष्य योगी नहीं होता । वह योग की परिभाषा से आबद्ध नहीं होता है।

(ख) सम्पत्ति की प्राप्ति का संकल्प :–

धन की तरह से सम्पत्ति प्राप्ति का संकल्प रहता है । मनुष्य संसार में दूसरों की सम्पत्ति को देखकर स्वयं भी उसी प्रकार की ,वैसी ही सम्पत्ति एकत्र करना चाहता है । यह भाव दूसरों की सम्पत्ति को देखकर बहुधा उत्पन्न हो जाता है । अमुक व्यक्ति इतनी सम्पत्ति का स्वामी है ,ऐसा भाव आता है । इस भाव की प्रबलता से मनुष्य स्वयं भी वैसी ही सम्पत्ति एकत्र करना चाहता है । सम्पत्ति एकत्र करने के पीछे कई भाव रहते हैं । सम्पत्ति से सुख का भाव भी आता है । समाज में मनुष्य अपने को उत्कृष्ट प्रदर्शित करने के कारण भी सम्पत्ति एकत्र करना चाहता है । जब सम्पत्ति एकत्र करने का भाव आता है तो मनुष्य उसे एकत्र करने का प्रयास भी करता है। एकत्र करने के पूर्व सम्पत्ति एकत्र करने का संकल्प रहता है । जब तक सम्पत्ति एकत्र करने का संकल्प रहता है तब तक मनुष्य योगी नहीं हो सकता है । इस कारण योगी होने के लिए सम्पत्ति के एकत्रीकरण के भाव (संकल्प)का भी त्याग करना पड.गा ।

(ग) पद प्राप्ति का संकल्प – मनुष्य में पद प्राप्ति की इच्छा साधारणतया रहती है । प्रत्येक मनुष्य उच्च पद की आकांक्षा रखता है । वर्तमान में पदों की प्राप्ति हेतु बड.ी

होड. रहती है । मनुष्य की महात्वाकांक्षा ही पद प्राप्ति के संकल्प में आधार है। जब मनुष्य की यह इच्छा होती है कि वह समाज में अपना विशिष्ट पद प्राप्त कर ले तो वह पद प्राप्ति का प्रयास करता है । राजनीतिक ,सामाजिक प्रशासनिक आदि पदों के पृथक् पृथक् प्रकार हैं इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक पदों की भी बहुलता है । मनुष्य जिस किसी क्षेत्र से संबंधित होता है वह उसी क्षेत्र में पद का आकांक्षी रहता है । यह मनुष्य की साधारण प्रवृत्ति है पद चाहें राजनीतिज्ञ हो या सामाजिक हो , प्रशासनिक अथवा आध्यात्मिक हो सबकी प्राप्ति हेतु मनुष्य प्रयत्नशील रहता है । येन केन प्रकारेण पद प्राप्त करना चाहता है । यह पद की लालच की प्रबलता है कि बडे. सघर्ष के पश्चात् भी मनुष्य उसकी प्राप्ति की इच्छा करता है । इस प्रकार जब तक मनुष्य में पद प्राप्ति का संकल्प रहता है तब तक वह योगी नहीं हो सकता है । योगी हेतु पद की प्राप्ति के संकल्प का त्याग करना पडे.गा ।

(घ) प्रतिष्ठा प्राप्ति का संकल्प –

प्रत्येक व्यक्ति प्रतिष्ठित होना चाहता है । प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है तो प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ही उसे प्रतिष्ठा प्राप्ति का संकल्प करना पड.ता है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य जिस क्षेत्र में जुड.ा होता है, उस क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है । एक शिक्षक उत्कृष्ट शिक्षक बनना चाहता है । राजनीतिक व्यक्ति राजनीतिक प्रतिष्ठा चाहता है सामाजिक व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा चाहता है । समाज सेवा से जुडे. लोग प्रतिष्ठा प्राप्ति हेतु अनेक प्रकार के उपाय करते देखे जाते हैं । आध्यात्मिक क्षेत्र के लोग भी प्रतिष्ठा प्राप्ति हेतु प्रयास रत रहते हैं कि सभी लोग उन्हें आध्यत्मिक ज्ञान का आचार्य समझे । जिधर भी दृष्टि जाती है उधर मनुष्य प्रतिष्ठा प्राप्त करने को उद्धत हैं। जिन्हे प्रतिष्ठा प्राप्त है वे अधिकाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते है कला के क्षेत्र में जो लोग है वे आकाश की उॅचाई में जाना चाहते हैं । यह सब प्रतिष्ठा प्राप्ति का संकल्प है जिसके आधार पर प्रतिष्ठा की प्राप्ति का प्रयास रहता है। मनुष्य में जब तक प्रतिष्ठा प्राप्ति का संकल्प रहता है तब तक वह योगी नहीं हो सकता । योगी के लिए प्रतिष्ठा प्राप्ति का संकल्प का त्याग करना पड.ता है ।

(च) ऐश्वर्य प्राप्ति का संकल्प – धन, सम्पत्ति ,पद, प्रतिष्ठा जब प्रारब्धवश हमें प्राप्त हो जाती है तो इसकी प्रचुरता ऐश्वर्य प्रदान करती है । धन प्राप्ति में धन का ऐश्वर्य रहता है। सम्पत्तियों के स्वामी में सम्पत्तियों का ऐश्वर्य रहता है समाज के लोग उसके

बारे में बातें करते हैं अमुक के पास अमुक सम्पत्तियॉ है तो यह ऐश्वर्य ही है । पद का ऐश्वर्य भी प्रबल होता है उच्च पदस्थ लोगों को पद का ऐश्वर्य स्वतः ही प्राप्त हो जाता है । उसी प्रकार प्रतिष्ठित लोगों का का पृथक् ऐश्वर्य होता है। उनकी प्रतिष्ठा में स्वतः ही ऐश्वर्य दीखता है। जब मनुष्य अपनी स्थिति से अधिक ऐश्वर्य चाहता है तो वह नाना प्रकार के कार्य करता है तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति हेतु संकल्प करता है कि हम अमुक अमुक कार्य करेगें तथा उससे ऐश्वर्य की उपलब्धि होगी। जब तक मनुष्य में ऐश्वर्य प्राप्ति का संकल्प रहता है तब तक वह योगी नहीं हो सकता है। इस कारण योगी होने के लिये ऐश्वर्य प्राप्ति के संकल्प का त्याग करना पड.ता है ।

(छ) सांसारिक भोगों की प्राप्ति का संकल्प :–

संसार में मनुष्य जितने भी संकल्प करता है उनका एक ही उद्देश्य होता है।

सांसारिक भोगों की प्राप्ति,संकल्पों से संसार की वस्तुऐं तथा स्थितियॉ प्राप्त की जाती हैं तथा उससे अर्थात् वस्तुओं तथा स्थितियों से भोगों की प्राप्ति की भावना रहती है । हमारे मन में कोई संकल्प आता है तो उसके परिणाम में विलासितापूर्ण जीवन ही उद्देश्य है। यह सांसारिक भोगों की भावना बहुत प्रबल रहती है। शीघ्र समाप्त नही होती है। संकल्प अंततः भोगों के रूप में परिवर्तित हो जाता है जब तक सांसारिक भोगों का संकल्प रहता है तब तक विलासितापूर्ण जीवन की आकांक्षा रहती है और यह आकांक्षा ही हमें योगी नहीं होने देती। इस कारण सांसारिक भोगों के संकल्प का भी संकल्प हमें त्याग करना पड.ता है ।

उपरोक्त के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के सांसारिक संकल्प होते रहते हैं। सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति का संकल्प रहता है । अपने हित की आकांक्षा के संकल्प दूसरों के अहित की इच्छा के संकल्प इन समस्त प्रकार के संकल्पों का त्यागी ही योगी है। जब तक संकल्पों का त्याग नहीं होता तब तक योगी की पदवी प्राप्त नहीं होती ,यह तथ्य स्पष्ट समझना चाहिए । एक साधक अथवा अध्यात्मिक व्यक्ति किसी प्रकार के व्यवसाय का संकल्प करता है तो वह श्रीभगवान की दृष्टि में गीता ज्ञान की परिभाषा में योगी नहीं है । फलेच्छा के त्याग से समाज सेवा तथा नैतिक उत्थान के कर्म किये जावे तथा उनका संकल्प लिया जावे तो यह सांसारिक संकल्प से पृथक् स्थिति है । इस प्रकार के कर्मों को संकल्प नहीं माना जाता । योग पर आरूढ. होने की इच्छा तथा

योग पर आरूढ. हो जाना दो पृथक् पृथक् स्थितियॉ हैं। उक्त दोनों ही स्थितियों का निरूपण श्रीभगवान अग्रिम श्लोक में कर रहे हैं।

मूल श्लोक–तीन

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।

पदच्छेद–:

आरुरुक्षोः, मुनेः, योगम्, कर्म, कारणम्, उच्यते।
योग, आरूढस्य, तस्य्, एव, शमः, कारणम्, उच्यते।।

भावार्थ : योग में आरूढ होने के आकांक्षी मुनि हेतु कर्म कारण कहा जाता है, उस ही मुनि के योगारूढ हेतु शम कारण कहा जाता है।

व्याख्या–: 1– मुनि किसे कहते हैं– उपरोक्त श्लोक में श्री भगवान ने मुनि शब्द का प्रयोग किया है और उसकी दो स्थितियों का वर्णन किया है। **(1)–** मुनि जो योग पर आरूढ होने की इच्छा रखता हो तथा **(2)–** जो योग पर आरूढ हो चुकने की स्थिति में हो। पहले के लिए कर्म कारण कहा जाता है तथा दूसरे के लिए शम कारण कहा जाता है। मुनि शब्द दोनों हेतु प्रयुक्त हुआ है। इस कारण मुनि शब्द महत्वपूर्ण है। मुनि कौन है? तथा उसमें क्या गुण होने चाहिए? इसे पहले समझना आवश्यक है। इस कारण मुनि की व्याख्या प्रस्तुत है–

क– जो जीवन के विषय में मनन करता है–

यह मानव जीवन हमें क्यों प्राप्त हुआ है? इस बारे में मनन करने वाला मनुष्य मुनि कहलाता है। मनुष्य उत्पन्न होता है, कैसे उत्पन्न हो जाता है? उत्पत्ति के पूर्व वह कहां था? उत्पन्न होने के पश्चात् बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था स्वतः ही आती जाती है। यह क्यों तथा कैसे आती जाती है। इस बारे में मुनि मनन किया करता है। शरीर में बाल्यावस्था से लेकर आगे तक अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। यह सब परिवर्तन कैसे होते हैं? इस पर विचार करना कि यह परिवर्तन कैसे हुए? जीवन की प्रत्येक गतिविधि के बारे में मुनि विचार करता है, क्योंकि जीवन की प्रत्येक गतिविधि व

प्रत्येक कार्य में कुछ न कुछ कारण अवश्य है। इसलिए जो मनुष्य जीवन के विषय में मनन करता है उसे मुनि कहते हैं।

ख– संसार के बारे में मनन करता है–

संसार में भी अनेक प्रकार की गतिविधियां हो रही हैं। जैसे सूर्य का निकलना, चन्द्रमा का समयानुकूल उदय होना, बरसात का होना, मौसम का परिवर्तन होते रहना, जीवों की उत्पत्ति होना तथा उनकी मृत्यु अर्थात् विनाश होना। मृत्यु के पश्चात् उनका इस संसार से विलुप्त होना। मृत्यु के उपरांत जीव की स्थिति के बारे में जानकारी न होना। जीव का माता के गर्भ में आ जाना आदि–आदि ऐसे असंख्य कार्य हैं जो स्वतः होते रहते हैं। यह कार्य कौन करता है? इन पर किसका नियंत्रण है? किसकी अध्यक्षता में यह सब होता है? आदि–आदि विषयों पर जो विचार करता है उसे मुनि कहते हैं। मुनि का प्रमुख कार्य ही संसार की गतिविधियों चेष्टाओं तथा परिवर्तन के बारे में विचार करना है।

ग– जीवन के उद्देश्य के बारे में मनन करता है–

मनुष्य जीवन प्राप्त हुआ है, उसका क्या उद्देश्य है? यह जीवन ऐसे ही प्राप्त नहीं हुआ है। मनुष्य जीवन का कुछ उद्देश्य अवश्य है। साधारण रूप से मनुष्य उत्पन्न होता है। शिशु अवस्था के पश्चात् बाल्यावस्था में वह अध्ययन करता है तथा युवा अवस्था में अनेक प्रकार के क्रियाकलापों में वह व्यस्त रहता है। वृद्धावस्था में धीरे–धीरे उसके क्रियाकलाप शांत होते जाते हैं और अंततः वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। क्या यही जीवन का उद्देश्य है? इस प्रकार जीवन की वास्तविकता के विषय में और जीवन के उद्देश्यों के विषय में विचार करना मुनि का कार्य है। वह जीवन के उद्देश्य के बारे में गंभीरता से विचार करता है और उद्देश्य का विनिश्चय करके उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

घ– जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने के बारे में मनन करता है–

जीवन का उद्देश्य मुक्ति है, इस कारण इस बारे में विचार करना मुनि का विशिष्ट कार्य है। मुक्ति किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? उसका क्या उपाय है? क्या प्रक्रिया और विधि है? इस बारे में मुनि विचार करता है। मुक्ति की प्राप्ति के अनेक प्रकारों का

वर्णन हुआ है तथा मनीषी लोग भी इसकी व्याख्या करते हैं। मुनि इस बारे में विचार करता है कि कौन सा साधन सही है? जिस पर चलकर हम शीघ्र ही जीवन के उद्देश्य मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। जहां पर किसी तत्त्व की प्राप्ति के अनेक प्रकार तथा उपाय हो जाते हैं वहां पर संशय की उत्पत्ति अनायास हो जाती है। इस संशय के निवारण हेतु मुनि मनन करता है और सम्यक् प्रक्रिया को जान लेता है तथा सम्यक् प्रक्रिया का अनुकरण करके वह जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करता है।

2– योग पर आरूढ होने की इच्छा क्या है? (आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्)

मननशील पुरूष अपने जीवन के उद्देश्य का विनिश्चय कर लेने के पश्चात् मुक्ति की इच्छा करता है और मुक्ति की कामना ही उसे योग पर आरूढ होने के लिए बाध्य करती है। योग पर आरूढ होने की इच्छा इसी कारण होती है। मननशील पुरूष योग पर आरूढ होना चाहता है अन्य नहीं। योग पर आरूढ होने का अर्थ है उन साधनों पर चलना जिनसे मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। जैसे किसी स्थान पर पहुंचने के लिए हम किसी वाहन पर आरूढ होते हैं और वाहन रूपी साधन हमें हमारे गंतव्य अर्थात् लक्ष्य तक पहुंचाता है। हम यदि वाहन पर आरूढ होने चढने की इच्छा ही न करें तो हम गंतव्य तक नहीं पहुंच सकते। प्रयास हमें ही करना पड़ता है लक्ष्य तक पहुंचने का। वाहन साधन हो जाता है। इसी प्रकार योग पर आरूढ होने की इच्छा हमें करनी पड़ती है तथा वह साधन वह विधि खोजनी पड़ती है जिससे हमें मुक्ति प्राप्त हो सकती है। साधन को खोजने का कार्य भी हमारा ही होता है। सही साधन न मिलने पर गंतव्य तक नहीं पहुंचा जा सकता है। साधन खोजने का कार्य हमारा ही होता है। इच्छा न रहने पर लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस कारण इच्छा महत्वपूर्ण तथ्य है।

योग पर आरूढ होने की इच्छा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे जीवन के परम उद्देश्य की प्राप्ति का विनिश्चय होता है। संसार में जिस प्रकार किसी वस्तु की प्राप्ति हेतु हमें उसकी इच्छा करनी पड़ती है, अर्थात् इच्छा का प्रार्दुभाव पहले होता है। वस्तु की इच्छा होने पर वस्तु की प्राप्ति का यत्न होना है। मात्र इच्छा से की वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है। इस कारण कमजोर इच्छा वाले लोग अपने कार्य में सफल नहीं हो पाते क्योंकि वे इच्छा तो करते हैं परंतु प्रबल इच्छा नहीं करते है। इस कारण पूरे प्रयास से साधन की खोज भी नहीं करते हैं और न ही साधन मिलने पर प्रयास ही करते हैं। इस कारण पहले उद्देश्य की इच्छा महत्वपूर्ण है। इच्छा के पश्चात् उसकी

प्रबलता महत्वपूर्ण है। प्रबलता के पश्चात् सही साधन महत्वपूर्ण है। सही साधन के पश्चात् प्रबल प्रयास महत्वपूर्ण है। और प्रयास के पश्चात् उसको पूरी सख्ती से क्रियान्वित किया जाना महत्वपूर्ण है। इस प्रकार योग पर आरूढ होने की इच्छा महत्वपूर्ण है जिसमें योग रूपी साधन पर चला जाता है।

3– योग आरूढ की इच्छा में कर्म ही कारण है –(कर्म कारणमुच्यते)

यहां पर कर्म शब्द बहुत व्यापक अर्थ वाला है। कर्म का अर्थ है वे साधन जिनसे योग पर आरूढ हुआ जा सकता है। श्रीभगवान ने विगत दो श्लोकों में दो तथ्यों को स्पष्ट किया है। एक–शास्त्र संगत कर्मो के आचरण तथा फलेच्छा के त्याग करने से योग की प्राप्ति हो जाती है। दो–संकल्पों का त्याग करने से भी योग की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार योग पर आरूढ होने की इच्छा वाले मुनि हेतु योग आरूढ के कारण तीन कर्म प्रतीत होते हैं। एक– शास्त्र संगत रूपी कर्मों का आचरण, दो–फलेच्छा का त्याग रूपी कर्म, 3– संकल्पों के त्यागरूपी कर्म। यह तीन कारण हैं जो योग आरूढ होने की इच्छा में आधारभूत तथ्य हैं। इन तीनों तथ्यों पर हम विस्तार से विचार करेंगे।

क– शास्त्र संगत आचरण रूपी कर्म–

योग पर आरूढ होने की इच्छा वाले मुनि की इच्छा शास्त्र संगत कर्मों का आचरण करना ही योग आरूढ की इच्छा का कारण है। जब मुनि शास्त्र संगत कर्म करता है तो वह शास्त्र के प्रतिकूल कर्मों का परित्याग कर देता है। प्रत्येक कर्म पर विचार करके अपने कर्तव्य का निर्वहन करते हुए स्वयं के अधिकार क्षेत्र की सीमा में रहकर कर्माचरण करता है। शास्त्र संगत आचरण में साधक शास्त्रीय ज्ञान को आधार मानकर ज्ञान करता है। इसी कर्म के संपादन के पूर्व शास्त्र की क्या व्यवस्था है? इस पर मुनि अवश्य विचार करता है। शास्त्र की विचारणा ही शास्त्र संगत कर्म का आधार है। शास्त्र की व्यवस्था तथा आज्ञा बहुत विस्तृत है। शास्त्र प्रत्येक कर्म के प्रकार को स्पष्ट रूप से परिभाषित करता है। मननशील मनुष्य इसी कारण निरंतर शास्त्र का अध्ययन किया करते हैं और शास्त्रीय व्यवस्था में रहते हैं। जिस प्रकार एक विधि शास्त्री (कानूनी प्रक्रियाओं का ज्ञाता) विधि व्यवस्था का निरंतर अध्ययन करता है। पुराने मूलभूत नियमों को जानता है। अनेक प्रकार के संविधान तथा उसकी सहायक पुस्तकों का अध्ययन करता है। यह अध्ययन की प्रक्रिया जीवन पर्यंत चलती रहती है। इसी कारण

उसे विधि वेत्ता कहा जाता है। एक विधि वेत्ता किसी भी जटिल विषय में प्रक्रिया तथा नियमों के बारे में जानकारी रखता है और उसकी व्याख्या करता है।

वैसे ही शास्त्र संगत नियमों के आचरण हेतु मननशील पुरूष निरंतर शास्त्रों का अध्ययन करता है तथा वह अनेक जटिल कर्मों के संबंध में अपना स्पष्ट मत प्रस्तुत करता है। इसके लिए उसे विधि शास्त्री की तरह से अनेक प्रकार के शास्त्रों का निरंतर अध्ययन व सेवन करना पड़ता है। इस प्रकार शास्त्र संगत कर्मों के आचरण से योग आरूढ होने की इच्छा होती है। उसके प्रतिकूल यदि मनुष्य शास्त्र संगत कर्म नहीं करता है तो वह योग आरूढ होने ही इच्छा नहीं करता है। इस कारण योग आरूढ होने की इच्छा में शास्त्र संगत आचरण रूपी कर्म भी एक कारण है।

ख– फलेच्छा का त्याग रूपी कर्म –

फल इच्छा के त्याग रूपी कर्म से भी योग आरूढ होने की इच्छा होती है। कर्म करके फल की इच्छा से बंधन हो जाता है तथा हम परमात्मा के अधिकार के उपभोग का प्रयास करते हैं। फल की आकांक्षा से जो कर्म किए जाते हैं वे संसार की वस्तुओं की प्राप्ति के निमित्त ही होते हैं। हम सभी जो भी कर्म करते हैं उनमें फल का विचारण तथा मूल्यांकन पहले ही कर लेते हैं। चूंकि कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक शास्त्र सम्मत कर्म तथा दूसरे शास्त्र प्रतिकूल कर्म। दोनों प्रकार के कर्मों का फल कर्ता को अवश्य प्राप्त होता है। हम इच्छा करें अथवा न करें फल की प्राप्ति से हम वंचित नहीं रह सकते। जैसे विद्यार्थी अध्ययन करते हैं जो जितना अच्छा अध्ययन करता है उसे परीक्षा में उतनी ही अधिक अंक प्राप्त होते हैं। यह अंक प्राप्त होना परीक्षा में श्रेणी प्राप्त होना अध्ययन रूपी कर्म का परिणाम है। उसके लिए हम इच्छा करें अथवा न करें वह तो हमें अवश्य ही प्राप्त होना है। इसमें फल की इच्छा करने का कोई अर्थ नहीं है और उससे कोई लाभ भी नहीं है।

बिना फल की इच्छा के ही हमें उचित परिणाम स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जितने भी कर्म हैं और जिनका हम संपादन करते हैं उनमें हमें फल अवश्य प्राप्त होता है। इसमें फल इच्छा का कोई काम नहीं है। श्री भगवान कहते हैं कि फल इच्छा का त्याग करके शास्त्र सम्मत कर्म करने से हमें योग आरूढ होने की इच्छा जागृत हो जाती है, क्योंकि फल इच्छा त्याग रूपी कर्म ही योग आरूढ होने की इच्छा में कारण है। कहने में, देखने में तो फल इच्छा का त्याग करना तो सहज प्रतीत होता है परंतु

इतनी सहजता से फल इच्छा का त्याग नहीं होता है। अंतःकरण अर्थात् मन व बुद्धि से फल इच्छा का भाव हटता नहीं है। फल इच्छा के त्याग की स्थिति ऊंची स्थिति है। कर्म करके फल की इच्छा न करें यह कोई सहज, सामान्य और साधारण बात नहीं है। इसी कारण भगवान ने फल इच्छा के त्याग रूपी कर्म से योग आरूढ की इच्छा होना कहा है। ये स्थिति जब आ जाती है तो मनुष्य योग आरूढ होने की इच्छा करता है।

ग– संकल्पों के त्याग रूपी कर्म –

योगारूढ होने की इच्छा में संकल्पों का त्याग रूपी कर्म भी एक कारण है। जब तक मनुष्य संकल्पों को करता है तब तक वह संसार में होने वाली विभिन्न कर्मों का संपादन करता रहता है। संकल्पों के कारण ही मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी स्थिति तथा प्रकृति के अनुसार संकल्प करता रहता है। जैसा संकल्प रहता है वैसा ही कर्म का आचरण रहता है। जब तक संकल्प रहते हैं, किए जाते है ंतब तक संसारिक कर्म और चेष्टाऐं भी समाप्त नहीं होती हैं। संकल्पों तथा संसारिक कर्मों का साथ है। सत्कर्मी मनुष्य सत्कर्म का संकल्प करके पूजा–उपासना सहायता रूपी कर्म करता है और दुष्कर्मी मनुष्य दुष्कर्मों का संकल्प करके लूटपाट, हिंसादि कर्म करता है। धन एकत्र करने का संकल्प करके धन के एकत्रीकरण का प्रयास चलता है। इसी प्रकार संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के संकल्प से उन्हीं की प्राप्ति हेतु कर्म होते हैं। यह सब अनायास ही चलते रहते हैं। जब समस्त प्रकार के संकल्प समाप्त हो जाते हैं तो योग पर आरूढ होने की इच्छा होती है। जब तक संकल्प रहते हैं तब तक संकल्पों के अनुरूप ही कर्म होते हैं। जब संकल्प समाप्त होते हैं तो परमात्मा की ओर स्वाभाविक रूप से स्वतः ही उन्मुखता हो जाती है। इसी कारण श्री भगवान कहते हैं कि समस्त प्रकार के संकल्पों के त्याग रूपी कर्म से योग आरूढ होने की इच्छा होती है। इस कारण योग आरूढ की इच्छा में कर्म ही कारण कहा जाता है।

विशेष कर योग मार्ग पर चलने की इच्छा को योगारूढ होने की इच्छा कहा जाता है। योगारूढ होने की इच्छा का संबंध, अर्थ और निर्देश परमात्मा की ओर उन्मुखता से है। परमात्मा की ओर मनुष्य तभी उन्मुख होता है जब वह संसार से विमुख होने की इच्छा करता है। तब तक संसार में रहने तथा संसार को प्राप्त होने के संकल्प होते रहते है ंतब तक योगारूढ होने की इच्छा जागृत नहीं होती है। संसार मनुष्य को योग

अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति से विमुख रखता है। जिस प्रकार ज्वर के रहने से भोजन की इच्छा नहीं हो सकती है। ज्वर के समाप्त होने पर ही भोजन की इच्छा जागृत हो जाती है। इस प्रकार ज्वर के समापन रूपी कर्म से भोजन की इच्छा का जागृत होना कहा जाता है। इसी प्रकार योग पर आरूढ होने की इच्छा में संसार के कर्मों से निवृत होने तथा परमात्मा की ओर बढ़ने रूपी कर्म ही कारण कहा जाता है। इच्छा किसी कारण से जागृत होती है बिना कारण के इच्छा जागृत नहीं होती है। इसलिए योग आरूढ होने की इच्छा में भी कारण अवश्य रहता है यह कारण उपरोक्त प्रकार के कर्मों के रूप में शास्त्र संगत आचरण रूपी कर्म, फल इच्छा के त्याग रूपी कर्म तथा संकल्पों के त्याग रूपी कर्म ही योग आरूढ होने की इच्छा में कारण कहे जाते हैं।

3– शम किसे कहते हैं?

मन स्वभावतः अशांत होता है मन का लक्षण चंचलता है। मन को शांत करने को शम कहा जाता है। जैसे वायु एक स्थान पर ठहरती नहीं, निरंतर गतिशील रहती है वैसे ही मन भी एक स्थान पर नहीं ठहरता और निरंतर गतिशील रहता है। मन की गति को उसकी चंचलता को शांत कर देना ही शम कहा जाता है। साधारणतयः यह गति शांत नहीं होती है और मन निरंतर चला करता है। मन की गति आप अवलोकन करें तो पाएंगे कि वह एक साथ ही अनेक विषयों के बारे में विचार करता रहता है। यद्यपि वह एक समय में ही अर्थात् एक पल में एक ही विषय के बारे में विचार कर सकता है। परंतु विचारण की तेज गति के कारण वह अनेक विषयों का एक साथ विचारण करता हुआ प्रतीत होता है। जैसे पंखा चलता है तो उसके पंख प्रतीत नहीं होते हैं। उसके स्थान पर एक घेरा सा प्रतीत होता है। यद्यपि पंखें में पंख होते हैं परंतु तेज गति के कारण वे पृथक्–पृथक् नहीं दिखते हैं। वैसे ही मन की गति इतनी तीव्र है कि वह अनेक विषयों के बारे में एक साथ ही विचार करता हुआ प्रतीत होता है परंतु प्रत्येक विषय पृथक्–पृथक् विचारित किया जाता है। मन के समस्त विचार जब शांत हो जाते है ंतो यह स्थिति शम कही जाती है।

मन की शांति के दो उपायों का वर्णन शास्त्रों में आता है। एक तो मन अभ्यास से शांत होता है और दूसरे वैराग्य से शांत हो जाता है। अभ्यास और वैराग्य का अर्थ बहुत ही व्यापक है। इस प्रकार शम के दो कारण एक अभ्यास व दूसरा वैराग्य है। अभ्यास कर्म प्रधान है व वैराग्य भाव प्रधान है। अर्थात् अभ्यास रूपी साधन में हमें प्रयास

करना पड़ता है। अर्थात् वैराग्य रूपी साधन में हमें भावना करनी पड़ती है। प्रयास की निरंतरता से मन शांत हो जाता है और भावना के निरंतर चिंतन से ही मन शांत हो जाता है। शम की स्थिति आ जाती है। चूंकि योगारूढ के लिए शम ही कारण है इस कारण शम के उपायों अर्थात् अभ्यास और वैराग्य पर चर्चा आवश्यक है। इन दोनों तथ्यों पर चर्चा का अवलोकन कीजिए।

क– अभ्यास से शम की उपलब्धि –

मन को शांत करने का एक उपाय अभ्यास है। अभ्यास का अर्थ है जिन जिन कारणों से जिस जिस विषयों से मन अशांत होता है, रहता है, उन–उन कारणों को, उन–उन विषयों को समाप्त करना। प्रत्येक मनुष्य के मन के विचारण के विषय पृथक्–पृथक् होते हैं तथा पृथक्–पृथक् कारणों से मन अनेक विषयों में लिप्त हो जाता है। मन एक ही विषय पर सामान्यतः निरंतर विचार नहीं करता है। विशेष परिस्थिति में ही मन एक विषय पर विचार करता है। जैसे कोई घटना हो जाए, हम किसी असाध्य रोग से ग्रसित हो जाएं हमारे किसी संबंधी और संपर्कित व्यक्ति को कुछ दुख हो जावे अथवा उसे बहुत प्रसन्नता प्राप्त हो जावे, या कोई आपदा प्रस्तुत हो तो मन उसी विषय के बारे में विशेष रूप से विचार करता है।

साधारणतयः मन सामान्य स्थितियों में अनेक विषयों पर विचार करता रहता है। मन के विचारण विषयों की एक श्रृंखला रहती है। किसी निश्चित विषयों पर मन सामान्यतः विचार ही नहीं करता। जैसे वायु जब बहती है तो बहा करती है वैसे ही मन जब विचार करता है तो वह विचार किया ही करता है। रूकता नहीं है। एक विचार मन में आता है उस पर विचारण चलता है। इसी क्रम में दूसरा विचार आ जाता है तथा साथ ही तीसरा और चौथा विचार आ जाता है। यह विचारों की अनंत श्रृंखला सोने तक अर्थात् सुषुप्तिकाल तक चला करती है। रूकती नहीं है यह मन की विशेष शक्ति है कि वह अनेक विषयों पर निरंतर विचार करता है। मन के विचारण विषय पर इन्द्रियों का भी विशेष अधिकार रहता है अर्थात् जो विषय इन्द्रियों के संपर्क में आते रहते हैं वे अधिकांशतः मन के द्वारा विचारित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त भी मन अकेले ही अनुभूत तथा काल्पनिक विषयों पर विचार कर लेता है। अभ्यास से शम की उपलब्धि हो सकती है। कुछ तथ्यों का अवलोकन कीजिए।

1– संसार की गतिविधि को, दूसरे के क्रियाकलापों को उदासीनवत् भाव से देखें और उनमें उपेक्षा की दृष्टि रखें। उदासीनवत् भाव से देखने तथा उपेक्षा से ग्रहण न करने के कारण मन संसार की क्रियाकलापों तथा दूसरी गतिविधियों को ग्रहण नहीं कर पाते हैं। जब हम दूसरों की गतिविधियों को तथा संसारिक क्रियाकलापों को ग्रहण करते हैं तो हमारा मन तत्काल उन्हीं विषयों पर विचार करने लगता है। इस कारण शम के लिए उपेक्षापूर्ण दृष्टि तथा उदासीनवत् व्यवहार आवश्यक है।

2– संसार के विषयों को सुनें, देखें तो भी ग्रहण न करें। मधुर संगीत सुनकर ग्रहण न करने से मन की विचार प्रक्रिया रूकी रहती है। मधुर संगीत की तरह से जो भी विषय कानों को प्रिय लगते हैं उनको ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस क्रिया से मन शांत रहता है। जब मन सुने गए प्रिय विषयों को ग्रहण नहीं करता है तो मन उन पर विचार नहीं करता है।

3– मन जिस किसी विषय का विचारण करता है यदि वह संसारिक विषय हो तो उसे निरर्थक समझना चाहिए। मन किसी विषय को सार्थक समझकर उस पर विचार करने लगता है। जब आप प्रत्येक विषय को निरर्थक करेंगे तो वह उस विषय पर विचार नहीं करेगा। किसी विषय को महत्वपूर्ण समझकर ही मन उसको ग्रहण कर लेता है तथा महत्वहीन विषयों को स्वतः ही छोड़ता है। हम महत्वहीन विषयों को महत्वपूर्ण समझकर मन के विचारण प्रक्रिया को तेज कर देते हैं। जब हम विचारों को महत्वहीन कर देंगे तो मन उन पर स्वतः ही विचार नहीं करेगा।

4– मन अतीत की घटनाओं को स्मृति से निकालकर उन पर अकेले ही विचार किया करता है। अतीत की घटनाओं में विषयों से संबंधित प्रकरणों की अधिकता रहती है। जो विषय प्रिय होते हैं तथा जिनमें प्रियता रहती है और जो आनंद की अनुभूति करा चुके हैं उन पर विषयों पर मन विचार करता रहता है। उन समस्त अतीत की क्रियाओं को पूर्ण निरर्थक समझकर स्मृति में ही संचित रहने दें और उन्हें वहां से मत निकालें और वे यदि निकलने का प्रयास करें तो बुद्धि की विनिश्चय शक्ति से उन्हें स्मृति में ही अवरूद्ध कर दें। इस प्रकार अतीत के विषयों पर विचार न करने से मन शांत हो जाएगा।

5– जो–जो विषय मन में आते हैं उन–उन विषयों के प्रतिकूल विचार करें। ऐसे विरोधी विचार करने से मन शांत हो जाता है। ये भी मन के शांत करने का उत्तम प्रकार है।

6– मन प्रमथनशील है तथा अशांत रहकर चंचलता करता है। उसकी चंचलता लक्ष्यविहीन होती है। यदि लक्ष्य पर उसे स्थापित कर दिया जाए और पुनः–पुनः लक्ष्य पर स्थापित करने का प्रयास किया जाए तो भी मन धीरे–धीरे शांत हो जाता है। लक्ष्य का अवलंबन ले लेता है और आश्रय लेकर स्वतः शांत हो जाता है।

7– साधक स्वयं ये विचार करे कि हमारा मन किन कारणों से किन समस्याओं से अशांत है। उन कारणों का निवारण अथवा उन–उन कारणों के अस्तित्त्व को नकारने से मन शांत हो जाता है।

ख– वैराग्य से शम की उपलब्धि –

किसी कारण से जब संसारिक वस्तुओं, विषयों से मन उचाट हो जाता है और संसारिक भोगों में घृणा की स्थिति आ जाती है तो ये स्थिति वैराग्य कही जाती है। सामान्य रूप से संसार में हमारा मन रमा रहता है। क्योंकि उसे संसार में सुख का आभास होता है। जहां पर सुख मिलता है, सुख प्राप्त होने की संभावना रहती है वह वस्तु, व्यक्ति और स्थिति हमें प्रिय लगती है। मन की सहज प्रवृत्ति रहती है कि वह सुख का आकांक्षी होता है। सुख चाहता है, जब तक संसार में सुख लगता है और सुख प्राप्त होने की संभावना लगती है तब तक मनुष्य संसार में रमा रहता है। दुख प्राप्त होने पर भी भविष्य में सुख की संभावना से मन रमता है। सुख प्राप्ति की संभावनाएं तलाशता है। हम सभी के मन में ये भ्रम रहता है कि संसार में हमें सुख मिल जाएगा। यह भाव मन में घर कर गया है। इसी कारण हम सुख को हम संसार में खोजा करते हैं और सुख पाने की लालसा में प्रयत्नशील रहते हैं। कतिपय कारणों से यदि अनुकूल परिस्थितियां प्राप्त हो जाती है तो उसे ही हम सुख मान लेते हैं और उसी में हम प्रसन्न रहते हैं।

वस्तुतः संसार में सुख नहीं है। यह हमारा भ्रम है कि संसार में सुख है। इसी भ्रम में हम सुख प्राप्ति का प्रयास करते हैं तथा दुख आने पर सुख की संभावना खोजते हैं। हम संसार की वास्तविकता से परिचित हो जाते हैं कि संसार में सुख नहीं है तो हमें संसारिक विषय भोगों से घृणा हो जाती है। मन सुख की चाहना में अशांत रहता है और जब वास्तविकता से वह परिचित हो जाता है तब वह अनेक प्रकार के विषयों का विचारण छोड़ देता है और शांत होने लगता है। इसी स्थिति को हम वैराग्य कह सकते हैं। वैराग्य का प्रमुख लक्षण संसार की वास्तविकता को जानकर उसके मोह से अपने

को पृथक् कर लेना है। वैराग्य से शम की प्राप्ति हेतु निम्न विचारों का अवलोकन कीजिए–

1– यह संसार विनाशशील स्वभाव का है और धीरे–धीरे स्वतः ही विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है। उसकी विनाशशीलता में सुख नहीं प्राप्त हो सकता है। इसके विनाशी स्वभाव में स्थिरता नहीं है और अस्थिर वस्तु में सुख की कल्पना करना एक भ्रम मात्र है।

2– संसारिक भोगों में क्षणिकता है, अनित्यता है जिसमें फंसकर मनुष्य दुखी होता है। अशांत रहता है। इस कारण संसारिक भोगों के त्याग से शम की स्थिति प्रबल हो जाती है और मन शांत हो जाता है।

3–संसार को दुखस्वरूप मानकर मनुष्य संसारिक भोगों का त्याग करता है। संसारिक भोग पहले तो सुखद मालूम होते हैं परंतु पश्चात् में वह अनिवार्य रूप से दुखद प्रतीत होते हैं। इस दुख से ही मन अशांत हो जाता है।

4– संसार असत् है और धीरे–धीरे समाप्त हो रहा है। यह मानव शरीर भी असत् है और धीरे–धीरे वह समापन की ओर जा रहा है। इस कारण असत् संसार और इस असत् मानव शरीर से मोह समाप्त करें और सत् अर्थात् परमात्मा से संबंध रखें यदि वैराग्य है।

5– योगारूढ होने में शम ही कारण है–(योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते)

श्री भगवान ने कहा कि असंयत मन वाले के लिए योग की प्राप्ति कठिन है। ऐसा श्री भगवान का स्पष्ट मत है। वास्तविक तथ्य यही है कि जिस साधक का मन अशांत रहता है। चंचल और प्रमथनशील रहता है उसके लिए योग प्राप्त होना कठिन है। असंभव ही है। मन की चंचलता के कारणों पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि मन की संपूर्ण क्रियाविधि संसार में है। संसारिक विषयों में फंसा हुआ मन अशांत रहता है। यह स्थिति शम के प्रतिकूल है। इस कारण साधक जब तक मन को संसार से बाहर नहीं निकालता है तब तक शम की उपलब्धि नहीं होती है तथा शमरहित मन योग पर आरूढ नहीं हो सकता है। इसी कारण योग आरूढ होने में शम ही कारण है।

योग पर आरूढ होना एक स्थिति है जो मन के शांत होने पर ही संभव है जब तक मन शांत नहीं होता तब तक वह स्थिति अप्राप्य रहती है। साधक यह तथ्य जान जाता है। इस कारण साधक अपने मन को शांत करने का प्रयास करता है। मन साधारणतयः शांत नहीं हो पाता है परंतु प्रयास से शांत हो जाता है तथा योगारूढ की स्थिति प्राप्त हो जाती है। मन की अशांति के जो कारण हैं उन पर साधक को, प्रयत्नशील पुरूष को विचार तथा निरीक्षण करना चाहिए। मन साधन काल में साधारण सामान्य समय में कहां जाता है? वहां वहां से उसे वापस लाना पड़ता है। मन की गति बहुत तेज है तथा उसके निकलने के बहुत मार्ग हैं। उन मार्गों को समझकर उन पर अवरोध खड़े करने पड़ते हैं। प्रमुख रूप से संसारिक विषय तथा समस्याएं भी साधना में मन को शांत नहीं होने देते हैं। संसारिक विषयों में रूचि रहती है तथा सुखद अनुभूति की कल्पना रहती है और संसारिक समस्याओं में उलझाव रहता है। इस कारण मन अशांत रहता है। एक समस्याग्रस्त व्यक्ति का मन कभी शांत नहीं हो सकता तथा भोगों में सुखद अनुभूति देखने वाला और करने वाला भी अशांत रहता है। यह योग के आरूढ होने की प्रतिकूल स्थिति है।

संसारिक समस्याएं तो प्रत्येक साधक के साथ रहती हैं और आती–जाती रहती हैं। कभी अनुकूल स्थितियां आती है ंतो कभी स्थितियों में प्रतिकूलता रहती है। इससे मनुष्य अशांत रहता है। किसी भी प्रकार की समस्या आने पर अशांत हो जाना स्वाभाविक है। यह परिस्थितियों के क्रम में बहुत ही बाधक है। जब साधक अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों को आने जाने वाला मानकर उनसे प्रभावित नहीं होता है तब वह शांत हो जाता है और वह शम की स्थिति प्राप्त कर लेता है। यह शम की स्थिति योग आरूढ होने में कारण कहा जाता है। जैसे अंधकार के समापन में प्रकाश का आना ही कारण कहा जाता है, वर्षा के होने में बादल ही कारण कहा जाता है, सुख–दुख होने में कर्म ही कारण कहा जाता है। कर्मफल में कर्मो का संपादन ही कारण ही कहा जाता है। अस्वस्थता की मुक्ति हेतु औषधि और उपचार ही कारण कहा जाता है, अज्ञान के निवारण में ज्ञान ही कारण कहा जाता है। वैसे योग आरूढ होने में शम ही कारण कहा जाता है।

श्री भगवान ने इस श्लोक में योग आरूढ होने की इच्छा को कारण को कर्म कहा है। तथा योग आरूढ हेतु शम ही कारण कहां है। अब अग्रिम श्लोक में योग

आरूढ की स्थिति का अंतिम वर्णन करके इस प्रकारण का समापन करना चाह रहे हैं। इसी विषय को प्रदर्शित करने हेतु श्री भगवान अगले श्लोक को कह रहे हैं।

मूल श्लोक संख्या–चार

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।

पदच्छेद–

यदा, हि, न, इन्द्रियार्थेषु, न, कर्मसु, अनुषज्जते,
सर्वसंकल्पसन्न्यासी, योगारूढः, तदा, उच्यते।।

भावार्थ : जिस काल में (साधक) इन्द्रियों के भोगों में तथा कर्मो में आसक्त नहीं होता है उस काल में समस्त संकल्पों का परित्यागी साधक योग पर आरूढ कहा जाता है।

व्याख्या–

1– इन्द्रिय भोग क्या है?–

मनुष्य शरीर में दस इन्द्रियां हैं जिनमें पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं तथा पांच कर्मेन्द्रियां हैं। कर्ण अर्थात कान, नेत्र अर्थात आंखें, जिह्वा अर्थात जीभ, तथा नासिका ज्ञानेन्द्रियां हैं। वाक् अर्थात वाणी, हस्त अर्थात् हाथ, पाद अर्थात पैर, उपस्थ तथा पायु के पांच कर्मेन्द्रियां हैं। इन दसों इन्द्रियों का स्वामी मन है जिसके आश्रय से इन्द्रियां विषयों को ग्रहण करके आनंद का उपभोग करती हैं। यदि मन इन्द्रियों का सहयोग न करे तो अकेले इन्द्रियां किसी भोग को भोगने में सक्षम नहीं हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियों के पृथक्–पृथक् विषय हैं। कर्ण का विषय शब्द है। नेत्र का विषय रूप है। जिह्वा का विषय रस है। त्वचा का विषय स्पर्श है, नासिका का विषय गंध है अर्थात् कर्ण से ध्वनि का ग्रहण होता है। नेत्र से दृश्य का ग्रहण होता है। जिह्वा से स्वाद का ग्रहण होता है। त्वचा से स्पर्श का ग्रहण होता है और नासिका से गंध का ग्रहण होता है। इस प्रकार पांच ज्ञानेन्द्रियों के जो विषय हैं वे ही पांच कर्मेन्द्रियों के विषय हो जाते हैं। वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और पायु के क्रमशः शब्द रूप, रस स्पर्श और गंध विषय हैं। इन समस्त इन्द्रियों से जो जो विषय ग्रहण होते हैं वे मन के आश्रय से ही ग्रहण होते हैं। वे ही इन्द्री भोग

कहलाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का पृथक–पृथक भोग है। एक इन्द्रिय अपने विषय के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं कर सकती है। जैसे कान का विषय शब्द है यह नेत्रों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्रत्येक इन्द्रिय भोगों का पृथक् पृथक् अवलोकन कीजिए।

क– कर्ण से शब्द रूपी भेग का ग्रहण–

कान जब मधुर शब्द, कर्ण प्रिय संगीत, मधुर गीत को ग्रहण करता है तो वह मन के माध्यम से उसकी प्रियता की सुखद अनुभूति करता हे। मधुर गीतों पर हम सभी ध्यान देते हैं।। कर्ण प्रिय शब्द पहले कानों के द्वारा प्राप्त किया जाता है तत्पश्चात् मन उसे अपनी संज्ञानता में लेता है। मन द्वारा यदि मधुर शब्द ग्रहण न किया जाये तो हम उसमें आसक्त नहीं होते हैं। जैसे जब मन दुखी होता है तो हमें मधुर गीत संगीत नहीं अच्छे लगते। हम शारीरिक रूप से अस्वस्थ होते हैं तब भी हमें मधुर गीतों की ध्वनि में प्रियता नहीं होती है। यह विशेष परिस्थितियां हैं जिससे कर्ण शब्दों को ग्रहण तो करते हें लेकिन मन उन शब्दों के प्रति असंवेदनशील होने के कारण, शब्द रूपी भोग के प्रति उपेक्षा के कारण शब्द रूपी भोग ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार साधक को यह स्थिति लानी पड़ती है। कोई मधुर शब्द, कर्णप्रिय संगीत तथा मधुर गीत का साधक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह शब्द रूपी भोग को ग्रहण न करने की स्थिति है। साधक इस प्रकार शब्द रूपी भोग में आसक्त नहीं होता है।

ख– नेत्रों से रूप–रूपी भोग का ग्रहण–

नेत्रों से हम सब संसारिक वस्तुओं को देखते हैं। नेत्रों के संपर्क में जो वस्तुएं आती हैं उन–उन वस्तुओं को नेत्र ग्रहण कर लेता है। संसार में सुंदर और मनोहारी दृश्य भी हैं तथा भयानक और वीभत्स दृश्य भी हैं। सामान्यतः नेत्र जगत की वस्तुओं को उदासीनवत् भाव से देखता है। सुंदर वस्तुओं में वह उलझता है। जैसे कोई भव्य भवन हो, मनोरम प्राकृतिक सौंदर्य हो तो नेत्र उसे बार–बार देखना चाहता है। जब नेत्रों की दृष्टि क्षमता में कोई सुंदर वस्तु आती है तो मन भी वहां जाता है और वह नेत्रों के साथ साथ स्वयं भी सुंदर और मनोरम दृश्यों का आनंद लेता है। बहुत से दृश्य ऐसे होते हैं जिनसे नेत्र हटाने से मन नहीं करता अथवा नेत्र वहां से हटना नहीं चाहते। यह नेत्रों का गुण रूप का भोग है। सुंदर दृश्यों में नेत्रों के साथ मन भी उलझता है। वह

पुनः पुनः वहीं पर जाना चाहता है यही भोगों में आसक्त होने का तथ्य है। साधक सुंदर मनोहारी दृश्यों में नेत्रों को नहीं उलझाता है। वह सुंदरता को और मनोहारी दृश्यों को उपेक्षा पूर्ण दृष्टि से देखता है। यही दृश्य में रूप नामक भोग में आसक्त न होने का तथ्य है।

ग– जिह्वा से रस रूपी भोग का ग्रहण–

जिह्वा से विभिन्न प्रकार के स्वादों का ग्रहण होता है। रस छह प्रकार के माने जाते हैं। जिन्हें मीठा, कडुवा, तीखा, खट्टा, नमकीन तथा कसैला कहा जाता है। हमारी स्वादेन्द्रिय इन रसों को पहचानती हैं तथा ग्रहण कर लेती है। प्रकृति के आधार पर ही मनुष्य अपने प्रिय रसों में आसक्त होता है। मनुष्य ने एक से अधिक रसों को एक में मिलाकर पृथक् पृथक् रसों की उत्पत्ति कर ली है तथा वह एक साथ ही कई रसों का आनंद लेना चाहता है। सुस्वाद भोजन सभी को प्रिय होता है। सुस्वादता रसों से आती है। जितने प्रकार की सुस्वादता है वह रस रूपी भोग है। मनुष्य पहले किसी स्वादिष्ट भोजन को ग्रहण करता है तो मन भी स्वाद को ग्रहण करने में उसका साथ देता है। तभी हमें स्वाद का अनुभव भी होता है। इस प्रकार जिह्वा के साथ मन भी रस रूपी भोग को ग्रहण करता है। स्वादिष्ट भोजन की ओर प्रत्येक व्यक्ति आकृष्ट होता है। यह रस रूपी भोग के कारण ही है। साधक को रस रूपी भोग में कोई आनंद नहीं आता है। उसे विभिन्न प्रकार के सुस्वाद भोजन में किसी आनंद की प्रतीति नहीं होती है। वह इस कारण रस रूपी भोग में आसक्त नहीं होता है।

घ– त्वचा से स्पर्श रूपी भोग का ग्रहण–

त्वचा से स्पर्श रूपी भोग का ग्रहण होता है। त्वचा कोमल कठोर, शीत, उष्ण का अनुभव करती है। त्वचा कोमल स्पर्श चाहती है और वातानुकूलित वातावरण में आनंद की अनुभूति करती है। कठोर अति ठंड तथा गर्म के स्पर्श से उसमें प्रतिकूलता का आभास हो जाता है। त्वचा समस्त शरीर को आवृत किए रहती है। अर्थात् हमारा समस्त शरीर त्वचा से ढका हुआ है। इस कारण शरीर के प्रत्येक भाग, प्रत्येक अंग में कोमलता तथा समान वातावरण की अनुभूति त्वचा चाहती है। हमारे पैर कोमल स्थलों पर चलना चाहते हैं। शरीर को कोमल वस्तुओं का स्पर्श अच्छा लगता है। गर्मी के मौसम में ठंडे स्थानों में और ठंडे मौसम में गर्म वातावरण में रहने की इच्छा होती है। यह त्वचा का

गुण स्पर्श के कारण ही है। जो हमें अनुकूल परिस्थितियों में रहने की इच्छा प्रकट करता है। यही त्वचा का स्पर्श रूपी भोग है। साधक कोमल, कठोर, सर्दी गर्मी में आसक्त नहीं होता है और वह स्पर्श रूपी भोग का परित्याग कर देता है।

ङ– नासिका से गंध रूपी भोग का ग्रहण–

नासिका अर्थात् नाक से गंध का ग्रहण होता है। गंध साधारणतयः दो प्रकार की होती है। एक सुगंध और दूसरी दुर्गंध। सुगंध के प्रति मनुष्य आकृष्ट होता है तथा दुर्गंध के प्रति घृणा भाव रखता है। सुगंधों के प्रकारों का उल्लेख किया जाना कठिन है। एक भंवरा विभिन्न प्रकार के पुष्पों की गंधों में आसक्त होकर घूमा करता है। वही स्थिति मनुष्य की है। वह विभिन्न प्रकार की सुगंधों में भ्रमित होकर उनमें आसक्त रहता है। यही गंध रूपी भोग की आसक्ति हैं। साधारण मनुष्य इस गंध रूपी आसक्ति को समझ नहीं पाता है और साधक इसे समझकर सुगंध के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार रखता है।

च– कर्मेन्द्रियों से भोगों का ग्रहण–

वाक् प्रथम कर्मेन्द्रिय है। इसकी आसक्ति बहुत प्रबल होती है। मधुर वचनों में, मृदुभाषिता में बहुत आकर्षण होता है। वाक् की आसक्ति की प्रबलता का आभास साधक कर लेता है। मधुर गीतों में वाक् की आसक्ति के कारण ही हम आसक्त हो जाते हैं। साधारण मनुष्य मधुर गीत–संगीत में इसी कारण फंसता है। वैसे ही कर्मेन्द्रियों में अनेक प्रकार की भोग आसक्ति होती है और यह बहुत प्रबल होती है। इस आसक्ति का समापन साधना की पराकाष्ठा पर जाकर ही होता है, शीघ्रता से नहीं हो पाता। बहुत प्रयास से होता है। यह आसक्ति इतनी प्रबल होती है कि पुनः पुनः साधक को अपनी ओर बलात् आकर्षित कर लेती है। उच्च स्थिति के साधकों में तथा भगवान के निरंतर जप से कर्मेन्द्रियों के भोगों की आसक्ति का समापन होता है। इसमें भगवान की कृपा भी महत्वपूर्ण है क्योंकि श्रीभगवान ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न ही नहीं होने देते।

छ– मन से भोगों का ग्रहण–

मन मानव शरीर में विशिष्ट शक्ति संपन्न तत्त्व है। यह श्रीभगवान की अपरा प्रकृति का एक तत्त्व है। यह बहुत वेग वान होता है और अतिशीघ्र भोगों में आसक्त हो जाता है। पूर्व में भी यह कहा जा चुका है कि मन इन्द्रियों के साथ मिलकर ही भोगों

को ग्रहण करता है। यह मन की विशेषता है। इसके अतिरिक्त मन अकेले भी भोगों का ग्रहण कर लेता है। अतीत में ग्रहण किए गए भोगों की स्मृति हमारी बुद्धि में संचित रहती है और मन पूर्व में भोगे गए भोगों को स्मृति से निकालकर अकेले ही चिंतन के द्वारा उन्हें भोगता है। इस प्रकार मन की प्रबलता का अनुमान हम सरलता से लगता सकते है। इन्द्रियों के माध्यम से अथवा अकेले ही भांति–भांति से भोगों की कल्पना करके भी मन भोगों को भोगता है। इस प्रकार स्मृति में संचित ओर काल्पनिक भोगों को भी मन ग्रहण कर लेता है। यह मन की विशेष शक्ति है। एक साधक स्मृति में संचित भोगों को, काल्पनिक भोगों को तथा इन्द्रियों के संयोग में आने वाले भोगों के प्रति उपेक्षित भाव से देखता है और उदासीनवत् रहकर भोगों से अपने को पृथक् कर लेता है। यही साधक की उत्कृष्टता की परख है।

ज– बुद्धि से भोगों का विनिश्चिय–

इन्द्रियां और मन जिस–जिस भोगों का आनंद लेना चाहते हैं उस–उस भोगों का विनिश्चय बुद्धि के द्वारा ही होता है। बिना बुद्धि के विनिश्चय के भोगों का आनंद नहीं लिया जा सकता है। जैसे आंख ने किसी सुंदर दृश्य को देखा देखने की क्रिया में मन ने सहयोग किया। इस कारण उसमें मन की संलिप्तता स्वतः ही हो जाती है। इस तथ्य को अर्थात् नेत्रों से मनोहारी दृश्य देखे जाने और मन के संलिप्त होने के तथ्य को बुद्धि जानती है। बुद्धि जानकर भी उन क्रियाओं से अपने को विलग नहीं करती है और अपनी मौन सहमति व्यक्त करती है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय और मन के द्वारा भोग में बुद्धि की सहमति रहती है तभी बुद्धि की वृत्ति को विकल्प कहा जाता है। बुद्धि से ही प्रत्येक भोग का विनिश्चिय होता है। इस प्रकार बुद्धि भी भोगों में संलग्न रहती है और भोगों से मनुष्य को हटा सकती है। साधक की बुद्धि मन और इन्द्रियों को भोगों से हटा लेती है।

2– इन्द्रिय भोगों में आसक्ति का क्या अर्थ है ? (यदा हि नेन्द्रियार्थेषु)

आंख का विभिन्न प्रकार के सुंदर रमणीय दृश्यों में संलग्न होकर उन्हें देखना और मन को भी साथ रखना, कानों का मधुर गीतों, शब्दों, संगीत में प्रियता का आभास और मन के सहयोग से सुने हुए विषयों पर आकृष्ट हो जाना, जिह्वा का सुस्वाद भोजन में आनंद की अनुभूति करना तथा मन को भी साथ रखना, त्वचा का कोमल

स्पर्श रूपी सुख प्राप्त करना और मन को भी उसकी अनुभूति कराना। नासिका से सुगंध को ग्रहण करना और मन को भी उस सुगंध का भी अहसास कराना। मन को भोगों गए भोगों में विचरण कराना और कल्पनाशील भोगों में भी मन का भ्रमण करना तथा बुद्धि के द्वारा विभिन्न प्रकार के भोगों का विनिश्चय करना और उन्हीं में बुद्धि में संलग्न रखना भोगों में आसक्ति है। साधारणतया प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक प्रकार के भोग में आसक्त रहता है और उसी के अनुरूप कार्य करता है। यही भोग आसक्ति है।

3– भोगों में अनासक्ति कैसे होती है–

भोगों में अनासक्ति हेतु मन की प्रमुख भूमिका है। जब तक मन इन्द्रियों का साथ देता है तब तक भोगों में आसक्ति रहती है और अनासक्त भाव उत्पन्न नहीं हो पाता है। आंखें कुछ मनोरम आसक्ति युक्त दृश्यों को देखें और मन उसमें आसक्त न हो तो यह अनासक्त भाव के कारण नेत्रेन्द्रिय उस मनोरम दृश्य को स्वतः ही उपेक्षित कर देगी। अतः नेत्रों को उसमें अनासक्त होना ही पड़ेगा। इसी प्रकार सुस्वाद भोजन में जब स्वादेन्द्रिय आनंद की अनुभूति करती है तो मन भी उसके साथ संलग्न हो जाता है। यदि मन संलग्न न हो तो सुस्वाद भोजन का आनंद नहीं लिया जा सकता है। इसी कारण विषम परिस्थितियों में सुस्वाद भोजन के आनंद की अनुभूति हमें नहीं होती है क्योंकि मन की संलग्नता विषम परिस्थितियों में रहती है। इसी प्रकार कोई मधुर गीत कानों द्वारा सुने जाने पर भी यदि मन की संलग्नता न हो तो हम मधुर गीतों के प्रति उसके भावों के प्रति आसक्त नहीं होते हैं। यही अनासक्त भाव है। इस प्रकार मन की भोगों के प्रति आसक्त न होने में महत्वपूर्ण भूमिका है। जब मन भोगों में आसक्त नहीं होता है तो इन्द्रियों की आसक्ति स्वतः ही समाप्त हो जाती है। असंयमित मन अर्थात् भोगों की ओर उन्मुख मन को सात्विक बुद्धि के द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। जब बुद्धि उत्कृष्ट हो जाती है तो मन को भोगों में जाने से रोकती है। यही अनासक्त भाव है।

4– कर्मों में आसक्त होना क्या है?– (न कर्मस्वनुषज्जते)–

कर्मों में आसक्ति समझने के लिए कर्मो का संपादन कैसे होता है? यह समझना पड़ेगा। कर्मों के संपादन के लिए मानव शरीर में तेरह करण हैं। इसमें से दस करणों को बाह्यकरण कहा जाता है तथा तीन करणों को अंतःकरण कहा जाता है। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है यह बाह्य

करण हैं। मन, बुद्धि और अहंकार यह अंतःकरण हैं। बाह्यकरण, अंतःकरण के निर्देशों के आधार पर ही कार्य करते हैं अर्थात् कर्मों के संपादन में मन, बुद्धि और अहंकार का आधारभूत महत्व है। अंतःकरण का एक महत्वपूर्ण तत्व चित्त भी माना जाता है। अनेक मनीषी चित्त को भी अंतःकरण का एक तत्व भी मानते हैं तथा अंतःकरण चतुष्टय की संकल्पना करते हैं। चित्त भी कर्म के चिंतन रूपी क्रिया का संपादक है।

इसी अध्याय में, **यतचित्तात्मा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः** आदि पदों से चित्त का वर्णन किया गया है। चित्त का वर्णन चिंतन के विषय में विशेष रूप से किया जाता है। इस प्रकार कर्मों के संपादन में चार तत्त्व प्रमुख प्रतीत होते हैं। जिन्हें मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त कहते हैं कर्मों का संपादन ही इन्हीं चार तत्त्वों की देखरेख और निर्देशों में होता है। इस कारण कर्मों में आसक्त नहीं होता है। इस तथ्य को समझने के लिए इन चार तत्त्वों को समझना आवश्यक है। मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त त्रिगुण से प्रभावित रहता है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व सात्विक, राजस और तामस तीन तीन प्रकार का होकर पृथक्–पृथक् कर्म करता है। इन चारों तत्त्वों के पृथक्–पृथक् प्रकारों का अवलोकन कीजिए–

क– सात्विक मन कैसे कर्म करता है?–

सात्विक मन की क्रियाविधि और उसकी उन्मुखता शुभ कर्मों की ओर स्वतः होती है। पूजा–उपासना के कर्मों का समाज की सेवा के कर्मो के संपादन का विचार सात्विक मन में स्वतः ही आता है। जब मन पूजा उपासना आदि के कर्मों और समाज सेवा के कर्मों के संबंध में विचार करता है तो हमारी इन्द्रियां स्वतः ही उसी ओर उन्मुख हो जाती हैं। मन के विचारण के अनुसार ही क्रियान्वयन आरंभ हो जाता है। इस कारण सात्विक मन जैसा जैसा कहता है वैसा वैसा ही इन्द्रियां कर्म करती हैं। सात्विक मन से फल की इच्छा ही होती है। समाज की सेवा रूपी कर्म प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, धन, पुण्य की प्राप्ति के निमित्त होते है ंतो यह कर्म सकाम कहलाते हैं । जब सात्विक मन के कर्म आसक्ति के फल इच्छा का त्याग करके कर्म के विषय में विचार करता है तो यह अनासक्त भाव है।

ख– राजसी मन कैसे कर्म करता है–

राजसी मन से संसार के वस्तुओं की कामना होती है तथा भोगों में प्रियता की प्रतीति होने के कारण संसार की वस्तुओं की प्राप्ति का विचार रहता है। संसार की

वस्तुऐं प्राप्त हो, संसारिक भोग मिले यह विचार चला करता हे। मन में जब यह विचार आ जाता है तो वैसे ही कर्मों का क्रियान्वयन इन्द्रियों के द्वारा होता है। राजसी मन के विचार की जो विषय वस्तु है वह ही इन्द्रियों के क्रियाओं का आधार है। राजसी मन राजसी पुरूष में रहता है और वह राजसी पुरूष अनेक प्रकार की कामनाओं के वशीभूत होकर नाना प्रकार के कर्म करता है। उसे कोई रोकना चाहे तो वह रूकता नहीं। क्योंकि राजसी मन की विचार शक्ति ही उसे कर्म में लगा देती है। संसारिक कामनाओं का चिंतन उसी के अनुरूप वस्तुओं की प्राप्ति का प्रयास कर्मासक्ति है।

ग– तामसी मन कैसे कर्म करता है ?–

तामसी अज्ञान से आवृत रहता है। अज्ञान से आवृत रहने के कारण वह दो ही प्रकार के विषयों पर विचार करता है। एक दुष्कर्म और दूसरे हिंसादि कर्म के बारे में तामसी मन तामसी पुरूष में रहता है और तामसी पुरूष को दुष्कर्म और हिंसादि कर्मो हेतु प्रेरित करता है। दुष्कर्मों की श्रृंखला बहुत विस्तृत है। इसे संपूर्णता से वर्णित नहीं किया जा सकता। परंतु जो कर्म दूसरों को उत्पीड़ित करने के उद्देश्य से किये जाते हैं वे सब के सब दुष्कर्म ही कहलाते हैं। तामसी मन जैसा ही विचार करता है वैसा ही तामसी मन की इन्द्रियां कर्म करती हैं। उससे पृथक् नहीं कर सकती हैं। तामसी मन की विचार शक्ति अंधकार की ओर ले जाने वाली होती है। तामसी मन की विचार शक्ति से जो कर्म होता है वो मनुष्य को अधःपतन की ओर ले जाता है। इस प्रकार तामसी मन से दुष्कर्मों तथा हिंसादि कर्मों का विचार करना ही कर्मासक्ति है।

घ– सात्विक बुद्धि से कर्म कैसे होता है?–

सात्विक मन जो जो विचार करता है उसका विनिश्चिय करना ही सात्विक बुद्धि का कर्म है। सात्विक मन शुभ कर्मों के संबंध में जब विचार करता है तो सात्विक बुद्धि उस कर्म के विनिश्चिय करती है। बिना कर्म के विनिश्चिय के इन्द्रियां कर्म नहीं करती है। जैसे सात्विक मन पूजा उपासना आदि का विचार करता है तो सात्विक बुद्धि उसका विनिश्चिय कर देती है। यह यदि सकाम भाव से होता है तो बुद्धि सकाम भाव का विनिश्चिय कर देती है। समाज सेवा के कर्मों के विचारों में जो ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, धन आदि प्राप्ति के विचार का विनिश्चिय है वह सात्विक बुद्धि ही करती है। मन तो सात्विक अर्थात् शुभ कर्मों का विचार करता है परंतु उसके फल का विनिश्चिय बुद्धि कर देती है। यह सात्विक बुद्धि द्वारा सात्विक मन के विचारण पर फल का जो विनिश्चिय किया जाता है वही कर्मासक्ति है।

ङ– राजसी बुद्धि से कर्म कैसे होता है?–

सात्विक बुद्धि कर्म–विकर्म, कर्तव्य–अकर्तव्य के अंतर को नहीं जानती है। सात्विक मन जब अनेक प्रकार की संसारिक कामनाओं तथा उनकी प्राप्ति के बारे में विचार करता है तो उनकी प्राप्ति के उपायों का विनिश्चिय बुद्धि के द्वारा ही होता है। जगत में असंख्य कामनाऐं हैं। इस कारण असंख्य कामनाओं का विनिश्चिय भी बुद्धि के द्वारा ही होता है। असंख्य कामनाओं का विचारण जब मन के द्वारा होता है तब उन समस्त कामनाओं की प्राप्ति का विनिश्चिय राजसी बुद्धि के द्वारा अनायास ही किया जाता है। यह विनिश्चिय होने के पश्चात् इन्द्रियां अपने अपने कर्मों में व्यवहार करने लगती है। राजसी मन जिस कामना के वशीभूत होकर उसकी प्राप्ति के विचार पर कामना करता है तब प्राप्ति के उपायों तथा उसके क्रियान्वयन पक्ष का विनिश्चिय बुद्धि के द्वारा होता है और कर्मेन्द्रियां अपने अपने कर्मों पर बरतती हैं। यह कर्मासक्ति है जो राजसी बुद्धि के द्वारा होता है।

च–तामसी बुद्धि के द्वारा कर्म कैसे होता है?–

तामसी बुद्धि का लक्षण है किसी भी विषय के अर्थ को प्रतिकूल समझना। जब मनुष्य तामस गुण से आर्वत होता है तब दुष्कर्म और हिंसा का विनिश्चिय तामसी बुद्धि से होता है क्योंकि इस कृत्य को उचित समझता है। उसकी बुद्धि दुष्कर्म तथा हिंसादि कर्म को शास्त्र सम्मत ठहराती है। यही किसी अर्थ को प्रतिकूल ठहराना है। सात्विक मन दुष्कर्म तथा हिंसादि को उचित नहीं मानता है। इस कारण वह सही अर्थ निकालता है। अतः तामसी मनुष्य किसी कुकृत्य को उचित ठहराता है और उसके पक्ष में कुतर्क भी देता है। यही तामसी गुण का लक्षण है। अनुचित को उचित ठहराना तामसी मन दुष्कर्मों तथा हिंसादि कर्मों के बारे में विचार करता है तब सात्विक बुद्धि उसका विनिश्चिय करती है। यही कर्मासक्ति है।

छ– सात्विक अहंकार से कर्म कैसे होता है?–

सात्विक अहंकार सात्विक प्रधान पुरूषों में रहता है जिससे वह अपने को श्रेष्ठ, पूज्यनीय, तपस्वी, शास्त्रों के ज्ञाता, सिद्ध योगी, शास्त्रों की व्याख्या करने में कुशल तथा सामान्य जनों से उत्कृष्ट आदि आदि समझते हैं। हम श्रेष्ठ हैं। दूसरे निकृष्ट हैं, हम पूज्यनीय हैं, दूसरे सम्मान के योग्य नहीं हैं, हम तपस्वी हैं, हमारे में तपस्या का बल है।

हमने शास्त्रों का अध्ययन किया है और हम नीति अनीति के ज्ञाता हैं, कर्तव्य–अकर्तव्य को जानते हैं, हमें तत्त्व दर्शन हो गया है। इस कारण हम सिद्ध हैं। हमें समस्त योग आसनों का नियम आदि का ज्ञान है। हम योगी हैं और हम धर्म–अधर्म की बंधन मोक्ष की व्याख्या में कुशल हैं तथा कर सकते हैं यह सब सात्त्विक अहंकार के कारण होता है। यह सब सात्विक अहंकार का ही कार्य रूप समझना चाहिए। सात्विक अहंकार से ही उपरोक्त भावों की प्रतीति रहती है और उसी के अनुकूल सात्विक मनुष्य कर्म भी करने लगता है। यही कर्मासक्ति है।

ज– राजस अहंकार से कर्म कैसे होता है?–

राजस अहंकार से आवृत मनुष्य अपने धन, संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, पद आदि पर अहंकार करता है। हमारे पास बहुत धन है, लोगों के पास इतना नहीं है। मैं इस धन से बहुत कार्य कर सकता हूं। मेरे पास बहुत संपदा है। मेरे समान कोई संपदा वाला नहीं है। मेरे पास बहुत ऐश्वर्य है जिससे हमारी प्रतिष्ठा है। हम उच्च पदस्थ हैं। हमारे पास बहुत अधिकार हैं। आदि आदि भाव राजसी अहंकार के कारण रहते हैं। यह भाव जैसे होते हैं वैसी ही क्रियाएं होने लगती हैं अर्थात् उपरोक्त प्रकार के भावों से आवृत मनुष्य वैसे ही कर्म करता है। वह धन का प्रदर्शन करता है। संपदा को दिखाता है और देखकर प्रसन्न रहता है। ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा के अधीन कर्म करता है। पद के अहंकार से व्यवहार करता है। इस प्रकार इन सब के आधार पर जो कर्म होता है वह कर्मासक्ति है।

झ– तामस अहंकार से कर्म कैसे होता है?–

तामस अहंकार से आवृत मनुष्य अपने बल, जन–बल, शक्ति, सामर्थ्य, पहुंच आदि के आश्रित रहकर दुष्कर्म और हिंसा आदि कर्म करता है। और दूसरों को प्रताड़ित करता है। इस प्रकार के जो कर्म हैं जिससे समाज में अव्यवस्था फैलती है और दूसरों का अनायास ही उत्पीड़न होता है। इस प्रकार के कर्मों से तामसी मनुष्य अपने स्वार्थ के हलीकरण का प्रयास करता है। तामसी अहंकार से आवृत मनुष्य जहां कहीं भी रहता है वह समाज को भयभीत करने तथा अपने वर्चस्व को स्थापित करने का ही प्रयास करता है। इस भावना से जो कर्म होते हैं उससे दूसरे लोगों को अहित हो जाता है। इस प्रकार तामस अहंकार के कर्मों में भी कर्मासक्ति होती है।

ञ– चित्त के कर्म से कर्मासक्ति–

सात्विक मनुष्य में सात्विक चित्त राजसी मनुष्य में राजसी चित्त और तामसी मनुष्य में तामसी चित्त का वास होता है। चित्त नामक अंतःकरण से प्रमुख रूप से चिंतन का कर्म होता है। सात्विक मन, राजसी मन, तथा सात्विक मन के संबंध में उपरोक्त प्रकार से वर्णन हो चुका है। मन की विचारण क्रिया तथा इस विचारण का विनिश्चिय दोनों कार्य अकेले चित्त ही कर डालता है। चित्त से त्रिगुण के कारण जैसे जैसे कर्म होते हैं वे ही कर्मासक्ति के कारण होते जाते हैं। चित्त का प्रमुख कार्य चिंतन है। आगे इस संबंध में विस्तार से चर्चा होगी।

जिन पृथक्–पृथक् भोगों का तथा कर्मो का वर्णन उपरोक्त प्रकार से हो चुका है उन उन भोगों में आसक्त तथा कर्मो में आसक्त होना ही भोगासक्ति और कर्मासक्ति है। जिस भी समय यह भोगासक्ति और कर्मासक्ति का पूर्ण परित्याग हो जाता है उस समय साधक तत्काल ही योगारूढ हो जाता है। योगारूढ होने का आकांक्षी साधक स्वयं ही इस तथ्य को परख सकता है कि हम भोगों से और कर्मों से निवृत हुए हैं अथवा नहीं हुए हैं। भोगासक्ति और कर्मासक्ति निवृत नहीं होती है तब तक योग आरूढ स्थिति नहीं आ सकती है। अर्थात् तब तक इस स्थिति को कल्पना मात्र ही समझना चाहिए। योग आरूढ हेतु भगवान अंतिम तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं कृपया उसका अवलोकन कीजिए–

5–समस्त प्रकार के संकल्पों का त्याग क्या है? (सर्वसंकल्पसन्न्यासी)

सात्विक राजस और तामस पुरूष अपने अपने गुणों से प्रभावित होकर मन से अनेक प्रकार के त्रिगुणात्मक विचारण करते रहते हैं। सात्विक पुरूष में सात्विक मन का वास रहता है। इस कारण सात्विक पुरूष का मन सात्विक गुणों से युक्त संकल्पों का विचारण करता है। इसी प्रकार राजसी पुरूष में राजसी मन का निवास होता है और वह राजसी मन से राजसी विषयों का विचारण करता है तथा राजसी संकल्प करता है। इसी प्रकार तामसी मनुष्य में तामसी मन का निवास रहता है और तामसी मन तामसी गुणों से प्रभावित संकल्पों को करता रहता है। इस प्रकार प्रत्येक पुरूष में पृथक् पृथक् प्रकारों के संकल्पों का होना पाया जाता है। प्रत्येक पुरूष संकल्प करता रहता है और संकल्पों के आधार पर ही कर्म होते रहते है। इस प्रकार प्रत्येक पुरूष में संकल्प होते

रहते हैं। यदि संकल्प ही समाप्त हो जाऐं तो कर्मों का समाप्त हो जाना समझना चाहिए। इस तथ्य को इस स्पष्ट समझना चाहिए कि ये सब मन की वृत्ति है। उसको सहजता से हम कह सकते हैं कि मन जो भी कार्य करता है उसको संकल्प कहा जाता है।

श्रीभगवान ने यह कहा कि समस्त प्रकार के संकल्पों का जब परित्याग हो जाता है तब साधक योगारूढ हो जाता है। अर्थात् जब तक संकल्प रहते हैं तब तक योग आरूढ होने की स्थिति नहीं आती। इस प्रकार समस्त संकल्पों का अभाव होना या समस्त संकल्पों का परित्याग होना यह एक विचारहीन स्थिति है। संकल्पों का अभाव होने पर अथवा परित्याग होने पर मन में कोई विचार अवशेष नहीं होता। संकल्प तो संसार के होते हैं, संसार की प्राप्ति के होते हैं। इस कारण श्री भगवान संकल्पों के अभाव की बात कहते हैं। जब तक मन में संसार रहता है और संसार की प्राप्ति का भाव रहता है तब तक योग की आरूढता ही नहीं हो सकती है। इसी को महर्षि पतंजलि ने अपने ग्रंथ योग दर्शन में चित्त वृत्तियों का निषेध कहा है और यह स्पष्ट किया है कि चित्त वृत्तियों के निरोध को ही योग कहते हैं। समस्त प्रकार के संकल्पों का अभाव तथा समस्त चित्त वृत्तियों का समाप्त होना एक जैसी स्थिति है। जब तक मन में संकल्प रहते है तब तक चित्त में वृत्तियां रहती हैं और तब तक योग की आरूढता की स्थिति प्राप्त नहीं हो पाती है।

6– योग आरूढ की तीन स्थितियां– (योगारूढस्तदोच्यते)–

श्रीभगवान ने इस प्रकार से योग आरूढ होने के लिए तीन स्थितियों की विवचेना की है जो निम्न प्रकार है।

1– समस्त प्रकार के भोगों में आसक्त न होना।

2– समस्त प्रकार के कर्मो में आसक्त न होना।

3– समस्त प्रकार के संकल्पों का अभाव हो जाना।

ये तीन ही स्थितियां योग आरूढ होने के लिए आवश्यक होती हैं। इन तीन स्थितियों पर जब गहनता से विचार किया जाता है तब यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक स्थिति बहुत श्रेष्ठ है तथा सहजता से प्राप्त नहीं होती है। समस्त प्रकार के इन्द्रिय

भोगों का परित्याग भी सहजता से नहीं हो सकता है। समस्त प्रकार के कर्मों की आसक्ति का परित्याग भी सरलता से होना संभव नहीं है। तथा समस्त प्रकार के संकल्पों का अभाव भी सहज स्थिति नहीं है। यह समस्त स्थितियां समानान्तर और पर्यायवाची अर्थ वाली प्रतीत होती हैं। क्योंकि एक स्थिति आ जाने पर दूसरी स्थिति स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। समस्त प्रकार के भोगों की आसक्ति समाप्त हो जाएगी तो संकल्प अवशेष नहीं रहेंगे और संकल्पों के अवशेष न रहने से कर्मों में आसक्ति का समापन स्वतः ही हो जाएगा। इस प्रकार योगारूढ की तीनों स्थितियां एक समान ही प्रतीत होती हैं।

श्रीभगवान इस प्रकरण को समाप्त करके अब मनुष्यों को परामर्श दे रहे हैं कि मनुष्य को अपने उद्धार हेतु प्रयत्न करना चाहिए और जो अपने उद्धार का प्रयत्न नहीं करता है वह स्वयं ही अपना शत्रु है, और जो करता है वह अपना स्वयं ही मित्र है। इसी भाव को लेकर श्री भगवान अग्रिम श्लोक आरंभ कर रहे हैं।

मूल श्लोक–पांच

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

पदच्छेद–

उद्धरेत्, आत्मना, आत्मानम्, न, आत्मानम्, अवसादयेत्, आत्मा, एव, हि, आत्मनः, बन्धुः, आत्मा, एव, रिपुः, आत्मनः।।

मूल श्लोक–छः

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।

पदच्छेद–

बन्धुः,आत्मा, आत्मनः, तस्य, येन, आत्मा, एवं, आत्मना,जितः, अनात्मनः, तु, शत्रुत्वे, वर्तेत, आत्मा, एव, शत्रुवत्।।

भावार्थ : स्वयं से स्वयं का उद्धार कर ले, स्वयं का अवसाद न करे, कारण की स्वयं ही स्वयं का हिताकांक्षी है और स्वयं ही स्वयं का शत्रु है। जिस साधक ने स्वयं को स्वयं से जीत लिया है वह स्वयं ही स्वयं का बंधु है तथा जिस मनुष्य ने स्वयं को नहीं जीता है वह स्वयं ही अपना शत्रु है, शत्रुता में व्यवहार करता है।

व्याख्या–1– उद्धार करना क्या है ? (उद्धेरदात्मनात्मानम्)–

साधारण मनुष्य अपना जीवन समान्य रूप से जीता है। परिवार के भरण पोषण का प्रयास स्वयं को भोगों के प्रति समर्पित करना तथा संसार में संलग्न रहना, संसार की वस्तुओं को प्राप्त करने की चेष्टा में रत रहना। ये साधारण मनुष्य के कार्य का लक्षण है। एक विचारशील मनुष्य ये विचार करता है कि हमें किस प्रकार से अपने में सद्गुणों का विकास करके जीवन के वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त करें । इस प्रकार अपने में सद्गुणों का विकास करके जीवन के उद्देश्य को जानकर उसकी प्राप्ति कर लेना ही स्वयं का उद्धार करना है। हमें किन सद्गुणों का विकास करना चाहिए इस पर हमें विचार करना चाहिए। कुछ सद्गुणों का उल्लेख किया जा रहा है जिनसे मनुष्य स्वयं का उद्धार कर सकता है।

2– सद्गुण जिनका विकास करना चाहिए–

मनुष्य को अपना उद्धार करने की इच्छा हो तो कुछ विशिष्ट गुणों का विकास का प्रयत्न करना चाहिए। यह गुण कौन से हैं? इनका संबंध मनुष्य के उद्धार से है। इस पर जब हम विचार करते है ंतो कुछ विशिष्ट गुणों का भाव हमारे अंतःकरण में जागृत हो जाता है। वे विशिष्ट गुण निम्न प्रकार हैं –

क–सत्यता–मनुष्य अपनी इन्द्रियों से, मन–बुद्धि से जगत का आभास करता है। अध्ययन से जानकारी प्राप्त करता है तथा अपने से ज्ञानवान आचार्यों से शिक्षा ग्रहण करके जगत की क्रियाओं, चेष्टाओं, क्रियाओं के बारे में जानकारी अनुभव करता है। जैसे इन्द्रियों व मन बुद्धि से आभास हो शास्त्रों के अध्ययन से जैसी जानकारी प्राप्त हो, गुरूओं, आचार्यों, संत, महापुरूषों से जो ज्ञान प्राप्त हो सके उसका वैसा वैसा ही व्यवहार व आचरण में प्रकट करना सत्य कहा जाता है, इस गुण को सत्यता कहते हैं।

ख–दया–परमात्मा सभी प्राणियों, जीवों पर दया करके जन्म देता है। उसकी मनुष्य पर दया विशेष रहती है, क्योंकि परमात्मा ने विशिष्ट तत्त्वों से उसे सुसज्जित किया है।

विकसित मन और बुद्धि इसके रूप हैं। जन्म के उपरांत नाना प्रकार की खाद्य वस्तुओं की व्यवस्था करके वह परमात्मा हमारे जीवन को चलाता है। अर्थात् पालन–पोषण करता है। वह मनुष्यों के अपराधों को क्षमा करता है। यदि मनुष्य दूसरों की सेवा हेतु भोजन की व्यवस्था तथा दुष्कर्मों की क्षमा करने की शक्ति अर्जित कर ले तो वह दयावान कहा जाएगा और इसका ये गुण दया कहा जाएगा।

ग–संतोष–ये जगत् नाशवान है। समस्त संपर्कित वस्तुएं विनाशशील स्वभाव की हैं। हमारे पास अपना कुछ नहीं है और हमें जो कुछ भी भगवान की कृपा से प्राप्त हुआ है वह हमारे अपने कर्मों के आधार पर निश्चित प्रारब्ध से उपलब्ध हुआ है। जो भी उपलब्ध हुआ है। वह समय के साथ छूटने वाला है। उसका कोई स्थायी अस्तित्त्व नहीं है। इस कारण परमात्मा की व्यवस्था में हमें जो कुछ भी प्राप्त हुआ है वह पर्याप्त है। यह विचार मन में रखना ही संतोष कहलाता है।

घ–सरलता–जगत में तीन प्रकार के मनुष्य रहते हैं एक सात्विक दूसरा राजसी और तीसरा तामसी। प्रत्येक का व्यवहार उसके गुणों के अनुरूप होता है। अर्थात् जो मनुष्य जिस गुण से आच्छादित होता है वह उसकी प्रकार का आचरण और व्यवहार करता है। सात्विक मनुष्य का व्यवहार शुभ होगा। राजसी मनुष्य का व्यवहार शुभ और अशुभ मिश्रित होगा और तामसी मनुष्य का व्यवहार अशुभ ही होगा। यह जानकर विवेकशील मनुष्य सभी लोगों से मन और वाणी से सहजता से व्यवहार करते हैं। इसी गुण को सरलता कहा जाता है।

ङ–शम–मन सामान्य रूप से संसारिक विषयों में भ्रमण करता रहता है क्योंकि उसका स्वभाव ही चंचल है। चंचल तथा अनियंत्रित मन को संसारिक विषयों से निकालकर परमात्मा में स्थापित करने की क्रिया को शम कहा जाता है। जब चंचल मन संसार से हटकर परमात्मा की सानिध्यता ग्रहण कर लेता है तब वह शांत हो जाता है। मन के इसी गुण को शम कहा जाता है।

च–दम–मनुष्य की इन्द्रियां सामान्य रूप संसारिक भोगों की ओर उन्मुख रहती हैं अर्थात् संसारिक भोगों की ओर स्वतः ही भागती हैं। मनुष्य जब अपनी इन्द्रियों को संसारिक विषयों से निकालकर, विषयों से निवृत्त होने का प्रयास करता है तो यह क्रिया दम कहलाती है। साधारणतयः संसारिक भोगों से मनुष्य सहजता से निवृत नहीं हो पाता है।

छ–तप–तप के तीन प्रकारों का उल्लेख शास्त्रों में आता है जिन्हें शारीरिक तप, मानसिक तप तथा वाचिक तप कहा जाता है। तपों के भी तीन प्रकार होते हैं जो त्रिगुणों के आधार पर हो जाते हैं। गुणों के आधार पर सात्विक तप, राजसी तप और तामसी तप कहलाते हैं। तप में मन से आध्यात्मिक चिंतन, वाणी से आध्यात्मिक कथन और शरीर से आध्यात्मिक कर्मों का संपादन होता है और मनुष्य संसार से विमुख होकर परमात्मा की सत्ता की ओर बढता है। यही क्रिया तप कहलाती है।

ज–समता–मनुष्य जब समस्त प्राणियों के चेतन तत्त्व जीवात्मा के संबंध को जान जाता है तो वह समस्त प्राणियों को अपने समान ही समझता है। वस्तुतः एक ही जीवात्मा समस्त प्राणियों में चेतनता उत्पन्न करती है। जीवात्मा का रूप स्वरूप, आकार, प्रकार एक जैसा है तथा वह निर्विकार है। इस तथ्य को जानने वाला मनुष्य समस्त जीवों को अपने ही समान समझता है और एक समान व्यवहार करता है तो इस गुण को समता कहा जाता है।

झ–तितिक्षा–परिस्थितियां सदैव एक समान नहीं रहती हैं। वे निरंतर परिवर्तित हुआ करती हैं। कभी सुख तो कभी दुख है। कभी प्रतिकूलता तो कभी अनुकूलता आ जाती है। यह प्रतिकूलता और अनुकूलता हमारे अपने कर्मों के आधार पर ही स्वतः ही चला करती है। अनुकूल परिस्थितियों में मनुष्य सुख का आभास करता है और प्रतिकूल परिस्थितयों में वह दुख का आभास करता है। प्रतिकूलताओं में दुख का आभास किए बिना प्रत्येक प्रकार के कष्ट को सहना तितिक्षा कहा जाता है।

ञ–ज्ञान–जगत में जितने भी प्रकार के विषय हैं उन सबका ज्ञान जानकारी कहा जाता है तथा परमात्मा के विषय की उसके स्वरूप, प्रभाव, गुण सत्ता आदि की जानकारी को ज्ञान कहते हैं इसमें उसकी अनुभूति की प्रक्रिया का सैद्धांतिक और प्रयोगात्मक ज्ञान भी सम्मिलित है। जब साधक को परमात्मा की प्राप्ति के पथ का ज्ञान हो जाता है तब वह उस पर चलना चाहता है और आरूढ होने की इच्छा रखता है। इस प्रकार परमात्मा की प्राप्ति के उपाय की सैद्धांतिक और प्रयोगात्मक जानकारी होना ही ज्ञान है। यह ज्ञान हो जाने पर मनुष्य ज्ञानी हो जाता है।

ट–वैराग्य–मनुष्य स्वभावतः रजोगुणी प्रवृत्ति का होता है। वह भोगों की ओर अनायास ही आकर्षित होता है। यह उसकी अपनी प्रकृति के कारण है। भोग वाले विषय मनुष्य

को शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। इस कारण वह भोगों में संलिप्त हो जाता है। जैसे मक्खी मिठास की ओर स्वतः ही आकर्षित होती है वैसे ही मनुष्य भोगों की ओर भी स्वतः ही आकर्षित होता है, परंतु समस्त सांसारिक भोग क्षणिक और अहितकारक हैं। यह ज्ञान हो जाने पर मनुष्य का संसारिक भोगों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न हो जाना ही वैराग्य कहा जाता है। साधक के मन में जब भोगों के प्रति अनिच्छा का अभाव आ जाता है तो वह अरूचि दिखाकर वह उससे दूर भागता है। यह क्रिया ही वैराग्य कही जाती है।

ठ–ऐश्वर्य–ऐश्वर्य दो प्रकार का होता है। एक भौतिक ऐश्वर्य व दूसरा आध्यात्मिक ऐश्वर्य। संसार में जब मनुष्य के पास उच्च पद, संपन्नता तथा भौतिक वस्तुएं प्रचुर मात्रा में आ जाती है ंतो वह भौतिक ऐश्वर्य को अर्जित कर लेता है। इस प्रकार भौतिक ऐश्वर्य के रूप में जो वस्तुएं उसे प्रतीत होती हैं उनका विनाश समय के साथ हो जाता है। प्रभुता आने पर अहंकार की स्वतः उत्पत्ति हो जाती है जिससे मनुष्य की उन्मुखता विनाश की हो जाती है। आध्यात्मिक ऐश्वर्य, तपश्चर्या, भगवान के नियंत्रण स्मरण और योग के निरंतर सेवन से प्राप्त हो जाता है जो मनुष्य के कल्याण का हेतु होता है। इससे साधक की आध्यात्मिक उन्नति हो जाती है। इस प्रकार आध्यात्मिक ऐश्वर्य ही सच्चा ऐश्वर्य है। इसे हमें प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

ड–स्मृति–पूर्व की घटनाएं हमारी बुद्धि में संचित रहती हैं। उन्हें स्मृति कहा जाता है। हम सभी के मन में संसारिक घटनाओं की स्मृतियां रहती हैं और प्रमुख स्मृतियां विलुप्त नहीं होती हैं। संसारिक स्मृतियां ही मनुष्य के साधन में विशेष बाधक होती हैं। हम जो कुछ हैं जैसे हैं, और हमारा जो कुछ नाम है हम वस्तुतः वह नहीं हैं। हमें ऐसा आभास स्वस्वरूप की स्मृति विस्मृत हो जाने के कारण है। इस कारण हम जो कुछ भी हैं वह स्मृति प्राप्त हो जाए तो इसी को स्मृति कहा जाता है। हमें स्वस्वरूप स्मृति बहुत प्रयास से उपलब्ध होती है।

ढ–आस्तिकता–परमात्मा के अस्तित्त्व को प्रत्येक विचारशील मनुष्य स्वीकार करता है। तथा विश्व के अधिकतम धर्म व संप्रदाय भी परमात्मा के अस्तित्त्व को स्वीकार करते हैं। जब हमारी प्रतिकूल परिस्थितियां आती है ंतो मनुष्य में एक विचार स्वतः ही उत्पन्न होता है कि मालूम नही कि परमात्मा है अथवा नहीं। समस्याग्रस्त मनुष्य में परमात्मा के अस्तित्त्व के प्रति शंका उत्पन्न हो जाती है तथा विचारवान मनुष्य परमात्मा के अस्तित्त्व

को सदैव स्वीकार करता है। वह परमात्मा है, अवश्य है निश्चित है यह तथ्य स्वीकार करना ही आस्तिकता कहा जाता है।

ण–निरहंकारिता–हम सभी में अहंकार नामक तत्त्व रहता है। जो बहुत ही सूक्ष्म है। यह बुद्धि से भी सूक्ष्म है। सूक्ष्म होने के कारण एक सामान्य व्यक्ति इसके प्रभाव को जान नहीं पाता हम सभी इसके प्रभाव से आवृत रहते हैं। हम सभी को अपनी सामर्थ्य, बल, धन, संपत्ति, पद, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, ज्ञान आदि का अहंकार रहता है। अहंकार विहीन मनुष्य इन सभी को विस्मृत कर देता है। हमारे पास कुछ है यह भाव अहंकार के कारण होता है। और हमारे पास कुछ नहीं है यह भाव ही निरहंकारिता कहलाता है। अहंकार से निवृत मनुष्य की अपने स्वस्वरूप में स्थिति हो जाती है और वह सुख दुख में एकसमान हो जाता है।

त–गंभीरता–आमोद–प्रमोद, हास्यवृत्तियों से मनुष्य अपने समय का अपव्यय किया करता है। बहुत से लोग यह कहते हैं कि हमारा समय नहीं कटता है। समय काटने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करते रहते हैं। क्योंकि वे समय के महत्व के प्रति गंभीर नहीं हैं। परमात्मा ने हमें जो जीवन प्रदान किया है वह गंभीरता पूर्वक शुभ कर्मों के संपादन हेतु दिया है। इस कारण मनुष्य में जब यह गुण आ जाता है तो वह इसके चिंतन में अपने को संलग्न करके शांत हो जाता है। यह शांत होना ही गंभीरता कहा जाता है।

थ–निर्भीकता–मनुष्य में भय कुछ विशिष्ट कारणों से होता है। मनुष्य जब अपनी संपत्ति के विनाश, संपर्कित लोगों के अहित तथा स्वयं की हानि की आशंका रखता है तब वह भयग्रस्त हो जाता है। मृत्यु के भय को सर्वोच्च भय कहा जाता है। जब मनुष्य वास्तविकता से परिचित हो जाता है तब वह भयहीन हो जाता है। हमारे पास जो भी संपत्ति है और हमारे संपर्कित जो भी लोग हैं उन लोगों को वियोग समय के साथ अवश्यसंभावी है। मृत्यु अपने समय से आएगी उससे पूर्व नहीं आ सकती है। यह परमात्मा की निश्चित वयवस्था है। जब मनुष्य में यह ज्ञान आ जाता है तो उसमें निर्भीकता का गुण स्वतः उत्पन्न हो जाता है।

द–विनयशीलता–मनुष्य जब जीवन और जगत की वास्तविकता से परिचित हो जाता है तो वह विनम्र हो जाता और बोलचाल, व्यवहार में सरल हो जाता है तथा

आदेशात्मक व्यवहार नहीं करता है। उसकी वाणी में विनयशीलता झलकती है। वह किसी भी कार्य के लिए चंचल नहीं होता है। कर्तव्यबोध से पूर्ण संशय होने पर सरलता रहती है। यही विनयशीलता की गुण है।

ध–धैर्य–प्रतिकूल स्थितियों में सामान्य रहना अपने सही सिद्धांतों का पालन करना असत्य धर्म का दृढता से त्याग करना। ये धैर्य के लक्षण हैं। धृति अर्थात् धारण शक्ति ही धैर्य को बनाए रखती है। यह गुण शेष आध्यात्मिक पुरूषों में रहता है। अनेक प्रतिकूलताएं आने पर ही मनुष्य अपने सत्य के सिद्धांत पर आरूढ रहता है।

न–त्याग–त्याग और आसक्ति एक–दूसरे के प्रतिकूल गुण हैं। हम सभी आसक्ति के कारण ही संसार से बंधे रहते हैं और त्याग के कारण ही संसार बंधन को तोड़कर ही मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। यह समस्त संसारिक वस्तुएं समय के साथ एक दूसरे से विलग हो जाएंगी। सब का अस्तित्त्व एक निश्चित सीमा तक है। हम वास्तविकता जानकर समस्त संसारिक वस्तुओं की आसक्ति छोड़कर त्याग रूपी गुण को उपार्जित कर सकते हैं।

मनुष्य के उद्धार के विचार में उपर्युक्त गुणों का धारण करना यथेष्ट है। उपरोक्त के अतिरिक्त अन्य जो भी गुण, आध्यात्मिक गुण साधक हेतु उपयोगी और सहयोगी प्रतीत हों उन्हें भी मनुष्य को धारण कर लेना चाहिए। मनुष्य यदि अपना उद्धार चाहता है तो उपरोक्त गुणों को अनायास ही धारण करना चाहिए। इन गुणों के अतिरिक्त मनुष्य में अपने जीवन के उद्देश्य का ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति की इच्छा भी होनी चाहिए जिससे वो स्वयं का उद्धार कर ले।

3– जीवन के उद्देश्य को जान लेना–

यह मनुष्य जन्म अनायास ही ऐसे ही हमें प्राप्त नहीं हुआ है। इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को संसार की वस्तुओं को एकत्र करने का संसारिक भोगों को भोगने में समाप्त नहीं करना चाहिए। इस जीवन का एक निश्चित उद्देश्य है । यह मानव जीवन उद्देश्य विहीन नहीं है। वरन् इसका एक निश्चित उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति पश्चात् का विषय है पहले ये जाना जावे कि जीवन का क्या उददे्श्य है? मनुष्य शिशु अवस्था में उत्पन्न होता है और धीरे–धीरे बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था से होता हुआ वृद्धावस्था में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यह जन्म–मरण का चक्र क्यों है? इस

बारे में विचार करने से यह स्वष्ट होता है कि इसके संबंध में मनुष्य को ज्ञान नहीं है कि वो जन्म के पूर्व कहां था? और मृत्यु के पश्चात कहां जाएगा? इस अज्ञानता के निवारण हेतु हमें सत् शास्त्रों का अध्ययन करना पड़ता है। शास्त्रों में जीवन का उद्देश्य जीवन रहते परमात्मा की अनुभूति कर लेना है। यदि जीवन रहते परमात्मा की अनुभूति न हो सकी तो यह मानव जीवन सफल नहीं कहा जा सकता और हमारा उद्धार भी नहीं हो सकेगा। इस कारण इस जीवन का उद्देश्य मुक्ति को प्राप्त कर लेना है। इसी को श्रीभगवान उद्धार होना कहते हैं। समस्त मनुष्यों को यह कर्तव्य है कि वह अपने को उद्धार करने का प्रयत्न करें। यह तथ्य किस प्रकार क्रियान्वित होगा इसका वर्णन श्री भगवान ने सातवें और आठवें श्लोक में किया है। श्री भगवान ने सातवां आठवां श्लोक इसी निमित्त कहा है। इस कारण पांचवें और छठे श्लोक के शेष भाग की व्याख्या इन दोनों श्लोकों के पश्चात् की जाएगी।

मूल श्लोक–सात

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।

पदच्छेद–

जितात्मनः, प्रशान्तस्य, परमात्मा, समाहितः,
शीतोष्णसुखदुःखेषु, तथा, मानापमानयोः।।

मूल श्लोक–आठ

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।

पदच्छेद–

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कूटस्थः, विजितेन्द्रियः,।
युक्त, इति,उच्यते, योगी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः

भावार्थ : जिस साधक ने स्वयं को जीत लिया है, वह सर्दी, गर्मी, दुख–सुख एवं मान–अपमान में सम, पूर्णतयः शांत साधक परमात्मा में समाहित है। जो साधक ज्ञान विज्ञान से तृप्त है और कूट की तरह स्थित है, इन्द्रिय विजयी है, मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण के टुकड़े में समभाव रखता है ऐसा योगी युक्त (अयुक्त नहीं) कहलाता है।

व्याख्या– स्वयं का उद्धार करने हेतु परमात्मा की अनुभूति की नौ स्थितियां हैं जिनके व्यवहार से मनुष्य अपना उद्धार कर सकता हे। श्रीभगवान ने जिन नौ स्थितियों की विवेचना की है वे हैं 1– स्वयं को जीत लिया है, 2– सर्दी गर्मी में सम हो गया है, 3–सुख–दुख में सम हो गया, 4– मान–अपमान में सम है, 5– पूर्णतया शांत है, 6– ज्ञान विज्ञान से तृप्त हो गया, 7– इन्द्रिय विजयी हो गया है, 8– कूट की तरह स्थित हो गया है तथा 9– मिट्टी पत्थर और स्वर्ण के टुकडे के प्रति समान भाव हो गया है। ऐसा साधक युक्त हो जाता है अर्थात अयुक्त नहीं रहता और परमात्मा में समाहित हो जाता है। यही उद्धार का तथ्य है। उक्त स्थितियों का निम्नवत् अवलोकन कीजिए।

1– स्वयं को जीत लेना– (जितात्मनः)–

मनुष्य के अंतःकरण में अनेक कामनाएं रहती हैं यह कामनाएं बाल्यावस्था से उत्पन्न हो जाती हैं। परमात्मा ने मनुष्य की प्रकृति को कामनायुक्त बनाया है। समय के साथ, आयु बढते रहने पर परिस्थितियों के परिवर्तित होने के साथ कामनाओं में स्वतः ही परिवर्तन हुआ करता है। एक शिशु जो वस्तु देखता है उसे ग्रहण करने की, पकड़ने की चेष्टा करता है, यह कामना का सूक्ष्म रूप ही है। वह वस्तुओं के बारे में जानता नहीं है परंतु उन्हे ग्रहण करने की इच्छा करता है। शिशुवस्था से जब बाल्यावस्था में परिवर्तन हो जाता है तो बाल्यावस्था की कामनाओं में भी परिवर्तन होता जाता है। एक बालक भिन्न भिन्न प्रकार के खिलौनों को चाहता है और वह जिस खिलौने की ओर देखता है उसकी ओर अनायास ही आकर्षित हो जाता है। यह कामना ही है जो उस बालक को विभिन्न प्रकार के खिलौनों की ओर आकर्षित करती है।

बालक जब बाल्यावस्था से कुमारावस्था की ओर अग्रसर हो जाता है तो उसकी कामनाएं भी परिवर्तित हो जाती हैं। बाल्यावस्था की जो कामनाएं हैं वे कुमारावस्था में नहीं रहती हैं। बाल्यावस्था के खिलौनों का कुमारावस्था में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। वे निरर्थक प्रतीत होते हैं। समय और अवस्था के परिवर्तन के साथ ही कामनाओं में

भी परिवर्तन हो जाता है। बाल्यावस्था में जो खिलौने प्रिय लगते हैं वे कुमारावस्था में अप्रिय हो जाते हैं तथा महत्वहीन निरर्थक प्रतीत होते हैं। कुमारावस्था में जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है वे उसे महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं और वह उनसे संलग्न हो जाता है। इस कुमारावस्था से परिवर्तन होने पर युवावस्था आती है। युवावस्था की कामनाओं का संजाल बहुत वृहद् होता है। एक युवा व्यक्ति अपने मन में अनेक प्रकार की कामनाएं करता है। उसकी अवस्था की आवश्यकता के अनुरूप ही कामनाएं रहती हैं। एक युवक परिवार में, समाज में अपनी महत्वाकांक्षा सिद्ध करना चाहता है और उसी के लिए संलग्न रहता है। युवावस्था की कामनाओं से सभी परिचित ही हैं।

युवावस्था के पश्चात प्रौढावस्था आती हैं प्रौढावस्था में युवावस्था की कामनाओं की पूर्ति एवं उसके प्रयासों की स्मृति शेष रहती है। युवावस्था की कामनाओं में प्रौढावस्था की परिपक्वता के कारण परिवर्तन आ जाता है और समस्त कामनाएं स्वतः ही परिवर्तित हो जाती हैं। प्रौढावस्था में पारिवारिक उत्तरदायित्व तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्वहन का प्रयास रहता है। एक प्रौढ व्यक्ति धन, संपत्ति तथा प्रतिष्ठा आदि के बारे में अधिक विचार करता है क्योंकि उसकी कामनाओं में मूलभूत परिवर्तन हो जाता है। प्रौढावस्था के पश्चात् वृद्धावस्था आ जाती है। वृद्धावस्था में मनुष्य जो कुछ आज तक एकत्र कर पाया है उसके प्रति उसमें आसक्ति रहती है। वह यह विचार करता है कि हमने जीवनपर्यंत बहुत परिश्रम से धन संपदा एकत्र की है और उसका उपभोग हम वैसा नहीं कर पा रहे हैं जैसा युवावस्था में कर रहे थे। यह संपत्ति धीरे–धीरे हमसे छूट जाएगी। यह विचारों का परिवर्तन अवस्था के साथ ही हो जाता है। वृद्धावस्था के पश्चात् की स्थिति को मृत्यु कहते हैं और वह समय से आती है। समस्त कामनाऐं तथा संपदा साथ छोड़ देती हैं। यही मनुष्य जीवन की वास्तविकता है। इससे प्रत्येक व्यक्ति को गुजरना पड़ता है। यह कटु सत्य है। यही जीवन की वास्तविकता है।

हम यदि इन्हीं कामनाओं को नियंत्रित कर सके तो समझना चाहिए कि हमने स्वयं को जीत लिया है। यदि कामनाओं पर नियंत्रण न कर सके तो समझना चाहिए कि हमें कामनाओं ने जीत लिया है। अनेक असंख्य कामनाओं से आबद्ध मनुष्य नाना प्रकार की संसारिक चेष्टाऐं करता है। जीवन पर्यंत कामनाओं की प्राप्ति के उपायों में संलग्न रहता है। उनसे मुक्त नहीं हो पाता है। इस कारण वही मनुष्य अपने को जीत पाता है जो कामनाओं से अपने को मुक्त कर लेता है। कामनाओं से मुक्ति को ही संयमित जीवन कहते हैं, स्वय ंको जीत लेने की परिकल्पना ही इसी से की जाती है।

2–पूर्णतया शांत हो जाना – (प्रशान्तस्य) –

आप अपनी काया अर्थात् शरीर, मन तथा बुद्धि का निरीक्षण करें। क्या आपका शरीर शांत है? मन शांत है? और बुद्धि शांत है। सामान्यतः मनुष्य का न तो शरीर शांत है न मन शांत है और न ही बुद्धि शांत है। काया अर्थात् शरीर का संसार की पृथक्–पृथक् क्रियाओं में संलग्न रहना, मन द्वारा अनावश्यक विषयों का विचारण करना तथा बुद्धि के द्वारा विचारित संसारिक विषयों में विनिश्चिय करते रहना ही अशांति है। शांति में मन प्रमुख तथ्य है क्योंकि मन के विचारण से काया अर्थात् शरीर भी कार्य करता है तथा बुद्धि भी काया के कार्य को विनिश्चित करती है। अशांति में मन मध्य में है तथा शरीर और बुद्धि उसके संकेत से कार्य करते हैं। शरीर से मन श्रेष्ठ है। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है पर मन के विचारण से ही काया कार्य करती है और बुद्धि काया के कार्य का विनिश्चय करती है परंतु प्रथमतः विचारण मन से आरंभ होता है। इस प्रकार कार्य का संपादन होता है।

मन जब तक शांत नहीं होता है तब तक काया तथा बुद्धि शांत नहीं हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य के समक्ष, चाहे वह किसी स्तर का व्यक्ति हो अनेक समस्याएं हैं। पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, मानसिक और भावनात्मक। अनेक झांझावत हैं जिनसे वह गुजरता है और उससे संलग्न रहता है। उसकी संलग्नता की बाध्यता है। जो समस्या है उस समस्या के हल तथा उसे समाप्त करने के विचार में हम अपने को संलग्न रखते हैं। मन की अशांति का यही प्रमुख कारण है कि हमारे समक्ष अनेक प्रकार की समस्याएं हैं। उनसे मन अशांत भी रहता है। अशांति का कारण समझ जाने पर उसके निराकरण से शांत हुआ जा सकता है।

जब तक यह जीवन रहता है तब तक समस्याएं रहती हैं और रहेंगी। हम प्रयास से एक समस्या का हल करेंगे तो दूसरी हमारे समक्ष आ जाएगी। दूसरी की हल करेंगे तो तीसरी समस्या आ जाएगी। इन समस्याओं का क्रम अनवरत रहता है। क्रम टूटता नहीं है। विशेष कर समस्याओं के कारण हम अशांत रहते हैं और समस्याओं के मूल में हमारी कामनाऐं रहती हैं। कामनाओं के त्याग का तथ्य ऊपर वर्णित किया गया है तथा जो समस्याएं हैं वह शास्त्र संगत कर्मों से हल की जानी चाहिए जो हमारी क्षमता के बाहर हो वह परमात्मा पर हमें छोड़नी चाहिए। जब तक जीवन है तब तक समस्याएं रहती हैं। इस कारण उनको लेकर अशांत रहना उचित नहीं है। हम यदि शास्त्र सम्मत

कर्मो का आचरण करेंगे तो हमारी समस्याऐं स्वतः ही हल हो जाएंगी। यदि कोई समस्या आएगी तो उसका हल ही स्वतः प्राप्त हो जाएगा। सादा और नैतिक जीवन समस्याओं के हलीकरण में एक आधारभूत तथ्य है। सादे जीवन से तथा नैतिक आचरण से समस्याएं कम उत्पन्न होती हैं और जो उत्पन्न होती हैं वे स्वतः अपना विकल्प खोज लेती हैं।

जगत में जो कुछ भी हो रहा है वह प्रकृति और उसके गुणों का कार्य है। वह प्रकृति तथा उसके गुणों का कार्य है। इसमें हमारे लिए कुछ भी संलग्नता नहीं है। हम अपनी संलग्नता को मानकर सुखी–दुखी होकर अशांत होते हैं। हम जब तक अपने को कर्ता मानते है ंतब तक जगत की क्रियाओं से अपने को संलग्न रखकर अशांत हुआ करते है। हम कर्ता नहीं हैं यह मानकर तथा प्रकृति कर्ता है यह जानकर जो कर्म होते हैं वे निरपेक्ष भाव से होते हैं। उनमें हम शांत रहते है। अशांत नहीं होते हैं। यह समझ हमें स्वयं ही शांत रखती है। प्रकृति के गुण ही कर्ता है।

यह जानकर हम जो कार्य करते हैं उससे शांति की स्वतः ही उपस्थिति रहती है। अपने को कर्ता मानकर जो कर्म करते हैं वे कर्म हमें अशांत करते हैं। जब हम अपने को कर्ता मान लेंगे तो हमारे कर्म का जो कुछ परिणाम है उससे हम प्रभावित रहेंगे। और प्रभावित रहकर अशांत रहेंगे। कर्तापन के भाव से पृथक हो जाने पर स्वतः ही शांति आ जाती है।

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' अर्थात् त्याग से तत्काल शांति प्राप्त हो जाती है। जब तक हम अपनी संपर्कित वस्तुओं तथा व्यक्तियों को अपना मानते है ंतब तक हम उनमें अपने स्वामित्व की कल्पना करते हैं। उन्हें अपना मानते हैं। जब हम किसी वस्तु को अपना मानते हैं तो हम उनके पतन में, उनके विनिष्ट होने में दुखी होते हैं और उनके विकास में सुख तथा प्रसन्नता का आभास करते हैं। संसार की किसी वस्तु को अपना न मानना, अपने शरीर को भी अपना न मानना ही त्याग कहा जाता है।

यह मानना ही नहीं वैसा ही व्यवहार भी करना है। जब वैसा व्यवहार करते है ंतो हम स्वामित्व के भाव से अपने को पृथक् कर लेते हैं। स्वामित्व के भाव से अपने को पृथक् करने से हमें तत्काल शांति प्राप्त हो जाती है। इस कारण यदि हमें शांति चाहिए तो समस्त वस्तुओं जो हमारे संपर्क में हैं उनमें स्वामित्व की भावना त्याग कर दें। हमें शांति प्राप्त हो जाएगी। यह अपने उद्धार की स्थिति है।

3–सर्दी–गर्मी में सम रहना– (शीतोष्णसम) –जलवायु का परिवर्तन प्रकृति का नियम है। कभी सर्दी कभी गर्मी यह स्थिति भी स्वतः ही आया करती है। उसके लिए मनुष्य को प्रयास नहीं करना पड़ता। बिना प्रयास के ही सर्दी गर्मी की परिस्थितियां आती रहती हैं। सर्दी की स्थिति प्राप्त होने पर हमारी इच्छा गर्मी के वातावरण में रहने की होती है तथा गर्मी के वातावरण में हम सर्दी के वातावरण में रहना चाहते हैं। इस स्थिति में अर्थात् सर्दी में और गर्मी में हमें उद्विग्नता का आभास रहता है। यह आभास प्रत्येक व्यक्ति को होता है। इसी कारण हम गर्मी में यह कहते हैं आज बड़ी गर्मी है, तथा सर्दी में यह कहते हैं आज बड़ी सर्दी है। क्योंकि दोनों परिस्थितियों का, वातावरण का प्रभाव रहता है। हम सभी सामान्य रूप इससे प्रभावित होते हैं। क्या यह स्थिति हो सकती है कि हम इससे प्रभावित न हो। योगी मनुष्य को ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है। वह शीत तथा ऊष्ण मौसम में सामान्य ही रहता है। उससे प्रभावित नहीं होता है। क्योंकि यह सब परिस्थितियां तो आनी जानी हैं। इस कारण उसे जाना समझकर ही योगी उससे प्रभावित नहीं होता। इस प्रकार शीत उष्ण में सम रहने वाला मनुष्य युक्त हो जाता है। योगी हो जाता है।

श्रीभगवान ने शीत उष्ण में सम रहने को कहकर ऐसी स्थिति की ओर संकेत किया है कि प्रत्येक स्थिति में मनुष्य को सम रहना चाहिए। परिस्थितियां परिवर्तित होती है परंतु मनुष्य को परिवर्तित परिस्थितियों में समता की स्थिति प्राप्त कर लेनी चाहिए। यदि समता की स्थिति प्राप्त न हुई तो मनुष्य अपना उद्धार नहीं कर सकता है। परिस्थितियों की प्रतिकूलता में जब मनुष्य परिवर्तित हो जाता है तो वह सामान्य मनुष्यों के जैसे व्यवहार में आता है, क्योंकि सामान्य मनुष्य ही प्रतिकूल स्थितियों में उद्विग्न होता है और अनुकूल स्थितियों में प्रसन्न रहता है। इस कारण अपने उद्धार के आकांक्षी को शीत उष्ण में सम रहना चाहिए।

4– सुख–दुख में समान रहना – (सम सुखदुःखेषु) –

शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि में अनुकूलता की परिस्थितियों में एक भाव उत्पन्न होता है जिसमें मनुष्य अच्छेपन का अनुभव करता है तथा उसे सुख मानता है। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि में प्रतिकूल स्थितियों में एक भाव उत्पन्न होता है, इसे मनुष्य दुख मानता है। मनुष्य न तो सदैव सुखी रहता है और न ही दुखी रहता है इसलिए ऐसा स्पष्ट है कि सुख दुख आने वाली स्थितियां हैं। किसी परिस्थिति के स्थिर

न होने से स्पष्ट हो जाता है कि स्थिति सदैव रहने वाली नहीं है। जैसे मनुष्य सदैव न तो रोता है और न ही सदैव हंसता है इस कारण हंसना और रोना आने वाली परिस्थितियों पर आधारित है। स्थिर रहने वाली नहीं है। सुख तथा दुख सदैव आने जाने वाली स्थितियां हैं। स्थिर रहने वाली नहीं हैं।

परमात्मा ने प्रत्येक प्राणी की रचना की है। इस कारण वह समस्त प्राणियों का जनक है। मनुष्य को भी उत्पन्न करने वाला है। इस कारण वह परमात्मा मनुष्यों का भी पिता है। कोई पिता अपने पुत्रों को दुखी कैसे रख सकता है? दुख कैसे दे सकता है? प्रत्येक पिता अपने पुत्र को सुखी रखना चाहता है। फिर मनुष्य दुखी क्यों है और उसके समक्ष प्रतिकूलताएं क्यों आती हैं? यह विचार स्वयं ही उत्पन्न होता है। इस विषय पर जब गंभीरता पूर्वक विचार होता है तो यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य कर्मों के आधार पर सुख और दुख को प्राप्त करता है। मनुष्य के कर्म ही उसे सुखी दुखी बनाते हैं तथा अनुकूल एवं प्रतिकूल स्थितियां उत्पन्न करते हैं। हम अपने कारण ही सुखी होते हैं और अपने कारण ही दुखी हो जाते हैं। सुख और दुख में हमारे अपने कर्म ही आधारभूत तथ्य है।

सामान्यतः एक मनुष्य प्रतिकूल स्थितियों में दुखी रहता है तथा अनुकूल स्थितियों में सुख की अनुभूति करता है। यह स्थिति प्रत्येक के साथ रहती है। जब सुख तथा दुख आने वाली स्थितियां हैं। अतः हमारे कर्मों के परिणाम स्वरूप आती जाती हैं तो इसमें हमें उद्विग्न होने की आवश्यकता नहीं है। सुख में प्रसन्नता की अनुभूति न करना और दुख में शोक की अनुभूति न करना ही अपना उद्धार करने की स्थिति है। यदि हमें अपना उद्धार करना है तो हमें सुख और दुख में एक समान रहना पड़ेगा। वह समता की स्थिति प्राप्त करनी पड़ेगी। यह स्थिति साधारणतयः नहीं आती है परंतु वास्तविकता के अनुभव के पश्चात आ जाती है। सुख है तो समाप्त होगा और दुख आ सकता है। इसी प्रकार दुख है तो समाप्त होगा और सुख आ सकता है। अवश्य आएगा। ऐसा भाव सुख दुख में मनुष्य को समझने में सहायता करता है।

एक साधक जब साधना के पथ पर चलना चाहता है तो उसे दुख में उद्वग्निता का आभास होता है। साधना का यह स्तर ऊंचा हो जाने पर साधक परमात्मा की सत्ता की अनुभूति करने लगता है तो उसमें दुखों में, प्रतिकूल स्थितियों में उद्यमिता का अभाव होने लगता है। उत्कृष्ट साधक में दुख को प्रकृति का कार्य समझ कर वो दुख में

उद्यग्न नहीं होता है। परमात्मा की सानिध्यता साधक में सुख का आभास स्वतः ही कराती है। इस कारण दुख का आभास स्वतः समाप्त हो जाता है। सच्चा साधक तो परमात्मा की सानिध्यता में ही रहता है। जिसमें मनुष्य दुख तथा सुख में एक समान हो जाता है। जो साधक दुख का तथा सुख का आभास एक समान करता है वह अपने को उत्कृष्ट साधना तक ले जाता है। यह सुख–दुख में एक समान समझने की स्थिति है।

5– मान अपमान में सम हो जाना– (सममानापमानयोः)–

अपने सुधार का पांचवा उपाय है, मान अपमान में सम हो जाना। मान सम्मान प्राप्त होने पर हमें प्रसन्नता की अनुभूति स्वतः एवं स्वाभाविक रूप से होती है। अतः अपमान होने पर शोक की उत्पत्ति भी अनायास ही हो जाती है। मान अपमान दोनों ही तथ्य प्रबल हैं। प्रत्येक मनुष्य सम्मान चाहता है तथा सम्मान के लिए नाना प्रकार के कर्म करता है। वैसे ही प्रत्येक मनुष्य अपमान नहीं चाहता है और उससे बचाव हेतु नाना प्रकार के कर्म करता है। मान पाने के लिए किए जाने वाले कर्म तथा अपमान से बचाव हेतु किए जाने वाले कर्मों से मनुष्य की आयु का अधिक समय बीत जाता है। उक्त दोनों कर्मों में संलग्नता अनायास ही रहती है। यह मान अपमान की प्रबलता है।

मनुष्य सम्मान पाने के लिए जो प्रयास करता है उसमें धन, संपत्ति, पद, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा की प्राप्ति के प्रयास सम्मिलित हैं। हमारे मन में यह तथ्य दृढ हो जाता है कि धन होगा तो सम्मान होगा, संपत्ति होगी तो सम्मान मिलेगा, पद के प्रभाव से सम्मान प्राप्त होगा, ऐश्वर्य होगा तो सभी लोग हमें स्वतः सम्मान देंगे। प्रतिष्ठा होगी तो वह सम्मान का एक रूप ही स्वतः है। अब आप विचार करें कि उपरोक्त वस्तु की प्राप्ति हेतु मनुष्य प्रयत्नशील रहता है। ये सब सम्मान पाने के लिए किए गए कर्म हैं। उपरोक्त तथ्यों को देखकर यह स्वयं समझा जा सकता है कि सम्मान की प्राप्ति कितने प्रयत्न से होती है। सम्मान न मिलने पर तथोउचित मान न किए जाने पर हम कितने उद्विग्न हो जाते हैं कि हमें हमारी स्थिति के अनुसार हमें सम्मान नहीं प्राप्त हुआ। इसमें हमारा अपमान हुआ हम ऐसा कहते हैं। यह सम्मान की प्रबलता है।

सम्मान प्राप्त करने हेतु लोग प्रयत्नशील रहते हैं उसी प्रकार हमारा अपमान न हो इसके लिए हम प्रयास करते हैं क्योंकि अपमान से हमें ग्लानि का आभास होता है। तथा मन में प्रतिकार की भावना अर्थात बदला लेने की प्रवृत्ति का प्रबल प्रार्दुभाव हो

जाता है। जैसे हम किसी व्यक्ति को अपमानित कर दे ंतो उसके मन में हमारे प्रति स्वतः ही द्वेष भाव उत्पन्न हो जाता है। अपमानित करने के कई प्रकार हैं। जैसे किसी व्यक्ति की परोछ अथवा अपरोछ रूप बुराई निंदा आदि करना, किसी को दुर्वचनों से पीड़ा पहुंचाना। अथवा किसी को बुरा भला कहकर अपमानित करना। या संपर्कित लोगों को अपमानित करके किसी विशेष व्यक्ति का अपमान करना। प्रत्येक कार्य में जब हम मनुष्य को अपमानित करते है ंतो उसके मन में हमारे प्रति घृणा का भाव स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है। यदि मनुष्य निर्बल हो तो वह मानसिक रूप से प्रतिकार का प्रयास करेगा और यदि सबल हो तो अपने अपमान का प्रतिकार प्रस्तुत करेगा। इन समस्त तथ्यों से अपमान की प्रबलता का सहज आभास होता है।

श्रीभगवान ने मान तथा अपमान में सम होने का तथ्य कहा है। यह स्थिति क्या प्राप्त की जा सकती है? आपने साधु संतों को भी मान तथा अपमान से प्रभावित होते हुए देखा होगा। यह तथ्य स्पष्ट करता है कि मान तथा अपमान में सम भाव प्राप्त करना बहुत ही कठिन कार्य है। सहजता से यह स्थिति प्राप्त करना संभव नहीं है। मान तथा अपमान में सम होने के बारे में एक तथ्य पर विचार करें कि हमें मान तथा सम्मान हमारे अपने स्वयं के कर्मों के आधार पर ही प्राप्त होता है। यदि हमने किसी को अपमानित किया है तो हम अवश्य ही अपमानित किए जाएंगे और यदि हमने किसी को सम्मान प्राप्त किया है तो हम अवश्य ही सम्मानित किए जाएंगे। यह भाव जब प्रबल हो जाता है तो मान और अपमान में धीरे धीरे सम होने की स्थिति प्राप्त हो जाती है। हम ऐसी स्थिति में किसी को अपमानित करने का कार्य भी छोड़ देते हैं तथा मान मिलने पर प्रसन्न नहीं होते हैं और अपमान होने पर ग्लानि का आभास नहीं करते हैं। यह स्थिति उच्च कोटि के साधकों द्वारा ही प्राप्त होती है और मनुष्य के उद्धार में हेतु करी जाती है।

6–ज्ञान विज्ञान से तृप्त होना – (ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा) –

परमात्मा की सानिध्यता प्राप्त कर लेना और उसकी अनुभूति कर लेना ही ज्ञान है तथा जिस उपाय से परमात्मा की सानिध्यता प्राप्त होती है और उसकी अनुभूति हो जाती है उस उपाय को विज्ञान समझना चाहिए। संसार में जितने प्रकार के ज्ञान हैं वे सब संसारिक होने के कारण उनकी सीमाएं हैं। इस संसारिक ज्ञान से जगत् की उपलब्धि हो जाती है। चाहें किसी प्रकार का संसारिक ज्ञान हो उसका उद्देश्य संसार

को प्राप्त करना ही होता है। इस कारण ज्ञान की परिभाषा में संसारिक ज्ञान को नहीं रखा जा सकता है। परमात्मा की सान्निध्यता मिल जावे तथा उसकी अनुभूति हो जावे तो मनुष्य का सहज ही उद्धार हो जाता है। इस कारण ज्ञान के विषय में एक ही तथ्य स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि मनुष्य को उस सर्वशक्तिमान, सर्व व्यापक परमात्मा का आभास कर लेना है। अन्य किसी प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि हमने कर भी ली तो वह ज्ञान की परिभाषा से वर्णित नहीं किया जा सकता है। ज्ञान अनुभूति की परख कैसे होती है? कि हम ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। इसके क्या लक्षण है? इन लक्षणों का अवलोकन कीजिए।

क– निस्पृह हो जाना– संसार की प्रत्येक वस्तु की आवश्यकता का समापन होना ही स्पृहारहित हो जाना है। साधक जब जगत की किसी वस्तु की आवश्यकता का रंच मात्र भी आभास नहीं करता है तो वह निःस्पृह कहा जाता है। जगत की आवश्यकता में जगत का आश्रय भी सम्मिलित होता है। जब तक जगत का आश्रय रहता है तब तक जगत की वस्तुओं की आवश्यकता रहती है। और यह आवश्यकता ही साधक को निस्पृह नहीं होने देती है और तब तक साधक ज्ञान से तृप्त नहीं हो सकता। साधक इस तथ्य की परख स्वयं कर सकता है कि हमें जगत की आवश्यकता रही अथवा नहीं रही। जगत के आश्रय का तथा उसकी आवश्यकता का परित्याग कर देने से परमात्मा का आभास होने लगता है, क्योंकि साधक को परमात्मा की आवश्यकता की प्रतीति होती है तब वह परमाश्रय ग्रहण कर लेता है। निस्पृह साधक ज्ञान विज्ञान से तृप्त हो जाता है।

ख – निरहंकार हो जाना– अहंकार रहित होने पर भी परमात्मा की अनुभूति हो जाती है क्योंकि परमात्मा की अनुभूति अर्थात् स्व स्वरूप में स्थिति होने में अहंकार नामक तत्त्व ही प्रमुख बाधक है। मनुष्य को अपनी संपर्कित वस्तुओं, व्यक्तियों, शरीर में बल तथा सामर्थ्य आदि का अहंकार रहता है। मनुष्य जब तक किसी भी अहंकार से आवृत रहता है तथा उसका आभास करता है तब तक उसे परमात्मा की अनुभूति नहीं हो सकती। परमात्मा की अनुभूति में अहंकार की बाधा इस कारण है कि हम अहंकार के वशीभूत होकर परमात्मा की सर्वशक्तिमान सत्ता की उपेक्षा करते हैं तथा अपनी तुच्छ सत्ता का आभास करते हैं और उसी के आश्रय में रहते हैं। ऐसी स्थिति में वह सर्वशक्तिमान परमात्मा हमसे दूर हो जाता है। इस कारण यदि हम निरहंकारी हो जाएंगे तो भी हम ज्ञान विज्ञान से तृप्त होकर परमात्मा की अनुभूति कर लेंगे।

ग–ममता रहित हो जाना– यह संपूर्ण जगत धीरे धीरे समाप्त हो रहा है और विनाश की ओर निरंतर उन्मुख तथा अग्रसर है। एक न एक दिन जो वस्तु या व्यक्ति हमारी हैं अर्थात् हमारे पास हैं वे समाप्त हो जाएगे। इसे हम रोक नहीं सकते हैं। हमें हमारी जिन वस्तुओं तथा संपर्कित लोगों से ममता है वह क्षणिक ही हैं और ममता के कारण ही मनुष्य सुख और दुख का आभास करता है। जब मनुष्य को अपनी संपर्कित वस्तुएं मिल जाती हैं तो वह प्रसन्न हो जाता है और सुख का आभास करता है। इसी प्रकार जब हमारी संपर्कित वस्तुओं तथा संपर्कित लोगों का अभाव तथा वियोग होता है तो हम दुखी हो जाते हैं। यह सुख और दुख हमें ममता के कारण ही होता है। जब हम संपर्कित व्यक्तियों व वस्तुओं को विनाशशील मानकर उनसे व्यवहार करते हैं और उनमें आसक्त नहीं होते है ंतो हमारी ममता उनके प्रति कम हो जाती है और यथार्थ बोध के उपरांत समाप्त हो जाती है। इस कारण यदि साधक संसार की विनाशशील व्यक्तियों और वस्तुओं के प्रति मोह का परित्याग कर दे तो भी वह ज्ञान और विज्ञान से तृप्त हो जाता है और परमात्मा की अनुभूति कर लेता है।

घ– कामनाओं का त्याग कर लेना– कामनाऐं ही मनुष्य के बंधन का हेतु होती हैं। कामनाओं के अधीन रहकर ही मनुष्य नाना प्रकार के संसारिक कृत्य करता रहता है। इस कारण ज्ञान की प्राप्ति में कामनाऐं ही प्रमुख बाधक समझी जाती हैं। हमारी इन्द्रियां मन तथा बुद्धि ही कामनाओं के वास स्थान कहे जाते हैं अर्थात् समस्त कामनाऐं हमारी इन्द्रियों तथा मन और बुद्धि में रहती हैं। इस कारण कामनाओं के समापन हेतु हमें कामनाओं को इन्द्रियों, मन और बुद्धि से निकालना पड़ता है। जब तक कामनाएं मन और बुद्धि में रहती हैं तबतक वहां पर ज्ञान का प्रवेश नहीं हो सकता। क्योंकि हमारी संलग्नता कामनाओं की पूर्ति होती रहती है। जब संसारिक कामनाएं समाप्त हो जाती हैं तो हम परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा करते हैं और परमात्मा की ओर उन्मुख होकर उसके आभास का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार साधक जब कामना रहित हो जाता है तो भी वह वास्तविक ज्ञान का अर्जन कर लेता है। इस प्रकार ज्ञान की अनुभूति के कुछ साधनों का उल्लेख हुआ।

ड– विज्ञान से तृप्त होना क्या है?– विज्ञान में परमात्मा की उपलब्धि के उपायों को सम्मिलित किया जा सकता है। परमात्मा की उपलब्धि व उसकी सानिध्यता प्राप्त करने तथा उसका साक्षात् अनुभव करने के अनेक साधन हैं। हम संसार में रहकर संसार के

विषयों का चिंतन करते रहते हैं। संसार के जितने भी विषय हैं वे सब के सब हमें संसार की उपलब्धि हेतु ही प्रेरित करते हैं। हमारा चिंतन जब तक संसार की ओर उन्मुख रहता है तब तक हम संसार को प्राप्त करने के प्रयास में रत रहते हैं। यही चिंतन परमात्मा के विषय में यदि होने लगे तो हम परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाते हैं। वर्तमान में हमारा चिंतन संसार की ओर है जिससे हम संसार को प्राप्त कर रहे हैं और संसार हमें प्राप्त है। इसी प्रकार जब हम समग्रता से परमात्मा के विषय में विचार करते लगते है ंतो परमात्मा हमें सुलभ हो जाता है।

परमात्मा तो सुलभ है परंतु हम परमात्मा के बारे में चिंतन ही नहीं करते हैं। हम तो संसार के बारे में विचार करते रहते हैं इस कारण संसार हमको सुलभ हो जाता है। परमात्मा के बारे में विचार करने से परमात्मा की सानिध्यता हमें प्राप्त होने लगती है। परमात्मा चूंकि हमारे हृदय में विराजमान है हम उसकी विराजमानता का आभास करने का प्रयास करें। हम आज तक उसकी उपेक्षा करते रहते हैं और ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे परमात्मा हमारे हृदय में विराजमान नहीं हैं।

यदि हम इसके प्रतिकूल उसकी हृदय में स्थिति का आभास करें और उसका चिंतन करें तो हमें उसकी स्थिति का अनुभव होगा। धीरे–धीरे हमारा चिंतन परिपक्व होता जाएगा अर्थात् हम परमात्मा के बारे में ही उसकी स्थिति के विषय में विचार करेंगे तो हम ज्ञान विज्ञान से तृप्त हो जाएंगे। परमात्मा के अनुभूति तथा उसकी अनुभूति के साधन में एकरूपता आ जाती है और तब साधक ज्ञान विज्ञान से तृप्त हो जाता है तथा साधक अपना उद्धार कर लेता है।

7– कूट की तरह स्थित होना– (कूटस्थः) –

प्रत्येक मनुष्य प्रतिकूल स्थितियों में विचलित हो जाता है यह विचलन तब और बढ जाती है जब मनुष्य की स्थितियां प्रतिकूल से प्रतिकूलतम् होती जाती हैं। मनुष्य की सर्वाधिक मूलभूत आवश्यकता भोजन और यदि भोजन ही कठिनता से प्राप्त हो तो मनुष्य का विचलित होना स्वाभाविक ही है। अन्य प्रकार की प्रतिकूलताऐं भी हैं जिससे मनुष्य विचलित हो जाता है।

मनुष्य के पास बहुत धन संपत्ति हो और वह चली जाए कतिपय कारणों से समाप्त हो जाए तो उसका विचलित होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति का

संसारिक पद है और वह पद किसी कारण से चला जाए तो वह व्यक्ति विचलित हो जाता है। राज्य, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य आदि के चले जाने पर भी मनुष्य विचलित हो जाता है। अनेक प्रकरणों में आपने सुना होगा कि धन, संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, पद आदि के चले जाने पर मनुष्य आत्महत्या तक कर लेता है। मनुष्य के लिए मृत्यु सर्वाधिक प्रबल भय है और जब मनुष्य आत्महत्या उक्त कारणों से करता है तो लगता है कि वह अत्यंत विचलित हो गया और उसने सर्वाधिक भययुक्त स्थिति का चुनाव कर लिया।

धन, संपदा, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा, कीर्ति, राज्य सब कुछ चले जाने के पश्चात रंच मात्र भी विचलित नहीं होता वह कूटस्थ कहलाता है। अर्थात् कूट की तरह से स्थित रहता है। कूट का शाब्दिक अर्थ निहाई होता है। निहाई वह वस्तु है जिसे लोहार व सोनार आदि धातुओं को पीटने के लिए आधार की तरह से प्रयोग करते हैं। निहाई पर हथौड़े से अनेक वार चोट किए जाने पर वह अपनी स्थिति से परिवर्तित नहीं होता है वैसे ही जो मनुष्य कूटस्थ है वह संसारिक झंझावतों, समस्याओं, धन, पद, संपदा, ऐश्वर्य, राज्य आदि के चले जाने पर विचलित नहीं होता है वह कूटस्थ की तरह रहकर अपना उद्धार कर लेता है। कूट की स्थिति प्राप्त करना भी कोई सहज कार्य नहीं है। क्योंकि हम छोटी सी छोटी बातों में भी उद्विग्न हो जाते हैं और मानसिक रूप से परेशान रहते हैं। इस प्रकार कूटस्थ की स्थिति विशेष स्थिति है जो सहजता से प्राप्त नहीं हो सकती। जो साधक अपना उद्धार चाहता है उसे यह स्थिति प्राप्त कर लेनी चाहिए।

8– इन्द्रिय विजयी हो जाना (विजितेन्द्रियः) –

दो प्रकार की इन्द्रियों का उल्लेख पूर्वोक्त प्रकार से हो चुका है। इन्द्रियां दो प्रकार की होती हैं। एक ज्ञानेन्द्रिय दूसरी कर्मेन्द्रिय कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका ज्ञानेन्द्रिय हैं तथा वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा कर्मेन्द्रियां हैं। कर्ण अर्थात् कानों को मधुर गीत संगीत का संयोग हो अथवा मधुर वाणी सुनाई दे तो उससे कर्ण प्रभावित न हो। यह कर्णेन्द्रिय का विजयी होना है। सुंदर वस्तु व्यक्ति आदि दिखाई पड़े तो उससे हमारी आंखें प्रभावित न हो तो यह नेत्रेन्द्रिय का विजयी होना है। सुस्वाद भोजन को देखकर हमारी जिह्वा उसको ग्रहण न करना चाहे और सुस्वाद भोजन और साधारण भोजन में एक भाव रखकर तो यह स्वादेन्द्रिय की विजयी है। त्वचा कोमल तथा कठोर वस्तु को एकसमान ग्रहण करे अर्थात कोमलता में सुख का आभास न करे और कठोरता में कष्ट के अनुभव से विलग रहे तो ये स्पर्श इन्द्रिय पर विजयी प्राप्त करना है।

नासिका जब सुगंध में और दुर्गंध में एक भाव से व्यवहार करे और विभिन्न प्रकार की सुगंधों के प्रति आकर्षित न हो तो इसे ध्राणेन्द्रिय की विजयी मानना चाहिए। वाणी से मृदुभाषिता रहे और क्रोध आदि कठोर वाणी का सर्वथा परित्याग रहे तो यह वाक् इन्द्रिय की विजयी माननी चाहिए। हाथों और पैरों की समस्त क्रियाएं दूसरों की भलाई और सेवा के लिए हो तथा दूसरों के अहित एवं उत्पीड़न के लिए न हो तो यह हस्त पाद नामक कर्मेन्द्रिय की विजयी है। उपस्थ एवं पायु से समयानुकूल मल मूत्र का परित्याग रहे और मैथुन पर संयम रहे तो इनसे उपस्थ एवं पायु नामक कर्मेन्द्रिय पर विजयी मानना चाहिए। समस्त इन्द्रियों के अधिपति अर्थात् स्वामी मन के द्वारा संसारिक विषयों का विचार और उनका पूर्ण परित्याग तथा एकमात्र परमात्मा के विषय में चिंतन होना ही मन के विजयी होने का लक्षण है। जो मनुष्य इन्द्रिय विजयी हो जाता है वह परमात्मा के अस्तित्त्व की अनुभूति कर लेता है तथा अपने उद्धार का उपाय भी खोज लेता है। इन्द्रिय विजयी होना भी कोई सहज स्थिति नहीं है। यह बड़े प्रयास से प्राप्त हो पाती है क्योंकि मनुष्य की इन्द्रियां और मन बहुत ही चंचल और प्रमथनशील स्वभाव की हैं। इस कारण उनकी उन्मुखता उसके अपने विषय की ओर ही स्वाभाविक रूप से होती है। विषय भोगों की उन्मुखता तथा प्रवृत्ति ही मनुष्य को इन्द्रिय विजयी नहीं होने देती। जैसे नाव में एक भी छिद्र होने पर नाव डूब जाती है वैसे ही एक भी इन्द्रिय असंयमित होने पर मनुष्य पतन की ओर स्वतः ही अग्रसर हो जाता है। इस कारण इन्द्रियों को संयमित कर लेना अपना उद्धार करना है।

9– मिट्टी, स्वर्ण, पत्थर के टुकड़े में समभाव रखना (समलोष्टाश्मकाञ्चनः)–

सामान्यतः मनुष्य मूल्यवान वस्तुओं के प्रति आकर्षित रहता है अर्थात् मूल्यवान वस्तुएं मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट रखती हैं। सोने, हीरे, जवाहरात आदि को इसी कारण संकलित करने का प्रयास मनुष्य करता है। उसके प्रति कई भाव होते हैं। जैसे सुख की प्रतीति रहना, ऐश्वर्य का प्रदर्शन, समाज में सम्मान, धनपति के रूप में प्रतिष्ठा आदि होने की ललक। इसके अतिरिक्त कई भाव मनुष्यों के मन में स्वतः ही रहते हैं। इसी कारण मनुष्य के मन में मूल्यवान वस्तुओं के प्रति मोह रहता है और आकर्षण का भाव बना रहता है। इसके प्रतिकूल मन में मिट्टी तथा पत्थर के टुकड़े हेतु उपेक्षा भाव रहता है। क्योंकि वे मूल्य रहित वस्तुएं हैं। उनके संग्रह से कोई सामाजिक तथ्य हल नहीं हो सकता है। मिट्टी का टुकड़ा, पत्थर का टुकड़ा, स्वर्ण का टुकड़ा, हीरा आदि

के मूल्य एक दूसरे से पृथक् पृथक् हैं परंतु जो साधक इसकी वास्तविकता को जान जाता है तो वह सभी के प्रति एकसमान भाव रखता है। यह स्थिति भी शीघ्रता से प्राप्त नहीं होती और कठिनता से प्राप्त होने वाली है। जो साधक स्वयं का उद्धार चाहता है वह मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण के टुकड़े में एकसमान भाव रखता है।

उपरोक्त प्रभाव से जिन नौ परिस्थितियों का वर्णन हुआ है उनके अनुसरण से मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है तथा परमात्मा की अनुभूति कर सकता है। परमात्मा में समाहित होने का अर्थ परमात्मा की अनुभूति कर लेना है। सुख दुख, मान अपमान, सर्दी गर्मी को एक समान समझना ही त्रिगुणातीत की स्थिति है। अन्य जो साधन हैं वे सहजता से प्राप्त नहीं हो सकते। यह बहुत विलक्षण स्थितियां हैं साधक स्वयं भी उन स्थितियों को समझ सकता है। उक्त नौ स्थितियों को प्राप्त करने वाला पुरूष योगी हो जाता है। युक्त होने का यही अभिप्राय है। युक्त मनुष्य परमात्मा की अनुभूति करता है और अयुक्त संसार में रहकर संसार की अनुभूति करता है। मनुष्य यदि अपना उद्धार चाहता है तो उक्त नौ स्थितियों को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।

श्लोक पांच की अवशेष व्याख्या–

2–अवसाद न करने का क्या अर्थ है?– (न अवसादयेत)

प्रत्येक मनुष्य अपनी आस्था तथा विचारों के आधार पर जीवन जीता है। जीवन जीने में उसकी स्थिति तथा आस्था ही आधार होते हैं। सात्त्विक मनुष्य श्रद्धा अनुसार शुभ कर्मों में व्यस्त रहता है, राजसी मनुष्य कामनाओं की पूर्ति में संलग्न रहता है तथा तामसी मनुष्य अज्ञानता के अंधकार में रहकर दुष्कर्मों का क्रियान्वयन किया करता है। सात्विक, राजस तथा तामस मनुष्यों की स्थिति अपने कर्मानुसार ही होती है।

मनुष्य की जो स्थिति है उससे यदि वह गिरता है तो इसे अवसाद होना कहते हैं। सात्त्विक मनुष्य अपनी कामनाओं तथा भोगों में संलग्न रहकर राजसी प्रकृति का हो जावे तथा राजसी मनुष्य दुष्कर्म एवं हिंसादि कर्म करके तामसी प्रकृति का हो जावे और तामसी मनुष्य अत्यंत घृणित सर्वाधिक त्याज्य कर्मों में लिप्त हो जावे तो इसे अवसाद ही कहा जाएगा। अपनी स्थिति से नीचे गिरना अवसाद कहा जाता है।

इसके प्रतिकूल तामसी मनुष्य राजसी प्रकृति में और राजसी मनुष्य सात्विक प्रकृति में अपने को परिवर्तित कर ले तो यह उसका उद्धार की ओर उन्मुख होना कहा

जाता है। श्री भगवान ने कहा कि अवसाद न करें इसका यही अर्थ है कि मनुष्य को अपने स्थिति से निम्न स्थिति में नहीं गिरना चाहिए वरन् अपनी स्थिति में विकास करना चाहिए। यह अवसाद क्यों और किन कारणों से होता है? इस पर विचार करना आवश्यक है। इस विषय में कुछ विचार प्रस्तुत हैं। कृपया उनका अवलोकन कीजिए–

क– अवसाद प्रकृति के कारण होता है–

मनुष्य की प्रकृति ही रजोगुणी है जैसे किसी वस्तु को ऊंचाई से छोड़ा जावे तो वह स्वच्छंद होने के कारण नीचे की ओर गिरती है। इसी प्रकार जब मनुष्य भी स्वच्छंद और अनियंत्रित हो जाता है तो उसकी रजोगुणी प्रवृत्ति उसे कामनाओं और भोग वृत्ति की ओर ढकेलती हैं। कामनाओं के जाल में फंसकर वह स्वच्छंदता पूर्वक आचरण करता है और अपनी स्थिति से स्वतः ही गिर जाता है। कामनाओं की प्राप्ति के प्रयास में जब मनुष्य अनैतिक कर्मों का आश्रय ग्रहण कर लेता है तो वह अपनी स्थिति से स्वतः ही गिर जाता है। सात्विक गुण प्रधान मनुष्य भी कामनाओं के आश्रय से शास्त्र विरूद्ध कर्मों को करने लगता है। यही कारण है कि वह अपनी स्थिति से नीचे गिर जाता है। सात्विक राजसी तथा राजसी मनुष्य तामसी बन जाता है। यह सब त्रिगुणी प्रकृति के कारण होता है। परमात्मा ने मनुष्य को राजसी प्रकृति का बनाया है। इस कारण वह सुख भोगों में सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार अवसाद का एक कारण मनुष्य की प्रकृति है।

ख– अवसाद संगति के कारण होता है–

मनुष्य जैसी संगति करता है वैसे ही उसके क्रियाकलाप हो जाते हैं। जैसे एक गुणी मनुष्य अवगुणी का साथ करता है तो उसमें उसके संग के कारण अवगुण स्वतः ही आने लगते हैं। बहुत कम मनुष्य अवगुणी मनुष्यों का साथ करके उसमें प्रवृत्त नहीं होते हैं। मनुष्य अपने साथी के क्रियाकलापों को देखता है और उस पर विचार करता है तथा यदि उसे अवगुणों में प्रियता की प्रतीति होती है तो वह स्वतः ही अवगुणों को धीरे धीरे ग्रहण कर लेता है जो उसके साथियों में होती है। इस कारण विवेकी जन अवगुणी मनुष्यों का साथ नहीं करते हैं। वे अवगुणी मनुष्यों से घृणा तो नहीं करते हैं परंतु उनके अवगुणों को ग्रहण नहीं करते हैं। मनुष्य संगति से अवगुणों का ग्रहण न करे यह कठिन स्थिति है। संगति का प्रभाव मनुष्य पर अधिकांशतः पड़ता है। अधिकतर संगति से अवगुण स्वतः ही आ जाते हैं। इस कारण अवसाद का प्रमुख कारण संगति है।

ग– अवसाद दुर्गुणों के कारण होता है– मनुष्य जब दुर्गुणों में पड़ जाता है अर्थात् मनुष्यों में जब किन्हीं कारणों से दुर्गुण आ जाते हैं तो वह अपनी स्थिति से नीचे गिर जाता है। कुछ दुर्गुणों का वर्णन नीचे किया जा रहा है जिसके कारण मनुष्य अपनी स्थिति से गिरता है।

1– राग– जगत की वस्तुओं तथा विषयों में अच्छापन सा प्रतीत होता है। उसमें जो आनंद की अनुभूति होती है उसी को राग कहा जाता है। राग बहुत ही प्रधान अवगुण है, क्योंकि वह ऐसे समाप्त नहीं होता है। परमात्मा की अनुभूति होने पर ही समाप्त होता है। सांसारिक विषयों में यदि सुख का आभास न होता तो मनुष्य उसे पुनः पुनः करने की आकांक्षा और चेष्टा न करता। संसारिक विषयों के बार–बार ग्रहण करने की जो इच्छा होती है वह राग के कारण ही होती है। राग रूपी अवगुण भी हमारी स्थिति को गिराने में एक कारण है।

2–स्पृहा– कामनाएं अनंत हैं और उन कामनाओं की पूर्ति के साधन भी इसी कारण अनंत हैं। मनुष्य जितना विकसित हुआ उसने विकास के साथ अपनी कामनाओं को भी विकसित कर लिया। जब कामनाएं विकसित हो जाती है तो उनकी पूर्ति के साधन भी हमें जुटाने पड़ते हैं। एक साधन की प्राप्ति के पश्चात दूसरे की उपलब्धता का प्रयास होने लगता है। उसे स्पृहा कहते हैं। स्पृहा रूपी दोष में फंसा हुआ मनुष्य कामनाओं की पूर्ति में प्रयत्नशील रहता है तथा उसे अनेक वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीती होती है और यह प्रतीति निरंतर रहती है। इस कारण स्पृहा रूपी दोष से आवृत मनुष्य स्वतः ही अपनी स्थिति से गिर जाता है और पतन की ओर जाता है। इस कारण स्पृहा भी अवसाद का एक कारण है।

3–तृष्णा– जैसे मनुष्य को प्यास लगती है तो वह पानी पीकर वह प्यास बुझाता है। पुनः प्यास लगती है तो उसे जल की आवश्यकता का आभास होता है। इसी प्रकार जब भूख लगती है तो भोजन ग्रहण करके अपनी क्षुधा की निवृत्ति कर लेता है। यह प्यास लगना और भूख लगना एक प्रकार की तृष्णा है। इसी प्रकार की तृष्णा संसारिक भोगों में रहती है। जिसके कारण मनुष्य संसारिक भोगों की प्राप्ति में और उनके संयोग में तृप्ति की अनुभूति करता है। परंतु पुनः उसे संसारिक भोगों की प्राप्ति की इच्छा होती है। यह भोगों की इच्छा एक प्रकार का अवगुण है जिससे मनुष्य अपने को संसारिक भोगों में संलग्न रखता है और निरंतर अपनी स्थिति से नीचे गिरता जाता है जो लोग

भोगों से अपने को पृथक् कर लेते हैं वे लोग तृष्णा से पृथक् हो जाते है। इस प्रकार तृष्णा भी अवसाद का एक कारण है।

4—दंभ— दंभाचरण भी एक प्रकार का अवगुण है जिससे मनुष्य को अवसाद हो जाता है जिससे मनुष्य गिर जाता है। हमारी जो आर्थिक सामाजिक स्थिति होती है और जो भी प्रतिष्ठा ऐश्वर्य पद प्राप्त होता है वह परमात्मा की ओर से ही प्राप्त होता है। अतः उसका आधार हमारे कर्म ही हैं। हमारी जो भी स्थिति है उससे अधिक प्रदर्शित करना दंभाचरण कहा जाता है। वैसी स्थिति का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए क्योंकि वह किसी की दी हुई है। कहीं से हमें प्राप्त हुई है। यदि हम उसका प्रदर्शन बढ़ा चढ़ा कर करते है ंतो दंभाचरण रूपी दोष से आवृत हो जाते हैं। उससे हमारी स्थिति में ह्रास हो जाता है और अवसाद रूपी अवगुण से त्रस्त हो जाते हैं।

5— संसार की लुभावनी वस्तुओं को देखकर उनके पाने तथा भोगने इच्छा लोभ कहलाती है। हमारे पास जो भी है, जो भी वस्तुएं धन, संपदा आदि हैं उसमें संतुष्टि का भाव न रहना और चाहने की इच्छा करना ही लोभ है। लोभ ग्रस्त मनुष्य संसार की असीमित वस्तुओं तथा धन संपदा को पाना चाहता है। वह इसी के प्रयास में लगा रहता है। लोभ को प्रभावशाली अवगुण माना गया है। क्योंकि श्रीभगवान ने काम तथा क्रोध के साथ लोभ रूपी अवगुण की प्रबलता का उल्लेख किया है और इसके त्यागने का आदेश दिया है। जब मनुष्य इस लोभ रूपी अवगुण से आवृत हो जाता है तो वह अपना पतन स्वतः ही कर लेता है तथा अपने श्रेय साधन से गिर जाता है। यह लाभ रूपी अवगुण भी मनुष्य के अवसाद का एक प्रमुख कारण है।

6— क्रोध— क्रोध वह भाव है जो कामनाओं में बाधा बनने के कारण उत्पन्न हो जाता है। जब तक मनुष्य में कामनाएं रहती है ंतब तक क्रोध भी रहता है क्योंकि क्रोध का मूल कारण कामनाएं हैं। क्रोध का उत्पन्न होना रजोगुण के कारण माना जाता है परंतु उसका परिणाम तमोगुणी होता है। कामनाओं को रजोगुणी माना जाता है। इस कारण क्रोध भी रजोगुणी होता है। क्रोध का परिणाम इस कारण तमोगुणी माना जाता है क्योंकि क्रोध रूपी भाव से ग्रस्त मनुष्य अपना विवक खो देता है और विवेकहीन आचरण करता है। विवेकहीन आचरण से वाणी का संयम समाप्त हो जाता है और हिंसादि कर्म होते हैं। इस प्रकार क्रोध रूपी अवगुण को भी अवसाद का एक कारण मानना चाहिए।

7– द्वेष– दूसरों के विकास को देखकर, अपने से श्रेष्ठ जनों को देखकर या जानकर तथा अपनी कामनाओं की पूर्ति में बाधा रूप समझकर अन्य लोगों के प्रति मनुष्यों के मन में एक भाव की उत्पत्ति हो जाती है जिसे द्वेष कहा जाता है। द्वेष की क्रियाविधि व प्रभाव बहुत ही प्रबल होता है तथा उसमें सूक्ष्मता का गुण होता है। इसी कारण लगभग सभी मनुष्य इस द्वेष रूपी अवगुण से आवृत रहते हैं। द्वेष भाव से मुक्त होना यह बड़ी ही कठिन एवं दुष्तर स्थिति है। सहजता पूर्वक मनुष्य इस भाव से मुक्त नहीं हो सकता है। द्वेष मनुष्य के पतन अर्थात् नीचे गिरने वाली स्थिति में एक मुख्य कारण माना जाता है। द्वेष के प्रभाव से कभी कभी भीषण हिंसादि कर्म भी हो जाते हैं।

8– असूया– दूसरों के अवगुणों को देखना तथा उसकी व्याख्या करना असूया कहा जाता है। मनुष्य की यह प्रकृति होती है कि वह दूसरों के अवगुणों की खोज करता है व उसकी व्याख्या किया करता है। स्वयं में चाहे जितने अवगुण हो परंतु वह दूसरों के छोटे अवगुणों के बारे में खोज करता है तथा उनका प्रचार करता रहता है। जब तक मनुष्य में यह प्रवृत्ति रहती है तब तक वह अपने को दूसरों से उत्कृष्ट माना करता है और दोष खोजा करता है। यह प्रवृत्ति ही मनुष्य के अवसाद का कारण बनती है।

9– द्रोह– दूसरों के प्रति शत्रुता भाव का रहना द्रोह कहा जाता है। मनुष्य के अंतःकरण में किसी कारण से अथवा अकारण भी शत्रुता का भाव आ जाता है। जब कोई मनुष्य हमारी तथा हमारे से संपर्कित व्यक्तियों की हानि करता है अथवा हानि पहुंचाने की चेष्टा करता है तो हमारे अंतःकरण में शत्रुता का भाव उत्पन्न हो जाता है और हम भी उसको हानि पहुंचाने की चेष्टा करते हैं। वैसे परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार न तो हम किसी की हानि कर सकते हैं और न ही हमारी कोई हानि कर सकता है। इस कारण किसी के प्रति हमें शत्रुता का भाव नहीं रखना चाहिए। द्रोह भी मनुष्य के अवसाद अर्थात् पतन का एक कारण है।

10– अहंकार– अहंकार अपरा प्रकृति का आठवां तत्त्व है तथा बहुत ही प्रबल है। यह तत्त्व बुद्धि से भी सूक्ष्म है। अहंकार के वशीभूत होकर मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करता है। अहंकार के असंख्य प्रकार हैं। अहंकार से मनुष्य को अपने अस्तित्त्व तथा मै और मेरे पन की प्रतीती होती है। अहंकार से ग्रस्त मनुष्य अपने हित कल्याण का उपाय विचार नहीं कर सकता है। जब तक अहंकार रूपी विष का थोड़ा सा अंश भी हमारे शरीर में

रहता है तब तक मनुष्य को अपनी मुक्ति की आशा नहीं करनी चाहिए। अहंकार रूपी तत्त्व मनुष्य के अवसाद का एक प्रमुख कारण है।

11– मिथ्या ज्ञान– वास्तविक ज्ञान का न होना अथवा प्रतिकूल ज्ञान का होना ही मिथ्या ज्ञान कहा जाता है। जैसे किसी स्थान पर पहुंचने के लिए उस स्थान के सम्यक् पथ के ज्ञान की आवश्यकता होती है। यदि हम पथ का सम्यक् ज्ञान नहीं रखते है ंतो हम अभीष्ट स्थान तक नहीं पहुंच सकेंगे। इसी प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान से तत्त्व दर्शन की अभीष्ट यात्रा पूरी करते हैं। इस कारण यदि हमें सम्यक् आध्यात्मिक ज्ञान नहीं होता है तो इसे ही मिथ्या ज्ञान कहा जाता है। मिथ्याचरण के कारण मनुष्य अनेक प्रकार के कृत्यों को करता है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती है। ऐसी स्थिति में वह अपनी स्थिति से गिर जाता है। इस कारण मिथ्याज्ञान को भी अवसाद का एक कारण भी मानना चाहिए।

12– संशय– किसी ज्ञान के बारे में जब हमें संदेह रहता है अथवा भ्रम हो जाता है कि यह ज्ञान सही अथवा नही ंतो इसे संशय कहा जाता है। संशय से ग्रस्त मनुष्य अपना कल्याण नहीं करता सकता है। शास्त्रों के सम्यक् ज्ञान और परमात्मा के निरंतर नाम जप तथा तत्त्दर्शी गुरू की शरण में जाने से समग्र प्रकार के संशयों की समाप्ति हो जाती है। इसके लिए साधक को प्रयत्न भी करना पड़ता है। संशय जब तक निवृत्त नहीं होता तब तक मनुष्य को तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। संशय की पूर्णनिवृति तत्त्वज्ञान की उपलब्धि माना जाता है। इस प्रकार संशय भी अवसाद का एक कारण है।

13– प्रमाद– कर्तव्य कर्मों को करने में रूचि न लेना और व्यर्थ के कार्य करना ही प्रमाद कहा जाता है। मनुष्य अधिक समय अनावश्यक कामों में बर्बाद करता है। तत्त्व ज्ञान की उपलब्धि प्रयास से होती है। अनायास नहीं होती है। इसके लिए निरंतर कर्म करना पड़ता है। अर्थात् अपना उद्धार करने के लिए शास्त्र संगत कर्मों का निरंतर किया जाना परमावश्यक है। इसमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। अवसाद करने में शास्त्र संगत कर्मो का न किया जाना अर्थात् प्रमाद करना भी एक प्रमुख कारण है।

14– भय– अपनी प्राप्त वस्तुओं संपर्कित लोगों की हानि की आशंका तथा अपने शरीर की किसी प्रकार की क्षति की संभावना का भाव भय कहलाता है। हम सभी के मन में यह भाव रहता है कि हमारे पास धन, संपदा, पद आदि जो कुछ प्राप्त है वह चला न

जाए हमारे संपर्कित स्त्री, पुत्र, सगे संबंधियों को किसी प्रकार की हानि न हो जावे अथवा शरीर को किसी प्रकार की क्षति न हो। इस प्रकार की क्षति की आशंका का यह जो भाव है इसे ही भय कहते हैं। वस्तुतः हम जिस विषय में भय करते हैं वे सब विनाशशील हैं। इस प्रकार भय भी अवसाद का एक कारण है।

15– शोक– प्रतिकूल परिस्थितियों में मन जब दुखी होता है तो इस दुखी होने के भाव को शोक कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियां आने जाने वाली हैं। वे एक समान सदैव नहीं रहती हैं। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के आने जाने में हम परवश हैं। वह सब प्रकृति की व्यवस्था के आधार पर आती जाती रहती हैं। इस कारण इन आने जाने वाली स्थितियों के हमें शोक करना अभीष्ट नहीं है। हम जब शोक करते है ंतब हम अपनी वास्तविक स्थिति से स्वतः ही गिर जाते हैं। इस प्रकार शोक ग्रस्त मनुष्य अपने कल्याण के विषय में विचार नहीं कर सकता है। शोक भी अवसाद का एक कारण है।

इस प्रकार अवसाद के प्रमुख कारणों का उल्लेख हुआ है। मनुष्य वस्तुतः अपना पतन दुष्कर्मों के कारण ही कर लेता है और दुष्कर्म हमारे दुर्गुणों के कारण होते हैं इस प्रकार अवसाद का प्रमुख कारण हमारे में जो दुर्गुण हैं उन्हें ही मानना चाहिए। श्री भगवान ने अवसाद न करें **'न अवसादयेत्'** कहे है उसके अर्थ में यह स्पष्ट समझना चाहिए कि मनुष्य को ऐसे कोई कर्म नहीं करने चाहिए जिससे उसका आध्यात्मिक विकास रूके।

3– मनुष्य अपना हिताकांक्षी कैसे है और शत्रु कैसे है ? (आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः)–

मनुष्य जो भी कर्म करता है उसका समग्रता से लेखा जोखा रहता है। मनुष्य जब से संज्ञान हो जाता है अर्थात् जब से उसे भले बुरे का ज्ञान हो जाता है तब से वह जो भी कर्म करता है उसका उसे परिणाम अर्थात् फल अवश्य प्राप्त होता है। यदि वह शुभ कर्म करता है तो उसका फल शुभ ही प्राप्त होता है और अशुभ कर्मों का अशुभ फल ही मिलता है। ये तथ्य जो मनुष्य जान लेता है वह अशुभ कर्मों की ओर उन्मुख नहीं होना चाहता परंतु बहुत से लोग जानकर भी अशुभ कर्मों की ओर उन्मुख हो जाते हैं। जो लोग अशुभ कर्मों का अशुभ फल प्राप्त होगा यह जानकर भी अशुभ कर्म करता

रहते हैं वह मूर्ख है और अपना शत्रु है तथा यह तथ्य जानकर जो अशुभ कर्मों का परित्याग कर देता है वह अपना हिताकांक्षी है अर्थात् अपना मित्र है। बहुत से लोग यह नहीं जानते हैं कि अशुभ कर्मों का तथा दुष्कर्मों का परिणाम हमें ही भुगतना पड़ेगा वे भी मूर्ख हैं और अपने ही शत्रु हैं।

प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अशुभ कर्मों तथा शुभ कर्मों के अंतर को जानें। यह मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। उसे अवश्यमेव करना चाहिए। क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मों के अंतर के ज्ञान के अभाव में शुभ कर्मों का संपादन और अशुभ कर्मों का परित्याग नहीं हो सकता। इस प्रकार कर्म के तत्त्व को जानकर शुभ कर्म का आचरण करने वाला अपना हिताकांक्षी और मित्र है और न जानने वाला तथा जानकर न करने वाला ही अपना स्वयं का शत्रु है। मनुष्य स्वयं का शत्रु है तथा स्वयं का मित्र है। इस संबंध में कुछ भावों का अवलोकन कीजिए कि किन परिस्थितियों में मनुष्य स्वयं का शत्रु है और किन परिस्थितियों में मित्र है–

क–(एक)– शास्त्र मर्मज्ञ अपना मित्र है–

शास्त्रों का अध्ययन करके वास्तविकता को जान लेने वाला मनुष्य स्वयं का मित्र है। क्योंकि उसे कर्तव्य तथा अकर्तव्य का और धर्म तथा अधर्म का ज्ञान हो जाता है। इस ज्ञान के अंतर से वह धर्म संगत कर्मों का आचरण करता है और अपना उद्धार कर लेता है। इस कारण शास्त्र मर्मज्ञ अपना मित्र है।

क–(दो)– शास्त्र की अज्ञानता वाला अपना शत्रु है–

जो मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन न करके विभिन्न प्रकार के संसारिक विषयों का ही अध्ययन करता रहता है और संसारिक विषय भोगों में व्यस्त रहता है वह अपना शत्रु है। शास्त्र के अध्ययन न करने से धर्म, अधर्म, कर्तव्य, अकर्तव्य का बोध नहीं हो पाता। इसके फलस्वरूप वह अकर्तव्य को कर्तव्य समझकर और अधर्म को धर्म समझकर कार्य करता है, जिसका परिणाम उसका पतन है। इस प्रकार शास्त्र का अध्ययन न करने वाला व्यक्ति अपना शत्रु है।

ख–(एक)– परमार्थी अपना मित्र है– जो मनुष्य दूसरों के हित के लिए काम करता है वह स्वयं का मित्र है। दूसरों के हित के लिए जो कर्म होते हैं उन्हें परमार्थ के कर्म

कहा जाता है। परमात्मा ने दूसरों के लिए अर्थात् समग्र प्राणी मात्र के लिए निःस्वार्थ और निःशुल्क व्यवस्थाएं की हैं। परमात्मा ने स्वयं के लिए कुछ भी नहीं किया है। जगत की सृष्टि तथा सृष्टि के भरण–पोषण के लिए नाना प्रकार की वनस्पतियां और व्यवस्थाएं उत्पन्न कर दी हैं। यह सब परमार्थ के कर्म हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य परमार्थ के कर्म करता है तो इसे शुभ कर्म कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं का मित्र होता है।

ख–(दो)– स्वार्थी मनुष्य अपना शत्रु है–जो मनुष्य मात्र अपने के लिए कर्म करता है तथा अपना संपूर्ण पुरूषार्थ मात्र अपने व अपने संपर्कित के लिए करता है और जीवन पर्यंत नाना प्रकार की भोग वस्तुएं एकत्र करके उनमें आमोद प्रमोद मानता है तो वह अपना स्वयं का शत्रु है क्योंकि वह पशुवत् व्यवहार करता है। पशु व पक्षी जंगल में स्वयं का और अपने बच्चों का पेट पाल लेते हैं। इसी प्रकार स्वार्थी व्यक्ति भी पशु पक्षी वृत्ति से संलग्न होकर अपने तथा अपने संपर्कित लोगों के लिए ही कर्म करते हैं और अंततः अधःपतन को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वार्थी मनुष्य अपना शत्रु है।

ग–(एक)– संशय से निवृत्ति का प्रयास करने वाला अपना मित्र है– अध्यात्म पथ बहुत ही संशय वाला है। साधक को पग–पग पर संशकित रहना पड़ता है। शास्त्रीय ज्ञान का संशय और क्रिया विधि का संशय यह दो ऐसे संशय हैं जो साधकों को बहुत परेशान करते हैं। जो साधक संशय की निवृत्ति का प्रयास करता है और सैद्धांतिक तथा प्रयोगात्मक संशयों से निवृत्त होना चाहता है ऐसा ही मनुष्य परमात्मा का आभास कर पाता है। इस प्रकार से संशय से निवृत्ति करने वाला साधक स्वयं का मित्र है।

ग–(दो)– संशय युक्त मनुष्य अपना शत्रु है– जो मनुष्य न तो आध्यात्मिक पथ पर चलना चाहता है और न ही संशयों के निवारण के लिए प्रयास करता है वह स्वयं ही अपना शत्रु है। संशय ग्रस्त मनुष्य स्वयं ही विनिष्ट हो जाता है और अपने कल्याण के मार्ग का सम्यक विनिश्चय करने के कारण अपना स्वतः पतन कर लेता है। संशयग्रस्त मनुष्य में धर्म और अधर्म के प्रति संशय रहता है। तथा उसकी क्रियाएं भी अधिकांशतः अधार्मिक ही हो जाती हैं। इस प्रकार संशय युक्त मनुष्य अपना शत्रु है।

घ–(एक)– परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास करने वाला अपना मित्र है– जो मनुष्य परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास करता है वह अपना मित्र है। इस मानव जीवन का एक उद्देश्य परमात्मा की अनुभूति है। जब तक परमात्मा की अनुभूति नहीं होती है तब तक मनुष्य का जीवन और मृत्यु के चक्र से छुटकारा भी नहीं प्राप्त होता है। परमात्मा की

अनुभूति का प्रयास भी सहज नहीं है। अनेक जन्मों के उपरांत भी हम परमात्मा की अनुभूति नहीं कर सके। इस प्रकार जन्म और मृत्यु के चक्र में उलझे हुए हैं। स्वस्वरूप में स्थिति शीघ्र ही हो सकती है परंतु उसके लिए सम्यक् प्रयास की आवश्यकता है। इस प्रकार परमात्मा की प्राप्ति का जो प्रयास करते हैं वे स्वयं ही अपने मित्र हैं।

घ–(दो)–संसार की प्राप्ति का प्रयास करने वाला अपना शत्रु है– हम में से अधिकांश लोग संसार की प्राप्ति का प्रयास करते हैं वे सब स्वयं ही अपने शत्रु हैं। यह कथन उचित प्रतीत तो नहीं होता परंतु गहनता पूर्वक विचार करने से यह तर्कसंगत प्रतीत होता है। संसार का अर्थ धन, संपत्ति, वैभव प्रतिष्ठा, पद, कीर्ति आदि से है। हम सभी इसी के लिए प्रयत्नशील होते हैं कि उपरोक्त वस्तुएं अंततः हमें प्राप्त हो। उपरोक्त प्रकार से जिन वस्तुओं और स्थितियों की विवेचना की गयी वे सब की सब इसी जन्म में समाप्त होने वाली हैं। इस कारण जो वस्तुएं इसी जन्म में समाप्त होने वाली हैं और उनका मृत्यु के पश्चात कोई अस्तित्त्व नहीं है, उनकी प्राप्ति का प्रयास भी निरर्थक प्रतीत होता है। इस प्रकार संसार की प्राप्ति का प्रयास करने वाला अपना शत्रु है।

मनुष्य यदि अपने हित की आकांक्षा करता है तो उसे परमात्मा की अनुभूति का प्रयास करना चाहिए। यदि इस जन्म में परमात्मा की अनुभूति न हो सके तो जीवन निरर्थक है और उसकी सार्थकता नहीं है। मनुष्य ने ऐसी स्थिति में अपने साथ शत्रुवत् व्यवहार किया है। एक जीवन भी विनिष्ट कर लेता है।

4–स्वयं को जीतने वाला बन्धु है और न जीतने वाला शत्रु–मनुष्य का मन बहुत ही प्रभावशाली तथा साधारण रूप से नियंत्रित होने वाला नही है। इसकी चंचलता का, प्रमथनशीलता का रहस्य साधक बहुत ही प्रयास के पश्चात् समझ पाते हैं और जो साधक नहीं हैं वे इसकी प्रमथनशीलता के रहस्य से अनभिज्ञ ही रहते हैं। मन संसार में रहता है। जो भी इन्द्रिय अर्थ की वस्तुओं को देखता है, अनुभव करता है वह स्वतः ही उसमें संलग्न होना चाहता है और हो जाता है। जैसे हम कहीं जा रहे हो और मार्ग में कोई लुभावनी वस्तु या घटना प्रतीत हो तो मन वहीं पर रूकना चाहता है और शरीर को भी वहां रूकने के लिए बाध्य करता है। इसके लिए वह बुद्धि से अनुमति ले लेता है। बुद्धि उसे तत्काल स्वीकृति प्रदान कर देती है। यह प्रक्रिया चला करती है। मन निरंतर ही प्रमथनशील रहता है और उस प्रमथनशीलता को बुद्धि की स्वीकृति रहती है। इस कारण जब तक मनुष्य अपने मन को बुद्धि से नियंत्रित नहीं कर लेता तब तक वह

अपने ऊपर विजय प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह अपना अपना स्वयं का मित्र नहीं हो सकता है।

स्वयं को जीतने का अभिप्राय मन को संयमित करने से ही है, क्योंकि मन से विचारण के आधार पर ही अन्य कर्म होने लगते हैं। मन के विचारण की प्रक्रिया समझे बिना मनुष्य स्वयं को जीत नहीं सकता है। मन इन्द्रियों के माध्यम से संसार के विषयों का अनुभव करता है। मन ही मनुष्य को संसार में संलग्न रखता है। मन की जो क्रिया विधि है वह बुद्धि के द्वारा देखी जाती है और उसी के द्वारा नियंत्रित भी की जाती है। इस कारण मन जब इन्द्रिय विषयों में लिप्त होकर शरीर के विषय वासनाओं में फंस जाता है तो वह स्वयं को नहीं जीत पाता है। इसके प्रतिकूल जब मन बुद्धि द्वारा संयमित किया जाता है तब मनुष्य स्वयं को जीत लेता है और स्वयं का बन्धु हो जाता है। इस प्रकार मुख्य तथ्य मन को नियंत्रित करने से संबंधित है। जब बुद्धि मन को नियंत्रित कर लेती है तब मनुष्य स्वयं को जीत लेता है और जब बुद्धि मन को सभी प्रकार के कर्मों के संपादन के आज्ञा देती है तो वह स्वयं ही अपना शत्रु हो जाता है।

मनुष्य को अपनी प्रतिदिन क्रियाओं पर और प्रतिक्षण की क्रियाओं पर दृष्टि जानी चाहिए। वे क्रियाएं क्या सर्वथा संसारिक है? और क्या उनसे हम अपनी स्वार्थी भाव की कामनाओं की पूर्ति में संलग्न रहते है? जब हम इस तथ्य पर विचार करेंगे तो यह पाएंगे कि अधिकांश लोग जो भी क्रियाएं करते हैं वे मात्र उदर पोषण, शारीरिक पोषण, पारिवारिक पोषण, धन, संपत्ति की एकत्रीकरण के लिए करते हैं। ये सब हमें संसारिक कार्यों में लिप्त रखता है। हम प्रातः से रात्रि तक संसारिक कार्यों में ही अपने को व्यस्त रखते हैं। आज हमने इतना धन कमा लिया है और कल अर्थात् भविष्य में इतना कमा लेंगे, यह भाव रहता है। इस भाव से हम क्रियाएं करते हैं और कर्मों का संपादन करते रहते हैं। यह स्थिति हमें आत्म संयम से पृथक् रखती है। अतः हम स्वयं ही अपने शत्रु हैं। इन समस्त कार्यों में संलग्न रहने वाला मनुष्य अपने जीत नहीं सकता है और वह अपना शत्रु रहता है।

शहद की मक्खी अर्थात् मधुमक्खी शहद एकत्र करती है। बड़े प्रयास से वह शहद का संकलन करती है। बहुत दिनों के पश्चात् अनेक मधुमक्खियों के प्रयत्न से शहद एकत्र हो जाता है तो लोग उस छत्ते से बलात् शहद छीन लेते हैं और इसके लिए छत्ते में आग लगाते हैं और मधुमक्खियों को भगाते हैं। वस्तुतः मधुमक्खियों ने ही

शहद का संकलन किया है परंतु उसका उपभोग अन्य लोग करते हैं। मधुमक्खी बहुत परिश्रम से एकत्र उस शहद का उपभोग नहीं कर पाती है। इसी प्रकार जो मनुष्य जीवन पर्यंत बहुत परिश्रम से धन कमाते हैं और उन्हें उसमें आसक्ति हो जाती है परंतु उसका उपभोग वह स्वयं नहीं कर पाते हैं। दूसरे लोग ही उसका उपभोग करते हैं। जीवनपर्यंत जो बहुत परिश्रम करता है और उसका न तो स्वयं उपभोग करता है वह स्वयं का शत्रु है। ऐसा मनुष्य आसक्ति और मोह में जीता है तथा अपने को जीत नहीं पाता है। इस कारण वह स्वयं का शत्रु है।

साधक अपनी क्रियाओं पर दृष्टि रखता है तथा स्वार्थपरक क्रियाओं से अपने को पृथक् कर लेता है। उसके मन का विचारण संसार की ओर नहीं रहता है। वह परमात्मा की ओर उन्मुख रहता है। मन को परमात्मा की ओर लगाने वाला साधक मन की गति को, मन की चेष्टा को, बुद्धि के द्वारा देखता है। बुद्धि मानव शरीर में ऐसी शक्ति है जो आत्मनियंत्रण में प्रमुख भूमिका अदा करती है। बुद्धि के द्वारा मन का नियंत्रण होता है और यदि बुद्धि मन के विचारण को स्वीकार करने लगती है तो वह पतन की ओर उन्मुख हो जाती है। विचारशील साधक मन की गति को देखता है और उस पर नियंत्रण भी रखता है। यह नियंत्रण बुद्धि के द्वारा ही होता है। इस प्रकार नियंत्रित मन स्वयं का बंधु होता है और अनियंत्रित मन स्वयं का शत्रु हो जाता है।

संसार में अधिकांश लोग अपने उद्धार का प्रयास नहीं करते हैं और वे निरंतर ही अवसाद में लगे रहते हैं क्योंकि मनुष्य की प्रकृति ही भोग प्रदान है। मनुष्य की प्रकृति संसारोन्मुखी है। संसार में जो भी कुछ होता है वह उसे देखकर उसमें लिप्त होना चाहता है। परमात्मा ने मनुष्य को भोग प्रवृत्ति प्रधान तो बनाया है परंतु उसे बुद्धि भी प्रदान की है जिसका उपभोग करके वह अपने को नियंत्रित कर सकता है और यदि वह उसका उपभोग नहीं करता है तो वह अपने को नियंत्रित नहीं कर सकता है। सामान्यतः लोग अपने को नियंत्रित नहीं करते हैं और लोग मन के विचारण पर ही चलते है। जो लोग मन के द्वारा विचारित विषयों को बुद्धि से देखते हैं अतः बुद्धि की शक्ति विवेक से देखकर उचित अनुचित का निर्णय करते हैं वे आत्म नियंत्रण का भी प्रयास कर लेते हैं। आत्म नियंत्रण का प्रयास करने वाला मनुष्य ही स्वयं को जीत लेता है। श्री भगवान ने आठवें श्लोक में मनुष्य के उद्धार के उपायों का उल्लेख किया तथा नौ उपायों का क्रमिक वर्णन किया जिसकी व्याख्या पूर्व में प्रस्तुत की जा चुकी है। अब श्री भगवान नवें

श्लोक में समबुद्धि साधक के गुणों का निरूपण करके समबुद्धि साधक को विशिष्ट मानते हैं। श्री भगवान द्वारा प्रस्तुत इस प्रकरण का अवलोकन कीजिए–

मूल श्लोक–नौ

सुहन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।।

पदच्छेद–:

सुहन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु, ।
साधुषु, अपि, च, पापेषु,समबुद्धिः, विशिष्यते।।

भावार्थ : हृदय से चाहने वाले मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी बन्धु जनों में और शत्रु जनों में पापाचारियों में भी सम्बुद्धि साधक विशिष्ट है।

व्याख्या– श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोक में सम्बुद्धि साधक को विशिष्ट बताया है। श्री भगवान का स्पष्ट कथन है कि जिस साधक की बुद्धि सम हो जाती है वह विशिष्ट हो जाता है, श्रेष्ठ हो जाता है। साधक की बुद्धि 1–सुहृद के प्रति, 2– मित्र के प्रति, 3–शत्रु के प्रति, 4–उदासीन के प्रति, 5– मध्यस्थ के प्रति, 6– द्वेषी के प्रति, 7– बन्धु जनों के प्रति, 8– संतजनों के प्रति, 9– पापाचारियों के प्रति एक समान ही रहती है। अर्थात् वह पक्षपूर्ण व्यवहार नहीं करता है। इन समस्त तथ्यों को समझने के लिए पहले बुद्धि क्या है? और समबुद्धि क्या है? और कैसे उत्पन्न होती है? आदि विषयों पर चर्चा होगी। तत्पश्चात् श्रीभगवान के कथन का विश्लेषण किया जाएगा। समबुद्धि विशिष्ट क्यों है? इस विषय पर चर्चा होगी। उक्त क्रम में व्याख्या का अवलोकन कीजिए–

1– बुद्धि क्या है– परमात्मा ने मानव शरीर को बुद्धि नामक विशिष्ट तत्त्व प्रदान किया है जिससे मनुष्य को मन के द्वारा विचारित विषय को सहमति प्रदान की जाती है। पूर्व में भी यह कहा जा चुका है कि बुद्धि परमात्मा की अपराप्रकृति का सातवां तत्त्व है। अतः अंतःकरण का दूसरा भाग है। अंतःकरण में मन, बुद्धि तथा अहंकार का उल्लेख होता है। बुद्धि इन तीनों में विशिष्ट है। मन को शांत करने तथा अहंकार की निवृत्ति में बुद्धि की प्रमुख भूमिका है। मन जब अनावश्यक विषयों के बारे में विचार करता है तो बुद्धि उसे जानती है तथा उसे अनावश्यक चिंतन से रोक सकती है। इसी प्रकार मनुष्य

जब अहंकार से ग्रस्त हो जाता है तो बुद्धि ही मनुष्य की अहंकारग्रस्तता को जान सकती है और उसके प्रभाव से उसे मुक्त करा सकती है। इन दोनों तथ्यों के बारे में जब हम विचार करते है ंतो यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि मानव शरीर में बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्य है।

बुद्धि का महत्वपूर्ण कार्य शरीर की क्रियाओं का विनिश्चिय करना है। अर्थात् शरीर की बाह्य और आंतरिक क्रियाएं बुद्धि के द्वारा ही नियंत्रित की जाती हैं। यह विनिश्चिय बहुत तेजी से होता है। जैसे हम किसी रास्ते पर जा रहे हों और हमारे सम्मुख अचानक कोई वाहन आ जाता है तो आंखें उस अचानक आए हुए वाहन को देखती हैं और आंखों के द्वारा देखे जाने पर मन इस तथ्य को जान जाता है। यह तथ्य मन के माध्यम से बुद्धि तक पहुंचता हैं। बुद्धि तत्काल शरीर को उस वाहन से बचने का आदेश देती है। शरीर तेजी से अपने को वाहन के सामने से हटाने हेतु क्रियाशील हो जाता है। यह समस्त कार्य कितनी तेज गति से होता है इसका हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। इस प्रकार बुद्धि किसी भी क्रिया का विनिश्चिय बहुत तेजी से कर सकती है। बुद्धि जब भ्रमित होती है अथवा संशय से युक्त होती है तो वो क्रियाओं के विनिश्चिय में सम्यक् निर्णय नहीं कर पाती है। इस प्रकार बुद्धि एक विशिष्ट विनिश्चियात्मक तत्त्व है जो प्रत्येक कार्य का विनिश्चिय करता है।

2– सम बुद्धि क्या है?– बुद्धि मन के द्वारा विचारित तथ्यों का विनिश्चिय करती है। साधारणतयः मन जो कुछ भी विचार करता है उसके द्वारा विचारित अधिकतम अंश का विनिश्चिय बुद्धि कर देती है। साधारणतयः उस पर असहमति व्यक्त नहीं करती है। यह सामान्य बुद्धि के व्यक्ति की क्रिया विधि है। तामसी गुणों से प्रभावित मनुष्य के मन में स्थिति, आवश्यकता, घटना, कार्य आदि के अनुसार जो जो विचार आते हैं तामसी बुद्धि वैसा–वैसा विनिश्चिय करती जाती है। यह प्रतीत होता है कि मन और बुद्धि की क्रियाविधि एक जैसी ही है। राजसी गुणों से प्रभावित मनुष्य की बुद्धि कामनाओं के प्रभाव के विनिश्चिय के कारण कामनाओं की पूर्ति का विनिश्चिय करती है। सात्विक गुणों से मनुष्य जब पूरी तरह प्रभावित रहता है तब उसका सात्विक मन जो जो विचार करता है उस पर सात्विक बुद्धि भी उचित अनुचित विचार कर स्वीकृति प्रदान करती है। यह सात्विक बुद्धि की विशेषता है। सात्विक बुद्धि मन के द्वारा विचारित किए गए तथ्यों पर उचित अनुचित का विचार करके सम्यक् निर्णय करती है। इस प्रकार जो बुद्धि कर्तव्य और अकर्तव्य, धर्म और अधर्म, उचित और अनुचित का यथावत् विनिश्चिय

कर लेती है तो वह बुद्धि श्रेष्ठ कही जाती है। चूंकि मनुष्य के समस्त कार्य बुद्धि के द्वारा विनिश्चित किए गए तथ्यों के पश्चात् ही होते हैं। इस कारण श्रेष्ठ बुद्धि जिस शरीर में होती है वह व्यक्ति उचित कार्य करता है।

श्रेष्ठ बुद्धि से भी समबुद्धि उत्कृष्ट होती है क्योंकि समबुद्धि प्रत्येक तथ्य को समता से देखती है। श्रेष्ठ बुद्धि एक मूर्ख और विद्वान में अंतर रखती है तथा विद्वता और मूर्खता के अनुसार व्यवहार करती है। अर्थात् विद्वान का सम्मान करना और मूर्ख की उपेक्षा करना श्रेष्ठ बुद्धि का कार्य है। समबुद्धि विद्वान तथा मूर्ख में भेद नहीं करती है। गुणों के आधार पर अंतर नहीं रखती है। व्यवहार में भी विद्वान एवं मूर्ख से एक समान व्यवहार करती है। यही समबुद्धि की विशेषता है।

सात्विक गुणों से युक्त पुरूष में श्रेष्ठ बुद्धि आ जाती है परंतु समबुद्धि सिद्धि की परख है। वह वातावरण, परिस्थिति, काल, घटना के आधार पर किसी गुण और अवगुण विशेष के आधार पर अंतर नहीं रखती है। यह अंतर न रखना ही समता की स्थिति प्राप्त कर लेना है। सम बुद्धि मनुष्य व्यवहार में भी वैसा विचार में करता है। उसमें विचार तथा विचारित विषयों के क्रियान्वयन में अंतर नहीं रहता है। संत पुरूष के सम्मान तथा एक चंडाल के सम्मान में श्रेष्ठ बुद्धि अंतर नहीं रखती है। यह समबुद्धि की विशेषता है। समबुद्धि सहजता से प्राप्त नहीं हो पाती है। अर्थात् समता मूलक स्थिति प्राप्त होना सहज नहीं है। इसी कारण श्री भगवान ने समबुद्धि को श्रेष्ठ कहा है।

समबुद्धि मनुष्य सुहृद के प्रति वात्सल्य भाव का, मित्र के प्रति मित्रता के भाव का, शत्रु के प्रति शत्रुता के भाव का, उदासीन के प्रति निरपेक्षता के भाव का, मध्यस्थ के प्रति सम्यक् निर्णय के भाव का, द्वेषी के प्रति द्वेष भाव का, बन्धुओं के प्रति स्नेह के भाव का, संत जनों के प्रति श्रेष्ठता के भाव का, पापाचारियों के प्रति घृणा के भाव का परित्याग कर देता है। इन भावों का परित्याग क्या है? और कैसे होता है? इसका अवलोकन कीजिए।

3– सुहृदों के प्रति वात्सल्य भाव का त्याग–
(सुहन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु)

हमारा वास्तविक कल्याण चाहने वालों को सुहृद कहा जाता है। हम जिस जगत में रहते हैं वहां पर हमारा हित, कल्याण चाहने वाले लोग भी रहते हैं और हमारा अहित चाहने वाले लोग भी रहते हैं। जिनसे हमारा संपर्क होता है। वे दो ही श्रेणी के लोग

होते हैं। जैसे हमें जो जीवन पथ पर सही मार्ग दिखाते हैं। हमारी आवश्यकता पर सहायता करते हैं। जीवन के वास्तविक उद्देश्य का दिग्दर्शन कराते हैं और सही पथ का अनुकरण करने के लिए हमें प्रेरित करते हैं, हमारी त्रुटियों को बताकर हमें उनसे मुक्त कराते हैं। ऐसे व्यक्तियों को सुहृद कहा जाता है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति हमारे मन में स्नेह का, वात्सल्य का भाव रहता है। सम बुद्धि मनुष्य सुहृदों के प्रति अंतःकरण में रहने वाले भाव का परित्याग कर देता है और वह समदर्शी हो जाता है।

4–मित्र के प्रति मित्रता के भाव का त्याग– हम सभी मित्र के प्रति मित्रता का भाव रखते हैं। मित्र से मित्रता के कारण स्नेह रहता है। जब किसी व्यक्ति के साथ हम रहते हैं, व्यवहार करते हैं, कार्य करते हैं तो विचारों में समानता के कारण अपना स्नेही समझते हैं। सहायता के रूप में साथी के रूप में सहयोगी के रूप में देखते हैं और उसके प्रति मित्रता का भाव स्वतः आ जाता है। मित्रता के भाव में सहयोगी भावना, स्नेह का प्राकट्य विशेष रहता है। सहयोग और स्नेह ही मित्रता का आधार है। वर्तमान में स्वार्थपरता इसका आधार हो चुका है। हम जब किसी से अपने स्वार्थपूर्ति का आभास करते है ंतो उससे मित्रता करना चाहते हैं। स्वार्थपरता ही हमारी मित्रता का आधार होता है। ऐसे में लोग अच्छे मित्रों तथा स्वार्थ परक मित्रों में भेद करते रहते हैं। समबुद्धि पुरूष मित्र के प्रति मित्रता के भाव का परित्याग कर देता है। मित्र बनने के लिए मित्रता ही आधारभूत तत्त्व है। इस मित्रता के भाव का त्याग करके समदर्शी पुरूष समबुद्धि हो जाता है।

5– शत्रु के प्रति शत्रुता के भाव का त्याग–

जो व्यक्ति हमारा अहित चाहने वाला, अहित के बारे में विचार करने वाला, अहित का चिंतन करने वाला, अहित को क्रियान्वित करने वाला और किसी न किसी प्रकार से हमारा अहित करने वाला है वह शत्रु ही है। जो हमारी हानि के बारे में विचार करता है अथवा हमारी हानि करता है तो वह हमारा शत्रु होता है। ऐसे व्यक्ति के बारे में हमारे अंतःकरण में शत्रुता का भाव रहता है। साधारणतयः शत्रुता के भाव के कारण ही हम अपने शत्रु के अहित का प्रयास करते हैं। तामसी लोग हिंसादि कर्म से, राजसी लोग नियमानुकूल तथा नियमों का विखंडन करके और सात्विक लोग प्रार्थना करके शत्रुओं के विनाश पर विचार करते हैं तथा शत्रुओं के अहित रूपी कार्य को क्रियान्वित करते हैं। श्रेष्ठ बुद्धि पुरूष शत्रुओं के प्रतिकार की भावना का त्याग कर देता है। और

वह शत्रुओं के बारे में अहित पर विचार नहीं करता है। सम् बुद्धि मनुष्य शत्रुता के प्रति शत्रु के भाव का परित्याग कर देता है। यह समबुद्धि पुरूष की विशेषता है।

6– उदासीन के प्रति निरपेक्षता के भाव का परित्याग–

सूर्य समय से उदय होता है। उसके उदय होने को हम उदासीनवत् भाव से हम देखते रहते हैं। चन्द्रमा का उदय होना, वर्षा का होना, मौसम का समयानुकूल परिवर्तन होते जाना, वनस्पतियों का उदय होना, पुष्पों का खिलना आदि ऐसी अनेक प्राकृतिक क्रियाएं हैं जिनमें हम सभी उदासीनवत् भाव रखते हैं। जब हम किसी व्यक्ति के प्रति उदासीन भाव रखते है ंतो उसके क्रियाकलापों से संबंध नहीं रखते हैं। यही उदासीनवत् भाव कहा जाता है। जैसे साधु संत जगत की क्रियाओं के प्रति समाज में होने वाली गतिविधियों के प्रति, लोगों की कामना के प्रति, अनसुना और अनदेखा व्यवहार करते हैं। यह निरपेक्ष भाव है। जगत में क्या हो रहा है? कोई अनैतिक और नैतिक क्या कर रहा है? इन समस्त क्रियाओं में त्रिगुणों से होने वाली क्रियाएं जानकर विचारवान साधक उन सबके प्रति उदासीन हो जाता है। उदासीन भाव किसी क्रिया के प्रति उस क्रिया के होने को ग्रहण न करना है। समबुद्धि मनुष्य उदासीन के प्रति जो उदासीनता का भाव वह भी त्याग देता है। यह विशिष्ट स्थिति है। श्रेष्ठ बुद्धि उदासीन तो हो जाती है परंतु उदासीनता के भाव को नहीं त्याग पाती है। उदासीनता के भाव को सम बुद्धि पुरूष ही त्याग पाता है। यही सम बुद्धि की विशेषता है।

7– मध्यस्थ के प्रति मध्यस्थता के भाव का त्याग–

विवाद में विवाद के हल के लिए जो क्रिया होती है उसे मध्यस्थता कहा जाता है और कर्ता को मध्यस्थ कहा जाता है। तामसी, राजसी, सात्विक सभी पुरूषों में मध्यस्थता के भाव रहते हैं। तामसी मनुष्य दुष्कर्म के धन को बांटने के लिए कभी कभी मध्यस्थता करते हैं और वे आपसी विवाद को हल करने के लिए मध्यस्थता का आश्रय लेते हैं। राजसी पुरूष रजोगुण से आवृत होकर अधिकांशतः धन–संपत्ति के बंटवारे की भूमिका में रहते हैं। राजसी पुरूषों में धन, संपत्ति के प्रति अधिक लोभ रहता है। इस कारण मध्यस्थता हुआ करती है और विवाद का शीघ्र हल नहीं हो पाता।

सात्विक विचार के पुरूष सम्यक् न्याय को ही मध्यस्थता का आधार मानते हैं। जब कभी किसी विवाद के हल का प्रकरण रहता हे और वहां पर सम्यक्रूपेण न्याय

संगत रूप से मध्यस्थता होती है तो इस मध्यस्थता की प्रशंसा की जाती है। मध्यस्थता का आधार युक्ति युक्त न्याय है। सात्विक पुरूषों में जो मध्यस्थता का भाव रहता है वह समबुद्धि पुरूषों के त्याज्य हो जाता है। समबुद्धि पुरूष मध्यस्थता के भाव को त्याग कर देता है। समबुद्धि पुरूष सम्यक न्याय के स्वरूप को स्वतः ही ग्रहण कर लेता है। इस कारण वह स्वतः ही उदासीन हो जाता है। विवाद में मध्यस्थ मध्यस्थता की भूमिका होती है। विवाद का स्वरूप का मूलतः त्याग करने से यह भूमिका स्वतः ही विनिष्ट हो जाती है।

8– द्वेषी के प्रति द्वेष भावना का परित्याग–

जो हमारा किसी भी प्रकार से अपकार करता है, हमारे विषय में किसी भी प्रकार से अहित विचारता है, हमारी बुराई करता है तो हमारे अंतःकरण में उसके प्रति द्वेषभाव का स्वतः उद्भव हो जाता है। हम अपना अपकार करने वालों के प्रति द्वेषी हो जाते हैं यह द्वेषभाव लगभग सभी मनुष्यों में होता है। तामसी मनुष्य द्वेष भाव से प्रतिकार की बात का विचार करके कुत्सित प्रतिकार करने का प्रयास करता है। राजसी मनुष्य के द्वेष भाव का स्वरूप तामसी मनुष्य से कुछ अच्छा रहता है। वह अनेक शालीनभावों सें द्वेष का प्रकटीकरण करता है। सात्विक मनुष्यों के प्रति में द्वेष भाव आता जाता रहता है। सात्विक भाव की प्रबलता से मनुष्य कभी कभी द्वेष भाव शांत करने का प्रयास करता है। श्रेष्ठ बुद्धि के लिए द्वेष का त्याग करते हैं और समबुद्धि द्वेष का त्याग कर देता है। इससे वह उत्कृष्ट हो जाता है। द्वेष भावना त्याग करने से समबुद्धि श्रेष्ठ है।

9–बन्धु जनों के प्रति स्नेह का त्याग अपने पारिवारिक सदस्यों तथा सगे संबंधियों को बंधु बांधव कहा जाता है। हम सभी लोग अपने परिवार तथा संगे संबंधियों की स्नेह भावना से बंधे हुए होते हैं जैसे हमारे परिवार का कोई सदस्य तथा सगा संबंधी कोई विशिष्ट कार्य करता है तो हम उसके कार्य को देखकर प्रसन्न होते हैं और उसकी प्रशंसा आदि करते हैं उसके प्रतिकूल जब हमारे परिवार का कोई सदस्य विषम परिस्थितियों में पड़ता है तो हमदुखी हो जाते हें। बंधु बांधव के प्रति सुख और दुख की भावना स्नेह के कारण होती है। यदि हम अपने तथा सगे संबंधियों से स्नेह न करते तो हमें सुख दुख की प्रतीति कदापि नहीं होती। जैसा कि अन्य लोगों के बारे में हमें नहीं होता। समबुद्धि पुरूष बंधु बांधुओं के प्रति होने वाले स्नेह का त्याग कर देता है। स्नेह की भावना का परित्याग ही उसे सम बुद्धि प्रदान करती है। जिससे वह समदर्शी हो जाता है।

10– संत जनों के प्रति श्रेष्ठता के भाव का त्याग– (साधुष्वपि)

संत जनों में श्रेष्ठता दो कारणों से होती है। एक शास्त्रज्ञान व दूसरे तपश्चर्या से। संतजन शास्त्र ज्ञान से उसी ज्ञान के आचरण का प्रयास करते हैं। तपश्चर्या के आधार पर परमात्मा के स्मरण तथा मन, वाणी और कर्म को व्यवहार से श्रेष्ठ कर लेते हैं। सामान्य लोग शास्त्र ज्ञान से अपरचित रहते हैं और तपश्चर्या भी नहीं करते हैं। इस कारण वे संतजनों से निकृष्ट समझे जाते हैं।

संतों में श्रेष्ठता रहती है और वह बड़े प्रयास से आती है। हमारे सभी के मन में संतजनों के पूज्यनीय समझने का आधार उनकी तपश्चर्या है। समबुद्धि मनुष्य संत जनों के प्रति श्रेष्ठता के भाव का त्याग कर देता है। श्रेष्ठता के भाव के परित्याग का यह अर्थ नहीं है कि समबुद्धि मनुष्य संत जनों को श्रेष्ठ नहीं मानता है। वरन् उसमें जो श्रेष्ठता है उसके प्रति समदर्शी मनुष्य में समदर्शिता आ जाता है।

11– पापाचारियों के प्रति घृणा के भाव का त्याग–

पापी–दुष्कर्मी मनुष्यों से हमें घृणा क्यों होती है? इस प्रश्न का उत्तर है कि हम पानी मनुष्यों से उनके पापाचरण तथा दुष्कर्मों के कारण घृणा करते हैं। पापी मनुष्य भी हम सभी की तरह ही मनुष्य हैं परंतु उसके असमाजिक और अनैतिक कर्म ही उसे हमसे विलग कर देते हैं और घृणा का कारण रहते हैं। वस्तुतः मनुष्य तामसी गुण से प्रभावित होकर, आवृत होकर ही पाप का आचरण करता है। जो मनुष्य तमोगुण से आवृत नहीं होते हैं वे पाप का आचरण नहीं करते हैं। यह तथ्य समबुद्धि मनुष्य जान लेता है तथा वह पापाचारियों के प्रति होने वाली घृणा की भावना का परित्याग कर देता है। इस कारण समबुद्धि मनुष्य उत्कृष्ट हो जाता है।

12–सम बुद्धि श्रेष्ठ क्यों है?– (समबुद्धिर्विशिष्यते)–

अपने सुहृदों के प्रति मनुष्य के अंतःकरण में जो वात्सल्य का भाव रहता है। उसका परित्याग सहजता से नहीं हो सकता है, क्योंकि सुहृद हमें उचित मार्ग पर आचरण हेतु प्रेरित करता है तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में हमारी सहायता करता है। मित्रजनों के प्रति मित्रता के भाव का त्याग भी कठिन है। मित्रजन हमारे मित्र सहयोगी होते हैं और उनके प्रति हमारे अंतःकरण में मित्रता रहती है। इसी प्रकार शत्रुओं के प्रति

शत्रुता के भाव का त्याग भी कठिनता से होता है। क्योंकि शत्रु ही हमारी वस्तु की हानि की इच्छा करते हैं। इसके अतिरिक्त संपर्कित लोगों को कष्ट पहुंचाते हैं। उदासीनवत् व्यवहारी के प्रति हम निरपेक्ष भाव का त्याग कठिनता से कर सकते हैं। उसी प्रकार मध्यस्थ के प्रति मध्यस्थता के भाव का, द्वेषी के द्वेष भाव का, बंधुजनों के प्रति स्नेह भाव का, संतजनों के प्रति आदर के भाव का, पापाचारियों के प्रति घृणा के भाव का परित्याग ही कठिनता से हो सकता है। जिन भावों का उल्लेख उपरोक्त प्रकार से हुआ है, उनका त्याग सम बुद्धि पुरूष कर लेता है। इस कारण वह श्रेष्ठ है।

13– सम बुद्धि के सिद्धांत का आधार क्या है?–

प्रत्येक जीव में परमात्मा का अंश है जिससे वह जीव चेतन है। प्रत्येक मनुष्य का रंगरूप, मुखाकृति, आकार, प्रकार आदि भी पृथक् पृथक् प्रकार के हैं परंतु इस भिन्नता के रहते हुए भी प्रत्येक में परमात्मा का अंश जीवात्मा ही है जो इसके जीवन की चैतन्यता का आधार है। मनुष्य अपने कर्मों के आधार संत, विद्वान, मूर्ख, पापी, दुष्कर्मी आदि आदि होता है और कर्मों के आधार पर ही हमसे उसका संयोग होता है। कल हमारे परिवारी जन दूसरों के परिवारी जन थे और वे कल अन्य के परिवारी जन हो जाएंगे। मात्र सहधर्मिता जीवात्मा के कारण ही है। इस कारण मनुष्य ही संत, दुष्कर्मी, विद्वान, मूर्ख आदि की स्थितियों में है तथा पिता–पुत्र, स्त्री, पितामह आदि संबंध हैं। यह सब के सब क्षणिक ही हैं।

यह तथ्य समदर्शी समझ जाता है। इस कारण वह सब में एक समान व्यवहार करता है। कल तक जो पापाचारी था वह आज धर्मात्मा, संत हो सकता है, और जो मूर्ख था वह विद्वान हो सकता है। यह सब स्थितियों का ही परिवर्तन है। स्थितियों तथा संबंध के परिवर्तन के यथार्थता को जान लेने वाला साधक समबुद्धि हो जाता है। यह समबुद्धि होने का सिद्धांत हैं।

14– ध्यान योग प्रकरण में समबुद्धि विषय का औचित्य–

समबुद्धि साधक को कर्मयोगी ही विशेष समझना चाहिए क्योंकि वह समबुद्धि लाने के लिए समता रूपी कर्म का संपादन करता है। समबुद्धि जब समदर्शी हो जाता है तो उसमें विषमता का समापन हो जाता है। समदर्शी होने पर अर्थात् विषमता का समापन होने पर ध्यानयुक्त सिद्धि हो जाती है। विषमता ही ध्यान योग में, चिंतन में प्रमुख बाधा

रहती है। इस कारण श्री भगवान ने पहले ही अर्थात् ध्यान योग के आरंभ करने के पूर्व ही सम बुद्धि के विषय का वर्णन प्रस्तुत किया है।

समबुद्धि हो जाने पर ध्यान योग की पराकाष्ठा स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। तत्त्व के चिंतन में जब तक संसार की विषमताऐं रहती हैं वे बाधा के रूप में उपस्थित रहती हैं। संपूर्ण जीवों में एकमात्र परमात्मा का ही दर्शन होता है तो यह समबुद्धि की पराकाष्ठा है और ध्यान योग की परिपक्वता भी है। इसी कारण श्री भगवान ने ध्यान योग के विषय के पूर्व ही यह समबुद्धि विषयक तथ्य प्रस्तुत किया है। समबुद्धि होने के लिए हमें समस्त जीवों में एक मात्र परमात्मा के अस्तित्त्व का दर्शन करना चाहिए।

श्री भगवान ने समदर्शी बुद्धि का वर्णन करके अगले श्लोक से ध्यान योग के संबंध में आवश्यक उपायों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है–

ध्यान योग के प्राथमिक निर्देश–

मूल श्लोक– 10

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।।

पदच्छेद–

योगी, युञ्जीत, सततम्, आत्मानम्, रहसि, स्थितः,
एकाकी, यतचित्तात्मा, निराशीः अपरिग्रहः।।

भावार्थ– अपरिग्रही (संसारिक वस्तुओं को एकत्र न करने वाला), आशा रहित, जीते हुए चित्त वाला, योगी, एकाकी, एकान्त में रहकर चित्त को निरंतर (लक्ष्य में) लगाए।

व्याख्या– जिस प्रकार प्रत्येक कार्य के आरंभ करने के पूर्व ही कुछ आवश्यक निर्देश दिए जाते हैं जिन्हें प्राथमिक निर्देश कहा जाता है। किसी भी कार्य में प्राथमिक निर्देशों का बड़ा ही महत्व है। वैसे ही ध्यानयोग की क्रिया आरंभ करने के पूर्व श्रीभगवान ने उपर्युक्त श्लोक में ध्यानयोगी के लिए कुछ आवश्यक निर्देशों को प्रस्तुत किया है। ध्यान योगी यदि उक्त निर्देशों को समझकर उसका पालन कर ले तो ध्यान योग की

परिपक्वता शीघ्र ही आ सकती है। श्रीभगवान द्वारा ध्यान योग में प्रस्तुत प्राथमिक निर्देशों का अवलोकन कीजिए–

1– अपरिग्रही हो जाना– (अपरिग्रही)–

मनुष्य युवा अवस्था के पूर्व से ही अनेक संसारिक वस्तुओं को एकत्र करना आरंभ कर देता है। क्योंकि उसे अपने सुख भोग के लिए अनेक वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीति होने लगती है। मनुष्य चाहें किसी स्तर का हो किसी भी देश काल से संबंधित हो वह संसारिक वस्तुओं को एकत्र करने का कर्म अवश्य करता है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी रूचि, अवस्था, गुणों, आवश्यकता, वातावरण, देशकाल के आधार पर संसारिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। वस्तुओं की आवश्यकता क्यों होती है? क्योंकि हमें वस्तुओं में सुख का अहसास रहता है। यह भाव दृढ रहता है कि हमारे पास अमुक वस्तु नहीं है और यदि हो जाएगी तो हमें सुख प्राप्त होगा, आनंद की अनुभूति होगी, यद्यपि यह धारणा ही भ्रामक है कि वस्तुओं से हमें सुख तथा आनंद की प्राप्ति होगी। यह भ्रामक धारणा ही हमें अनेक प्रकार की संसारिक वस्तुओं के संग्रह के लिए निरंतर प्रेरित करती है और हम किसी अज्ञात शक्ति से प्रेरित हुए संसारिक वस्तुओं को एकत्र करने का कार्य करते रहते हैं।

संसारिक वस्तुओं के संग्रह में नवीन वस्तुओं को एकत्र करने तथा पुरानी वस्तुओं का परित्याग करने का भाव भी रहता है। जैसी हमारी आवश्यकता होती है वैसा हमारा संग्रह का कार्य होता रहता है। पुरानी वस्तुएं नवीन होने पर अपनी आवश्यकता का आभास कराती हैं। समय के साथ ही वह पुरानी हो जाने पर हमें उनकी आवश्यकता का आभास कम होता जाता है।

एक समय पुरानी वस्तुएं हमारे लिए निरर्थक हो जाती हैं और हम उसका परित्याग कर देते हैं। उसके स्थान पर नयी वस्तुएं एकत्र करते हैं क्योंकि उनकी आवश्यकता का आभास हमें होने लगता है। इसी को परिग्रह कहते हैं। हम जितनी संसारिक वस्तुओं का अपने सुख व आनंद के लिए एकत्रीकरण करते हैं ये सब का सब परिग्रह कहा जाता है। इसके प्रतिकूल संसार की वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीति समाप्त हो जावे तथा संसार की वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीति समाप्त हो जाने पर संसार की वस्तुओं का संग्रह समाप्त कर दें तो इसे ही अपरिग्रह कहा जाता है। संसार

की वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीति समाप्त हो जावे तो यह अपरिग्रह का श्रेष्ठ स्वरूप है और ऐसे साधक को अपरिग्रही कहा जाता है।

2– ध्यान योग में अपरिग्रह होने की आवश्यकता–

मनुष्य जब संसारिक वस्तुओं में सुख मानकर संसारिक वस्तुओं के संग्रह की चेष्टा करता है तो उसका संपूर्ण प्रयास उन वस्तुओं के संग्रह की ओर हो जाता है। मनुष्य पहले इन्द्रियों से संसारिक वस्तुओं की ओर आकृष्ट होता है, तत्पश्चात् मन से भी उधर आकर्षण होता है तथा बुद्धि उन संसारिक वस्तुओं के संग्रह का विनिश्चय करती है। तब संसारिक वस्तुओं के संग्रह का कार्य आरंभ होता है। ऐसी स्थिति में हमारा संपूर्ण प्रयास संसारिक वस्तुओं के होने से हम मानसिक रूप से भी उसमें संलग्न रहते हैं। जब हमारा संपूर्ण ध्यान ही संसारिक वस्तुओं के संग्रह में रहता है तो ध्यान में भी वही वस्तुएं आती हैं जिनका हम संग्रह करना चाहते हैं। इस कारण परिग्रह ध्यान में बाधक है। ध्यान में जब वस्तुओं की प्रतीति रहती है तब अभीष्ट का ध्यान नहीं होता। इस कारण ध्यान योग में अपरिग्रही होने की आवश्यकता रहती है।

3– आशा रहित (निराशी) होना– (निराशीः)–

जो मनुष्य संसार की आशा में जीता है वह संसारी और भोगी कहलाता है और जो परमात्मा की आशा में जीता है वह योगारूढ की इच्छा वाला अंततः योगी हो जाता है। हम सभी अधिकांशतः संसार की आशा में जीते हैं। हमारी स्थिति ऐसी है कि हमने आज इतनी संपदा प्राप्त कर ली है और भविष्य में और अधिक संपदा प्राप्त कर लेंगे। संपदा की आशा की तरह अन्य आशाएं भी हैं जिनके सहारे हम अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। संसार की आशाओं की सीमा नहीं है। वे असीमित और असंख्य हैं। धन, संपति, स्त्री, पुत्र, पद, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, राज्य ये सभी संसार की आशाएं हैं जिनमें हम सभी अपना जीवन काटते हैं। ये आशाएं इतनी प्रबल हैं कि मनसा वाचा कर्मणा अपने में ही लगाए रखती हैं।

मनुष्य किसी न किसी एक आशा के आश्रय में जीता है। जहां से पर आशाएं होती हैं वहां से निकल पाना असंभव हो जाता है। जो संसार की आशाओं का परित्याग करके आशा रहित हो जाता है और परमात्मा की अनुभूति की आशा में जीता है उसे निराशी कहते हैं। ऐसा व्यक्ति संसार की समस्त आशाओं का परित्याग कर देता है।

4– ध्यान योग में निराशी होने की आवश्यकता–

संसार की आशा में जीने वाले मनुष्य का मन संसार की आशाओं की पूर्ति में संलग्न हो जाता है तथा वह स्थिर नहीं रह पाता। जैसे हमें धन की आशा है तो हम धन की आशा के बारे में विचार करेंगे कि हमें धन कैसे प्राप्त होगा? उस धन का उपयोग हम किस प्रकार करेंगे? और भविष्य में हम अधिक से अधिक धन कैसे प्राप्त करेंगे? आदि–आदि विषयों के बारे में मन का विचार रहता है।

इस प्रकार संसार की अनगिनत आशाओं की प्राप्ति के बारे में भी मनुष्य विचार किया करता है। यह सब का सब विचारण अर्थात् आशा के संबंध में विचार करने की प्रक्रिया ध्यान में बाधक होती है। हम जब ध्यान में बैठते हैं तो ध्यान के लक्ष्य की ओर मन न जाकर संसार की आशाओं की ओर मन स्वतः चला जाता है। इससे ध्यान की प्रक्रिया प्रभावित होती रहती है। इस कारण ध्यान योग में आशारहित होना अर्थात् निराशी होना आवश्यक होता है। निराशी होने पर हम शीघ्र ही ध्यान योग की सिद्धि कर लेते हैं।

5– चित्त को जीत लेना– (यतचित्तात्मा) –

चित्त की वृत्ति अर्थात् कार्य चिंतन कहा जाता है। अंतःकरण चतुष्ट्य में चित्त का उल्लेख होता है। अर्थात् अंतःकरण के मनीषियों ने चार भाग कहे हैं जिन्हें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार कहा जाता है। मनुष्य जिन संसारिक विषयों का चिंतन करता है वह चित्त के माध्यम से ही करता है।

मनुष्य जागृत अवस्था में अर्थात् जागने पर तथा स्वप्नावस्था में अर्थात् स्वप्न देखते समय अनेक विषयों के बारे में चिंतन करता रहता है। जैसे मनुष्य का यह विचार रहता है कि हमें क्या करना है? क्या करने के बारे में चिंतन का कार्य चित्त करता है। चित्त के द्वारा यदि क्या करने के संदर्भ में चिंतन न हो तो चिंतन रूपी कर्म नहीं हो सकेगा।

इसी प्रकार समस्त कर्मों के संपादन के पूर्व कर्म ही संपादन प्रक्रिया आदि के बारे में चिंतन होता रहता है। कर्म चाहे दीर्घकालिक हो अथवा अल्पकालिक हो प्रत्येक के बारे में चिंतन होता है। जैसे भोजन करना, स्नान करना, व्यायाम करना, किसी से

मिलना जुलना, अध्ययन करना आदि सभी प्रकरणों में मनुष्य पहले चिंतन करता है। कुछ विषय ऐसे होते हैं जिनके बारे में मनुष्य बहुत विचार करता है।

जैसे अपनी जीविका के उपार्जन के संबंध में, अपने भविष्य के बारे में, अपनी योजनाओं के बारे में, अपनी धनोपार्जन प्रक्रिया के बारे में, अपनी समस्याओं के बारे में, अपने परिवार के हित, कल्याण और भविष्य आदि के बारे में मनुष्य बहुत चिंतन करता है। उन समस्याओं पर चिंतन जब होता है तो उनके निराकरण के बारे में भी चिंतन रहता है तथा निराकरणों के उपायों को बुद्धि के पास प्रेषित करना चित्त का ही कार्य है। इस प्रकार चित्त मानव शरीर में बहुत ही महत्वपूर्ण तत्त्व है।

संसार के विषयों अर्थात् प्रकरणों के बारे में जो भी चिंतन हो वह साधक जब चाहे तो उसे रोक दे। यह चित्त को जीत लेने की स्थिति है। जब तक चित्त मनमाने ढंग से अनियंत्रित प्रकार से, चेष्टा करता रहता है तब तक वह जीता नहीं जा सकता है। अनियंत्रित चित्त अविजित माना जाता है।

संसार में अनेक विषय और असंख्य प्रकरण हैं। अर्थात् उनकी संख्या नहीं है। असंख्य विषयों को असंख्य प्रकार से चिंतन करने में चित्त समर्थ रहता है। वह एक ही प्रकरण को कई प्रकार से चिंतन कर सकता है। यह चित्त की विशेष शक्ति है। चिंतन कार्य को समग्रता से करने का कार्य चित्त का है और वह इसे करता है। हम जब चाहे चिंतन को पूर्णविराम देकर अपने जीवन के कल्याण हेतु चिंतन कर सकते हैं। यह चित्त की जीती हुई अवस्था कही जाती है।

6– ध्यान योग हेतु चित्त को जीतने की आवश्यकता–

ध्यान योग में चित्त को जीतने की बहुत आवश्यकता होती है। जब तक चित्त अनावश्यक अर्थात् संसारिक प्रकरणों का चिंतन करता है तब तक वह ध्यान योग के लक्ष्य की ओर उन्मुख नहीं हो सकता है। चित्त एक काल अर्थात् समय में एक ही विषय का चिंतन कर सकता है तथा निरंतर चिंतन करने के कारण अनेक विषयों में संलग्न रहता है। जब चित्त की संलग्नता संसारिक विषयों अर्थात् प्रकरणों में रहती है तब तक ध्यान का विषय आरंभ ही नहीं होता है। ध्यान में संसारिक विषयों के चिंतन का त्याग संपूर्णता से करना पड़ता है। संसार के विषयों का चिंतन तथा ध्यान योग के लक्ष्य का चिंतन यह दोनों ही एक–दूसरे के प्रतिकूल तथ्य हैं। एक का मार्ग आकाश

की ओर है और एक का मार्ग पृथ्वी की ओर है। इस तथ्य को स्पष्ट समझना चाहिए कि जब तक संसार के विषय में चित्त चिंतन करता है तब तक ध्यान योग की प्रक्रिया का शुभारंभ नहीं होता है। इस कारण ध्यान में चित्त को जीतने की आवश्यकता होती है। जीते हुए चित्त से ध्यान योग की सिद्धि हो जाती है।

7– योगी होना– पूर्व में यह तथ्य वर्णित किया जा चुका है कि समस्त संकल्पों का त्यागी पुरूष योगी कहलाता है। अर्थात् योग पर आरूढ हो जाता है। योग की अन्य परिभाषाओं को भी श्री भगवान ने प्रस्तुत किया है। जैसे दुख के संयोग का वियोग हो तो उसे भी योग कहते हैं। जो पुरूष संकल्पों का संपूर्णता से त्याग कर देता है वह योगी हो जाता है। मनुष्य का मन संकल्प करता है क्योंकि संकल्प मन की वृत्ति है। संसार में जितने भी कर्म होते हैं वे संकल्पों से युक्त ही होते हैं। बिना संकल्प के कोई कार्य नहीं होता है। अध्ययन का संकल्प, ज्ञान प्राप्ति का संकल्प, संसारिक विषयों के पृथक्–पृथक् प्राप्ति का संकल्प, विद्वान बनने का संकल्प, योगारूढ होने का संकल्प आदि–आदि अनगिनत प्रकार के संकल्प मनुष्य करता है। जो संसारिक संकल्प होते हैं। वे योगी हेतु बाधक होते हैं और योगी बनने का जो संकल्प होता है वह योग हेतु सहयोगी होता है। इस प्रकार जब तक हमारे मन से संसारिक कर्मों के संकल्प रहते हैं तब तक हम योगी नहीं हो पाते हैं। इस कारण समस्त प्रकार के संकल्पों का त्याग करके ही हमें योगी होने की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

8– ध्यान योग हेतु योगी बनने की आवश्यकता– (योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः)–

मन में जब तक संकल्प रहते है तब तक ध्यान योग में बाधाएं आती हैं। संकल्प भी ध्यान योग में प्रमुख बाधा है। ध्यान में जब साधक बैठता है तो वह मन पर नियंत्रण का प्रयास करता है। मन पर यदि पूर्ण नियंत्रण हो जावे तो ध्यान योग में सिद्धि प्राप्त होने की स्थिति आ जाती है क्योंकि ध्यान योगी मन को ही लक्ष्य में लगाता है। इस कारण जब मन विभिन्न प्रकार के संकल्प करता है तो वह ध्यान के लक्ष्य पर मन को स्थापित नहीं कर सकता। एक मन एक काल में या तो संसारिक संकल्प कर सकता है अथवा ध्यान कर सकता है परंतु मन के अनेक संकल्प ही मन को इष्ट के ध्यान में नहीं लगने देते हैं। उसमें बाधा उत्पन्न किए रहते हैं। इस प्रकार मन के संकल्पों को समाप्त करके योगी बनना आवश्यक है जिससे ध्यान योग की सिद्धि संभव है।

योग की दूसरी परिभाषा में दुख के संयोग के वियोग को योग कहते हैं। अर्थात् जो दुखों के संयोग का वियोगी हो वह योगी होता है। दुखों के तीन स्वरूपों का वर्णन शास्त्रों में आता है। जिन्हें आध्यात्मिक, अधिभौतिक और अधिदैविक दुख कहा जाता है। आध्यात्मिक दुख में हमारे मन में अनेक चिंताओं का रहना तथा मानसिक रूप से उत्पीडित रहना सम्मिलित है। अधिभौतिक दुख शारीरिक क्लेश अर्थात् रोगों का उत्पन्न हो जाना, पशु–पक्षी, कीट आदि से दुखों का प्राप्त होना माना जाता है। अधिदैविक दुख प्रकृति की ओर से होते हैं। जैसे भूकंप का आना, अतिवृष्टि तथा उससे बाढ़ का आ जाना, अग्नि का लग जाना और ओलावृष्टि आदि हो जाना। योगी इन समस्त दुखों के प्रति उदासीन हो जाता है। उसे दुखों के आने पर दुख का आभास नहीं होता है। ध्यान योग में यह बाधाएं यदि उपस्थित होती है ंतो हमें ध्यान योग की सिद्धि नहीं हो पाती हैं। वस्तुतः जब तक साधक को दुखों का आभास होता रहता है तब तक ध्यान में दुखों के प्रकरण ही आते रहते हैं। इस कारण ध्यान योग में योगी की आवश्यकता का निरूपण होता है।

9– एकाकी होना तथा एकांत में रहना– (एकाकी)– ध्यान योग के लिए एकाकी अर्थात् अकेले रहना तथा एकांत में रहना परम आवश्यक है। हम जब समाज में रहते हैं तो भीड़भाड़ वाले स्थान में रहते हैं तो ध्यान की प्रक्रिया में ध्यान बंटता है। ध्यान का प्रकरण, विषय और प्रक्रिया सभी कुछ शांति चाहती है। कोलाहल पूर्ण स्थान में मन स्वतः ही ध्वनि की ओर चला जाता है। क्योंकि कर्ण स्वतः ही ध्वनि को ग्रहण करते रहते हैं। ध्वनि के रहने पर मन, ध्वनि के प्रकार की टोह लेता है। यह स्वतः स्वचालित प्रक्रिया है।

इस कारण एकांत स्थान का प्रावधान बताया गया है। इसी प्रकार हम जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों के साथ रहते है ंतो भी ध्यान की प्रक्रिया प्रभावित होती है। इसके कई कारण हैं एक तो प्रत्येक मनुष्य के गुण पृथक्–पृथक् होते हैं तथा मनुष्य अपने गुणों के अनुकूल ही कर्म करता है। हम जिस गुण से प्रभावित रहते हैं उसी गुण के आधार पर अपनी समग्र क्रियाएं करते हैं। पृथक्–पृथक् गुणों से प्रभावित मनुष्यों की रूचि, क्रियाविधि, व्यवहार, आचरण सभी कुछ ही पृथक्–पृथक् होते हैं। इस कारण श्री भगवान ने ध्यान योगी साधक को एकाकी तथा एकांत में रहने का आदेश दिया है।

मनुष्य मन स्वतः ही प्रमथनशील और चंचल होता है। बिना आश्रय के ही स्मृति तथा कल्पनाओं का आश्रय ग्रहण कर लेता है। यह मन की विशेषता है। और उसकी

शक्ति की प्रबलता ही है। हमारे अंतःकरण में जो अतीत की स्मृतियां संचित रहती हैं उन्हीं के आश्रय में मन रहता है और उनके साथ ही कल्पना की असीम संसार में तैर लेता है। ये तो बिना आश्रम का तथ्य है। यदि मन को शब्द, रूप, स्पर्श, गंध का आश्रय प्राप्त हो जाता है तो वह कल्पना की असीम ऊंचाई ग्रहण कर लेता है। एकाकी और एकांत में मन के आश्रय को पर्याप्त आधार नहीं मिलता है इस कारण वह शांत हो जाता है। इसलिए ध्यान योग में एकांत की आवश्यकता होती है।

10– चित्त को निरंतर लक्ष्य में लगावें–

चित्त संसार के विषयों का चिंतन करता रहता है तथा निरंतर ही संसार में संलग्न रहता है। चित्त का चिंतन अधिकतम संसारिक विषयों की ओर होता है। अर्थात् मनुष्य के संपर्क में जो–जो व्यक्ति, वस्तुएं, घटनाएं आती–जाती हैं उनके बारे में उसका चित्त अधिकतम चिंतन करता है। इस कारण जब हम ध्यान तथा मेडिटेशन में बैठते है ंतो वही व्यक्ति, वस्तुएं, घटनाएं हमारी चित्त में व्यवधान उत्पन्न कर देती हैं। हम लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं परंतु ध्यान संपर्कित वस्तुओं, घटनाओं तथा व्यक्तियों की ओर स्वतः ही चला जाता है। बिना प्रयास के यह क्रिया स्वाभाविक रूप से होती है। हम ध्यान का प्रयास लक्ष्य की ओर करते हैं परंतु बिना प्रयास के हमारा ध्यान संसार की ओर भटक जाता है। क्योंकि हमारा संपर्क दीर्घकाल से संसार में रहता है इस कारण हमारे प्रयास करने पर भी हमें सफलता प्राप्त नहीं होती है। एक घंटे ध्यान में बैठे साधक से यदि आप प्रश्न करें कि वह कितने मिनट संसार के ध्यान में रहा और कितने मिनट लक्ष्य में चित्त को समाहित किया तो ध्यान योगी का लक्ष्य में समाहित होने का समय बहुत कम रहेगा। क्योंकि वह अधिकांश समय संसार के चिंतन में ही रहा है। इस कारण ध्यान योगी की स्वतः उन्मुखता लक्ष्य के प्रतिकूल रहती है।

नदी के प्रवाह को आपने देखा होगा यह प्रवाह निरंतर बहता है। जब सतत् चलता रहता है। वैसे ही हमारे चित्त का प्रवाह संसार की ओर रहता है। चित्त के चिंतन का प्रवाह संसार की ओर बह रहा है। इस कारण वह सहजता से उसी ओर जल की धारा की भांति बहता है। यदि जल की धारा को हम मोड़ने का प्रयास करते है ंतो वह कठिनता से मुड़ती है। जल की चलती हुई धारा को जब रोकते है ंतो वह बांध को तोड़ने का प्रयास करती है। बहुत प्रयास से, बांध के मजबूत होने पर नदी की धारा रूकती है अथवा उसके प्रवाह की दिशा परिवर्तित होती है। इसी प्रकार चित्त के चिंतन

का प्रवाह संसार की ओर बह रहा हैं निरंतर बह रहा है। ध्यान में हम चित्त के चिंतन के प्रवाह को रोकने तथा उसे मोड़ने का प्रयास करते हैं। तब चिंतन का प्रवाह स्वतः ही रोकने की प्रक्रिया को तोड़कर संसार की ओर तेजी से भागता है। हम चिंतन के प्रवाह को पुनः रोकते हैं और वह बंधन तोड़कर भागता है। बहुत प्रयास से चित्त के चिंतन का प्रवाह लक्ष्य की ओर हो पाता है। सतत प्रयास से निरंतर अभ्यास से हमें इस कार्य में सिद्धि प्राप्त होती है।

ध्यान योग के साधक को निरीक्षण करना चाहिए कि हमारा चित्त किस प्रकार के विषयों का चिंतन कर रहा है। हमारे चित्त के चिंतन के क्या विषय हैं? चित्त के चिंतन का भटकाव कहां है? जिन जिन विषयों में चित्त रूकता है, रमता है उन विषयों का निषेध करें। उन–उन विषयों का अवरोध ध्यान में होता है। प्रमुख रूप से तीन प्रकार के विषय चित्त के चिंतन की ध्यानावस्था में आ जाते हैं जिन्हें तात्कालिक, अल्पकालिक और दीर्घकालिक कहा जाता है। तात्कालिक विषय वे है ंतो तत्काल घटनाओं के बारे में चित्त में उभरते हैं। इनसे चित्त में चंचलता का प्रार्दुभाव हो जाता है। अल्पकालिक विषय वे होते हैं जो कुछ समय के लिए स्मृति से निकलकर चित्त के चिंतन में आ जाते हैं। ऐसे विषयों की संख्या असंख्य होती है और वे दीर्घकालिक विषय होते हैं। जो एक लंबे अंतराल से हमारे साथ संलग्न रहते हैं तथा चित्तकाल में स्वतः ही समस्याओं के रूप में उभरते हैं। मुख्यतः उपरोक्त विषयों के चिंतन काल में चित्त लक्ष्य से भटकता है। इस कारण साधक को इन विषयों पर ध्यान देकर अपने चित्त को इसे हटाना चाहिए। चित्त को लक्ष्य में लगाने का अभिप्राय यह है कि जो चीज संसार के विभिन्न और पृथक्–पृथक् विषयों के बारे में चिंतन करता है वह चिंतन समाप्त हो। जब तक संसार के विषयों का चिंतन समाप्त नहीं होगा तब तक लक्ष्य के चिंतन में पूर्णता प्राप्ति नहीं होगी। ज्यों–ज्यों संसार का चिंतन घटेगा वैसे–वैसे लक्ष्य का चिंतन बढ़ेगा। यह क्रिया स्वतः होती है। साधक को संसार के चिंतन के समाप्त होने तथा लक्ष्य की ओर बढने का स्वतः ही आभास होता है। अप्रतीत तत्त्व प्रतीत होने लगता है। विलुप्त तत्त्व प्रदर्शित होता है। अप्रकट तत्त्व प्रकट हो जाता है। इस क्रिया में प्रमुख तत्त्व संसार के चिंतन को समाप्त करने का है। इसे ध्यान के माध्यम से समाप्त कर लेना चाहिए।

इस प्रकार ध्यान योग के प्राथमिक निर्देशों अपरिग्रही होना, संसार की आशा का त्याग करना चित्त का परमात्मा में समाहित कर देना और संयमित हो जाना, योगी हो जाना, एकाकी होकर एकांत में रहना तथा चित्त को लक्ष्य में लगाना सम्मिलित है।

श्रीभगवान ने उक्त तथ्यों को प्राथमिक रूप से वर्णित किया है क्योंकि ये ध्यान योग के लिए आवश्यक तत्त्व हैं। ध्यान योगी को इनका अनुकरण करना चाहिए।

श्री भवगान अगले श्लोकों में ध्यान योग की क्रिया विधि का आवश्यकताओं के साथ निरूपण कर रहे हैं। ध्यान योग के लिए क्या स्थितियां आवश्यक होती हैं? इसका अवलोकन कीजिए।

ध्यान योग की क्रिया विधि–

मूल श्लोक– 11

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।।

पदच्छेद–

शुचौ, देशे, प्रतिष्ठाप्य, स्थिरम्, आसनम्, आत्मनः,।
न, अत्युच्छ्रितम्, न, अतिनीचम्, चैलाजिनकुशोत्तरम् ।।

मूल श्लोक–बारह

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।

पदच्छेद–

तत्र, एकाग्रम्, मनः, कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः,।
उपविश्य, आसने, युञ्ज्यात्, योगम्, आत्मविशुद्धये ।।

भावार्थ– शुद्ध स्थान पर वस्त्र मृग, चर्म तथा कुश बिछे हुए हो न अधिक ऊंचा और न नीचे आसन पर अपने को स्थापित करके उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रिय की क्रियाओं को जीतकर मन को एकाग्र करके स्वयं की सिद्धि हेतु योग का अभ्यास करें।

व्याख्या– श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोकों में ध्यान योगी के लिए ध्यान योग हेतु आवश्यक निर्देश दिए हैं जो अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इन निर्देशों में शुद्ध स्थान का चयन

करना, आसन पर वस्त्र, मृग, चर्म कुश बिछाना, आसन का अधिक ऊंचा या नीचा न होना, आसन का स्थिर होना सम्मिलित है। यह पांच तथ्य महत्वपूर्ण हैं। जिसका अवलोकन कीजिए–

1– शुद्ध भूमि का चयन– (शुचौदेशे)–

ध्यान योग के साधक को ध्यान के लिए शुद्ध भूमि का चयन प्रथमतः करना चाहिए। ध्यान के लिए शुद्ध भूमि की आवश्यकता क्यों होती है? इस पर विचार करना चाहिए। ध्यान में हम संसार की निकटता को त्यागते हैं और परमात्मा की सानिध्यता को ग्रहण करने का प्रयास करते हैं। संसार में जितने कर्म हैं उन सबसे परमात्मा की सान्निध्यता प्राप्त करने का कर्म सर्वश्रेष्ठ है। इतना पवित्र कर्म अन्य कोई नहीं है और इसे हम ध्यान के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इस कारण शुद्ध भूमि में परमात्मा के संदर्भ में ध्यान का प्राविधान श्रीभगवान ने किया है। संसार के जितने भी कर्म हैं यज्ञ, दान, तप रूपी कर्म सब में श्रेष्ठ है। परंतु परमात्मा की सानिध्यता जिस साधन से ग्रहण की जाती है वह यज्ञ, दान, तप रूपी श्रेष्ठ कर्मों से भी श्रेष्ठ माना जाता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान, तप रूपी कर्म भी परमात्मा की प्राप्ति के ही हेतु कहे जाते हैं। इस कारण ध्यान के लिए शुद्ध भूमि का चयन करना चाहिए। हमारे आवास पर एक स्थान ऐसा होना चाहिए जो ध्यान के लिए उपयुक्त हो। जहां पर अन्य समस्त संसारिक कर्मों का निषेध हो। इस स्थान को हम ध्यान के लिए चयनित कर सकते हैं। किसी भी स्थान को गाय के गोबर से लीप पोत कर शुद्ध किया जाता है। वैसे हम सब शुद्ध भूमि का अर्थ समझते ही हैं। इस कारण ध्यान योग में शुद्ध भूमि का प्राविधान श्रीभगवान ने किया है।

भगवान ने शुद्ध भूमि का तो तथ्य कहा है उसका स्पष्ट अभिप्राय शुद्धता से ही है। जैसे हम शौच स्नानादि से अपनी काया को शुद्ध रखते हैं तथा उसके उपरांत शुद्ध धुले हुए वस्त्रों को धारण करते हैं उससे हमें स्वयं में शुद्धता का आभास रहता है। यह आभास दो ही कारणों से होता है। एक शौच स्नानादि से तथा दूसरे धुले वस्त्रों को ग्रहण कर लेने से। इसी प्रकार जब भूमि के स्थान का चयन करते है ंतो उसमें शुद्धता होनी चाहिए और उसे हम लीपपोत कर भी शुद्ध कर सकते हैं। शुद्ध भूमि को जल, गोबर आदि को स्वच्छ कर देते है ंतो वह शुद्ध ही मानी जाती है परंतु उस स्थान पर दूषित कर्म नहीं होने चाहिए।

मानव शरीर के नीचे के अंग निकृष्ट तथा ऊपर के अंग उत्कृष्ट समझे जाते हैं। पैर से हम किसी वस्तु को छू देते हैं तो वह वस्तु अपवित्र समझी जाती है। अपवित्र हो जाती है। पैर भी शरीर का एक अंग है। किसी पूज्य वस्तु श्रीभगवान के प्रसाद को मस्तक से लगाने का प्रावधान है। क्योंकि मस्तक को शरीर में उत्कृष्ट माना जाता है। पैर भी शरीर का अंग हैं तथा मस्तक भी शरीर का एक अंग है। उसी प्रकार संपूर्ण पृथ्वी में भी शुद्ध–अशुद्ध भूमि मानी जाती है। पवित्र नदियों के तटों की भूमि स्वतः ही शुद्ध मानी जाती है। श्री भगवान ने जहां अवतार ग्रहण किया और नाना प्रकार की लीलाएं की वह स्थान अतिशुद्ध माना जाता है।

जैसे मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या आदि। जिस स्थान पर अट्ठासी हजार ऋषियों ने तपस्या की उस नैमिषारण्य की भूमि को भी शुद्ध माना जाता है। हमारे देश में बद्रीनाथ, केदारनाथ, द्वारिका, हरिद्वार, ऋषिकेश, हिमालय, चित्रकूट, रामेश्वरम् आदि–आदि सैकड़ों अनगिनत शुद्ध स्थान समझे जाते हैं। इसलिए वहां पर ध्यान का विशेष महत्व है। भगवान ने **शुचौदेशे** जो शब्द कहे हैं वह बहुत व्यापक अर्थ वाले हैं। शुद्ध भूमि जहां–जहां है वह सब उसके अर्थ में आ जाती है। शरीर में श्री भगवान का वास हृदय में है। इस कारण हृदय को शरीर में सर्वाधिक पवित्र समझा जाता है। सिर में मन, बुद्धि का वास होता है। इस कारण सिर को भी श्रेष्ठ माना जाता है। साधक उस मन को हृदय में अर्थात् भगवान के स्वरूप में स्थापित करता है। सिर शरीर में सबसे ऊंचे स्थान पर है पर हृदय में श्रीभगवान के निवास होने के कारण वह स्थान सबसे अधिक पवित्र है। इस प्रकार श्री भगवान का वास जहां रहता है वह स्थान भी परम पवित्र माना जाता है। वैसे तो कण–कण में श्री भगवान की उपस्थिति की संकल्पना की जाती है परंतु तीर्थस्थलों को इस कारण पवित्र माना जाता है। क्योंकि वहां पर श्री भगवान ने या तो लीला की अथवा उनका अवतरण हुआ था। ध्यान योग के साधन में शुद्ध भूमि चयन का इसी भाव से महत्व है।

2–ध्यान के आसन के संबंध में निर्देश–

श्री भगवान ने उस आसन के संबंध में वर्णन किया है जिस पर बैठकर ध्यान योग में आरूढ होने की इच्छा करने वाला साधक बैठना चाहता है। उस आसन की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं। 1– आसन का स्थिर होना, 2– आसन का अधिक नीचा न अधिक ऊंचा न होना तथा 3– आसन का अत्यधिक ऊंचा न होना। उक्त विशेषताओं से

युक्त आसन को श्रेष्ठ आसन कहा जाता है। इन तीनों विशेषताओं का क्रमशः अवलोकन कीजिए–

1– स्थिर आसन– (स्थिरमासनम्)

जिस आसन पर ध्यान का अभ्यास होता है वह आसन स्थिर होना चाहिए। स्थिर का अभिप्राय है कि उस आसन को हिलना डुलना नहीं चाहिए। आसन के हिलने डुलने से एक स्थान पर स्थित न रहने से ध्यान में व्यवधान पड़ता है। जब ध्यान किया जाता है और मन की चंचलता को रोककर अभीष्ट लक्ष्य में ध्यान की स्थापना की जाती है तो आसन के हिलने डुलने से मन की ध्यान प्रक्रिया तत्काल प्रभावित होती है और अभीष्ट लक्ष्य की ओर ध्यानोन्मुखी मन आसन के हिलने डुलने की क्रिया पर विचार करने लगता है। उसे ध्यान भंग भी कह सकते हैं। यदि आसन शरीर के हिलने डुलने से हिल–डुल रहा है तो वह स्थिर नहीं है तो ध्यान की प्रक्रिया प्रभावित रहने के कारण साधक ध्यानस्थ नहीं हो पाता है। ध्यान में लगा हुआ मन पुनः–पुनः अस्थिर आसन की ओर भागता है। जितनी बार आसन हिलता है उतनी ही बार ध्यान की क्रिया खण्डित होती है। जैसे हमारा मन लक्ष्य की ओर केन्द्रित हो रहा है अथवा केन्द्रित है तो आसन के हिलने से वह तत्काल ही आसन की अस्थिरता पर चला जाएगा। इस कारण श्री भगवान ने ध्यान हेतु स्थिर आसन का आदेश दिया है। ध्यान योग में आरूढ साधक स्थिर आसन की उपयोगिता को जानता है तथा वह स्थिर आसन पर ही बैठता है। ध्यान की क्रिया आरंभ करने के पूर्व वह स्थिर आसन को परखता है। अर्थात् आसन की स्थिरता को देखता है। जिस स्थान पर शुद्ध भूमि ध्यान हेतु चयनित की गयी है उस स्थान पर स्थिर आसन को स्थापित कर लेना चाहिए तथा उसे दृढता पूर्वक स्थिर कर लेना चाहिए। यही स्थिर आसन का अभिप्राय है।

2– आसन अधिक ऊंचा, नीचा न हो– (नात्युच्छ्रितं नातिनीचम्) –

श्री भगवान ने स्थिर आसन के पश्चात् अति नीचा तथा ऊंचा न होने के बारे में स्पष्ट कहा है अर्थात् ध्यान के लिए जिस आसन का प्रयोग किया जावे वह न तो अधिक ऊंचा हो और न ही अधिक नीचा हो। श्री भगवान ने आसन के संबंध में यह तथ्य बहुत ही रहस्यप्रद कहा है। इसका साधारण अर्थ तो स्पष्ट है कि आसन भूमि से संलग्न न हो अर्थात् लगा हुआ न हो और बहुत ऊंचा न हो जिससे गिरने पर चोट लगने की संभावना हो। नीचे आसन में ध्यान सिद्ध नहीं होता है और ऊंचे आसन में भी

नीचे गिरने का भय बना रहता है, क्योंकि ध्यानावस्था में निद्रा आने की संभावना अधिक रहती है।

इस कारण श्री भगवान ने अधिक ऊंचा और अधिक नीचा आसन का निषेध किया है। आसन के अधिक ऊंचे और नीचे होने के क्या परिणाम होना चाहिए ? इस संबंध में रहस्यप्रद तथ्य का अवलोकन कीजिए।

ध्यान में मन की स्थापना मस्तक में दोनों भौहों के मध्य स्थापित करने का श्रीभगवान का निर्देश है। जबकि श्रीभगवान का निवास मनुष्य के हृदय में है। ध्यान में जब लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है तो साधना की अच्छी स्थिति में ज्योति का दर्शन होता है। परंतु यह स्थिति शीघ्र नहीं आती है और न ही प्राथमिक स्तर पर आती है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए निरंतर मन को संसार के विषयों से निकालकर परमात्मा में स्थापित करना पड़ता है तथा परमात्मा की सत्ता की अनुभूति करनी पड़ती है। परमात्मा की सत्ता की अनुभूति करते रहने से साधक को शीघ्र ही ज्योति का दर्शन होता है तथा उसमें स्वच्छता, निर्मलता बढ़ती है और ठहराव होता है। ज्योति में निर्मलता, स्वच्छता रहना तथा मनचाहे समय तक उसे रोके रहना यह ध्यान के विकसित होने के संकेत हैं। ज्योति दर्शन के उपरांत साधक ध्यान योगी हो जाता है। हम अपने ध्यान को हृदय में भी स्थापित कर सकते हैं क्योंकि वहां पर भी परमात्मा का वास है।

जिस स्थान पर परमात्मा का वास होता है वह स्थान परम पवित्र तथा ज्योतिर्मय होता है और उस स्थान अर्थात् हृदय में ध्यान लगाने से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। हृदय में परमात्मा का वास होने से ध्यान स्वतः ही उधर आकृष्ट हो जाता है और वह ज्योति हमें प्रतीत होती है जिसका ध्यान योग में अनिवार्य और अभीष्ट समझा जाता है। भौहों तथा हृदय के मध्य जो दूरी है वह आसन की ऊंचाई है। यह विशिष्ट आसन होता है इससे ध्यान योग की सिद्धि शीघ्र हो जाती है। प्रत्येक साधक को अपने हृदय अथवा भौहों के मध्य दूरी नापकर इसी ऊंचाई का आसन निर्मित करवाना चाहिए तथा उस पर बैठकर ध्यान करने से अभीष्ट लक्ष्य की शीघ्र ही उपलब्धि होती है। यह आसन न तो अधिकऊंचा होता है और न ही अधिक नीचा होता है। श्री भगवान के आदेश के अनुरूप होता है।

ग– आसन पर वस्त्र, मृग चर्म तथा कुश बिछाकर ध्यान करें (चैलाजिन कुशोत्तरम्)– श्री भगवान ने स्थिर न अधिक ऊंचा न अधिक नीचा आसन पर ध्यान के

लिए जो आदेश दिया है उस पर वस्त्र, मृग चर्म और कुश बिछाने का आदेश दिया है। आसन पर बिछावन के लिए तीन वस्तुओं का प्रावधान श्रीभगवान ने किया है। जैसा वर्णन है उसके अनुसार वस्त्र, मृग चर्म तथा कुश बिछाने का क्रम है। इन तीन वस्तुओं का संबंध त्रिगुणों से है। सात्विक गुण प्रधान साधक कुश को ऊपर रख सकता है। मृग चर्म और वस्त्र को नीचे रख सकता है। रजोगुण प्रधान साधक मृग चर्म को ऊपर रखकर कुश तथा वस्त्र को नीचे रख सकता है। तथा तमोगुण प्रधान साधक से ध्यान शीघ्र नहीं बनता है इस कारण ऊपर वस्त्र कर ले तत्पश्चात् मृग चर्म और कुश को बिछा ले तो यह उचित रहेगा। वैसे सात्विक गुण प्रधान साधक ही ध्यान योग का अधिकारी है परंतु ध्यान करने का अधिकार सभी को है। किसी घटना, वातावरण, परिस्थिति से प्रभावित होकर रज और तम गुणों से प्रभावित मनुष्य भी ध्यान की ओर आकृष्ट होते हैं और ध्यान से उनके रज और तम गुणों का परिवर्तन सत्व गुण में हो जाता है। ऐसा देखा गया है। वस्तुतः ध्यान से मनुष्य में स्थित तामसी और राजसी गुण स्वतः ही समाप्त होने लगते हैं और साधक सात्विक हो जाता है। ये ध्यान योग की विशेषता है और उसका प्रभाव भी है जिससे मनुष्य में गुणों का परिवर्तन हो जाता है। ध्यान योगी अपनी सुविधा अनुसार उक्त तीनों वस्तुओं को क्रम से बदल सकता है। इस प्रकार श्री भगवान ने जो वस्त्र, मृग चर्म और कुश बिछाने का आदेश दिया है उसका यही अर्थ है।

भगवद्गीता का उद्भव काल पांच हजार वर्ष पूर्व माना गया है। उस समय मृग चर्म सहजता से उपलब्ध हो जाता था परंतु आज बहुत ही दुर्लभ वस्तु है। सहजता से प्राप्त नहीं हो सकता है। इस कारण साधक को उस स्थान पर कंबल का प्रयोग करना चाहिए। कंबल के प्रयोग से ही ध्यान ठीक से होता है क्योंकि कंबल में कठोरता नहीं होती और वह ऊष्मा भी देता है। आसन पर बिछावन का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। लकड़ी आदि के आसन कठोर होते हैं इस कारण प्राथमिक स्थिति में साधक को उस पर बैठने में कठिनता होती है। इसलिए ध्यान योगी के साधक को श्री भगवान द्वारा बताए गए बिछावन का प्रयोग करके ही ध्यान करना चाहिए।

3– आसन पर विराजमान होने के पूर्व अवधारणा– (उपविश्यासने)–

जिस आसन का उल्लेख पूर्व में हो चुका है। उस प्रकार के आसन की व्यवस्था करके ध्यान के इच्छुक व्यक्ति को उस पर विराजमान हो जाना चाहिए और विराजमान

होकर ध्यान के पूर्व कुछ अवधारणा करनी चाहिए, विचार करना चाहिए। आसन पर बैठकर क्या विचार करना चाहिए? उसका अवलोकन कीजिए–

क– एक परमात्मा ही समग्र जगत का स्वामी है और उसकी सत्ता ही सर्वत्र व्याप्त हो रही है तथा उसके नियंत्रण में सब कुछ संचालित हो रहा है। हम भी उसी के अधीन ध्यान कर रहे हैं।

ख– वह परमात्मा ही हमारे हृदय में विराजमान है जिसके कारण हम चेतन हैं तथा संसार में लिप्त होने के कारण ही शरीरस्थ परमात्मा से हम विमुख क्यों हो गये हैं?

ग– उस हृदयस्थ परमात्मा के दर्शनार्थ ही हम ध्यान की प्रक्रिया का शुभारंभ कर रहे हैं वह हृदयस्थ परमात्मा हमें शक्ति देकर अपनी नित्य उपस्थिति का आभास कराए।

घ– एकमात्र परमात्मा ही अविनाशी है और उसका अंश जीव भी अविनाशी है। इसके अतिरिक्त जिस जगत का हम व्यवहार कर रहे हैं वह समग्रता से विनाशी है और समय के साथ ही इस जगत का विनाश होना भी अवश्यसंभावी है।

ङं– इस विनाशशील जगत का आश्रय त्याग कर उसके विषयों की चिंतन का परित्याग कर हम हृदयस्थ परमात्मा का दर्शन कर सकते हैं। जब तक जगत के विषयों का चिंतन होगा तब तक वो हृदयस्थ परमात्मा हमें नहीं दिखेगा।

च– परमात्मा की अनुभूति के बिना हमें मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। इस कारण हम उसकी अनुभूति का सान्निध्यता प्राप्त करने का प्रयास आरंभ कर रहे हैं।

4– मन को एकाग्र करके– (तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा)–

उस आसन पर बैठकर उपरोक्त अवधारणा करके मन को एकाग्र करने का प्रयास करना चाहिए। 'मन को एकाग्र करके' श्रीभगवान के ये शब्द बहुत ही महत्वपूर्ण हैं क्योंकि जब तक मन एकाग्र नहीं होता है तब तक ध्यान की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है। मन को एकाग्र करके ही हो सकती है। एक–मन को एकाग्र करना क्या है? तथा दूसरे मन को कैसे एकाग्र किया जाता है। यह दोनों तथ्य महत्वपूर्ण हैं। एक तथ्य सैद्धांतिक है और दूसरा व्यवहारिक अर्थात् प्रयोगात्मक है। इन दोनों तथ्यों का अवलोकन कीजिए–

क– मन को एकाग्र करना क्या है?–

साधारणतयः हम सभी का मन संसारिक विषयों में भ्रमण किया करता है। और संसारिक विषय भोगों में ही विचरता है। यह विचारण और भ्रमण की प्रक्रिया जागृत और स्वप्नावस्था में चलती रहती है। मन की विचारण शक्ति इतनी प्रबल है कि वह निरंतर विचारण की प्रक्रिया में संलग्न रहता है। मन के विचारण की प्रक्रिया को संकल्प कहा जाता है। मन की वृत्ति अर्थात् कार्य भी संकल्प है। मन के निरंतर संसारिक विषयों के विचार करते रहने के कारण ही उसे प्रमथनशील और चंचल कहा जाता है। यह स्थिति एकाग्रता के प्रतिकूल है। मन जब कोई विचार नहीं करता है तो वह एकाग्रता की स्थिति में हो जाता है और जब तक विभिन्न विषयों में घूमता है तब तक वह एकाग्र नहीं होता है।

सामान्य जन मन की गति को नहीं जानते हैं और वे ये भी नहीं जानते हैं कि हमारा मन किस प्रकार कार्य करता है? हम असंख्य विषयों के बारे में जो भी विचार करते हैं वह सब का सब मन का ही कार्य है। विषयों की संख्या का विनिश्चिय करना असंभव है। इस कारण मन के द्वारा विचारित तथ्यों का विनिश्चिय करना भी असंभव ही है। एक मन सर्वत्र घूम घूम कर ही बहुत तेजी से विभिन्न विषयों पर विचार करता है। मन का कार्य सदैव गतिशील रहता है और वह निरंतर विचारण के कार्य में ही संलग्न रहता है। ये तथ्य एकाग्रता के प्रतिकूल है। मन जब भी कुछ विचार न करे तो यह स्थिति एकाग्रता कही जाती है। क्या यह स्थिति प्राप्त की जा सकती है? साधारणतयः तो यह असंभव सा प्रतीत होता है कि हम मन को एकदम शांत करके उसकी प्रक्रिया को रोक नहीं सकते हैं। जब तक मन की विचारण प्रक्रिया रूकेगी नही ंतब तक एकाग्रता कैसे आएगी? अर्थात् नहीं आएगी। इस प्रकार मन कुछ भी विचार न करे तो यह स्थिति एकाग्रता कही जाती है। ध्यान के द्वारा हमें ये स्थिति प्राप्त करनी पड़ती है।

ख– मन को कैसे एकाग्र किया जाता है?–

ध्यान में साधक बैठता है तो अनायास ही मन संसार की ओर भागता है। साधक अपने ध्यान को लक्ष्य में केन्द्रित करना चाहता है कुछ क्षण वह इधर उधर घूमता रहता है और कुछ समय लक्ष्य की ओर रहता है। साधक अपने ध्यान को लक्ष्य पर लगाते हैं अर्थात् मन को लक्ष्य पर स्थापित करने का प्रयास करते हैं, परंतु कुछ क्षण मन वहां पर

ठहरता है और पुनः संसार में भाग जाता है। यह मन के भागने की क्रिया चलती रहती है। मन के भागने की क्रिया को बुद्धि जान जाती है और बुद्धि पुनः ही उस मन को लक्ष्य पर स्थापित रहने का आदेश देती है। मन पुनः लक्ष्य पर स्थापित होने अर्थात् रूकने का प्रयास करता है परंतु कुछ क्षणों के उपरांत वह पुनः संसार में भ्रमण करने लगता है। यह तथ्य पुनः बुद्धि जान जाती है और मन को लक्ष्य पर लगने का आदेश देती है। इस प्रकार मन लक्ष्य पर लगना और भागना यह क्रिया निरंतर हुआ करती है। जब तक यह क्रिया होती रहेगी तब तक मन की एकाग्रता का तथ्य सिद्ध नहीं होता है और न ही ध्यान योग की सिद्धि होती है। ध्यान में रहने वाले साधकों के लिए यह स्थिति कष्टदायी है। साधक के मन में जितने भी संसारिक विषय हैं वे जब तक समूल नष्ट नहीं हो जाते तब तक मन की एकाग्रता की कल्पना करना व्यर्थ है। संसार के विषय साधक को अर्थात् ध्यान पर आरूढ होने की इच्छा साधक के लिए विशेष बाधा है जिन्हें हटाते ही मन को एकाग्र किया जा सकता है।

ध्यान के साधन में साधक जब भी ध्यान की क्रिया संपादित करे तो इस तथ्य पर दृष्टि रखें कि हम जब ध्यान पर बैठते हैं तो किन विषयों पर हमारा मन अनायास ही जाता है। जिन विषयों में मन जाता है उन विषयों का निषेध करें। मन साधारणतया अपने संपर्कित विषयों में जाता है। विशेषकर परिवार की समस्याओं में उनके निराकरण के उपायों में विषय भोगों अर्थात् इन्द्रिय अर्थों में मन का अधिकांश विचरण होता है। जहां पर मन जा रहा है जहां पर मन का भटकाव हो रहा है उन सबमें मन को भटकने से रोकना पड़ेगा। क्योंकि जब तक मन भटकेगा तब तक ध्यान की क्रिया आरंभ नहीं होगी। यह प्रक्रिया पुनः पुनः करने से अर्थात् मन को संसारिक प्रकरणों से निकालकर लक्ष्य में स्थापित करने से ही धीरे धीरे एकाग्रता आती है और ध्यान का काल बढ़ता है। जब संसारिक विषय पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं और मन लक्ष्य पर स्थापित हो जाता है तब मन एकाग्र हो जाता है। समय के साथ दृढता पूर्वक अभ्यास करने से यह स्थिति शीघ्र आ जाती है। यही मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया है।

5– चित्त एवं इन्द्रिय क्रियाओं को जीतना– (यतचितेन्द्रियक्रियः)–

श्री भगवान ने मन को एकाग्र करने का तथ्य कहा है। तत्पश्चात् चित्त एवं इन्द्रियों की क्रियाओं को जीतने का तथ्य उद्घाटित किया है। इससे स्पष्ट है कि मन की एकाग्रता तथा चित्त की क्रिया पृथक्–पृथक् तथ्य हैं। मन को एकाग्र करना और

चित्त की क्रियाओं को जीतने में बहुत ही सूक्ष्म अंतर अवश्य ही है, नही ंतो श्री भगवान दो पृथक्–पृथक् तथ्यों को नहीं कहते। चित्त की क्रिया क्या है ?और इन्द्रियों की क्रिया क्या है? उन्हें कैसे जीतना संभव है? इस तथ्य की व्याख्या के पूर्व इस तथ्य को प्रस्तुत किया जा रहा है कि मन की एकाग्रता और चित्त की क्रियाओं को जीतने में क्या अंतर है? मन कैसे कार्य करता है? और चित्त कैसे कार्य करता है? इस तथ्य को समझें और उसकी क्रियाओं के अंतर को जानें? इस संबंध में निम्न तथ्यों का अवलोकन कीजिए–

क– मन की एकाग्रता तथा चित्त की क्रियाओं को जीतने में अंतर–

मन की वृत्ति अर्थात् कार्य संकल्प है तथा चित्त की वृत्ति अर्थात् कार्य चिंतन है। संकल्प और चिंतन में अंतर होता है। हम साधारणतयः अनेक विषयों पर सामान्य रूप से विचार किया करते हैं। जैसे नदी का प्रवाह चलता रहता है। वैसे ही मन के द्वारा विचारण क्रिया चला करती है। जल की धारा के रूप में मन का बहना एक सामान्य प्रक्रिया है, क्योंकि वैसी ही प्रक्रिया मन की भी होती रहती है। वह धारावत् अनेक संसारिक विषयों का विचार किया करता है, जो विषय उसके संपर्क में आते हैं वे मन के द्वारा विचारित किए जाते हैं। इस प्रकार मन के द्वारा जो भी विचारण होते हैं वह प्रवाह की तरह चलते रहते हैं। ये विचारण विभिन्न प्रकार का होता है तथा जैसे विषय होते हैं वैसे ही संकल्प हुआ करते हैं। यह मन की संकल्प अर्थात् विचारण प्रक्रिया है।

चित्त किसी प्रक्रिया अथवा विषय का गहनता से चिंतन करता है। चित्त का अधिक प्रयोग विचारक, चिंतक, दार्शनिक अथवा प्रतिकूलता में फंसा हुआ व्यक्ति करता है। ऐसे लोग संबंधित विषयों पर गहनता से विचार करते हैं और उस विषय में अनेक प्रकार के तथ्यों पर जो चिंतन है वह चित्त का विषय है। चिंतन में विनिश्चिय जब होने लगता है तब बुद्धि चित्त के साथ एकरूप होने लगती है। जब तक चिंतन रहता है और विनिश्चिय नहीं होता है तब तक चित्त ही कार्य करता है। चित्त द्वारा चिंतन किए गए विषयों पर जब विनिश्चियात्मक कार्य होता है तो वह बुद्धि की वृत्ति विकल्प के कारण होता है। मन के विचारण पर तथा की चिंतन सामग्री पर बुद्धि ही विनिश्चिय कर सकती है। इस प्रकार तीनों तत्त्वों मन, चित्त, बुद्धि का पृथक्–पृथक् कार्य है। इस प्रकार श्री भगवान ने मन की एकाग्रता तथा चित्त की क्रियाओं को रोकने के तथ्य को पृथक्–पृथक् रूप से कहा है। मन की एकाग्रता मन के द्वारा विचारित विषयों को रोकने

से आती है और चित्त की क्रियाओं को जीतने के लिए संसारिक चिंतन को समाप्त करना पड़ता है। यही मन की एकाग्रता और चिंतन की क्रियाओं को जीतने में अंतर है।

ख– चित्त की क्रियाएं क्या हैं? –

जैसे हम किसी पुस्तक का अध्ययन करते है ंतो उस पुस्तक में जो विषय होता है उसे साधारणतयः समझते जाते हैं। अध्ययन किए गए समस्त विषय आवश्यकतानुसार हमारी स्मृति में संचित होते जाते हैं। अध्यययन किए गए किसी विषय में कभी–कभी हम उसकी सत्यता, प्रमाणिकता आदि के बारे में भी विचार करने लगते हैं। यह विचार चिंतन का रूप ले लेता है। अर्थात् लेखक ने जो कुछ लिखा है वह कहां तक सत्य है? कहां तक प्रमाणिक है? यह चित्त चिन्तन करने लगता है। हम अपनी जानकारी तथा उपलब्ध ज्ञान के आधार पर ही लेखक द्वारा विचारों के बारे में चिंतन करते हैं। यह चित्त की क्रिया है जो किसी विषय के बारे में गहनता से विचार कर लेती है।

अध्ययन के संबंध में एक उदाहरण उपरोक्त प्रकार से प्रस्तुत किया गया है परंतु चित्त की क्रियाओं के चिंतन विषयों की सीमा नहीं है। हम प्रतिदिन अनेक विषयों का चिंतन करते हैं। हमारा चित्त नित्य ही पल–प्रतिपल ही अनेक क्रियाओं के चिंतन में व्यस्त रहता है। कोई कार्य कैसे करना है? हमें कहां जाना है? किससे मिलना है? कोई कार्य कैसे होगा? आदि–आदि विषयों पर भी चित्त चिंतन करता है। इस प्रकार चित्त के चिंतन की क्रिया बहुत ही विस्तृत है। चित्त के चिंतन की जो क्रियाएं हैं उनमें मनुष्य विचार करने की क्रियाएं ठहराता है। जैसे जब कोई समस्या आती है तब भी मनुष्य उस समस्या के निराकरण के बारे में गहनता से विचार करता है। यह गहनता से विचार करना ही चिंतन कहा जाता है। इस प्रकार चित्त की क्रियाएं चिंतन से संबंधित है।

ग–इन्द्रियों की क्रियाएं क्या हैं?–

पूर्व में भी यह कहा जा चुका है कि मनुष्य के शरीर में दस इन्द्रियां होती हैं। जिनमें पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, पांच कर्मेन्द्रियां हैं। कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका यह पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं तथा वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ एवं पायु ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। ज्ञानेन्द्रियों, कर्ण, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका के पांच गुण हैं जिन्हें शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध कहा जाता है। कर्ण अर्थात् कान से सुनने की क्रिया होती है। नेत्र अर्थात् आंखों से देखने की क्रिया होती है। जिह्वा अर्थात जीभ से स्वाद ग्रहण करने की क्रिया

होती है। त्वचा से स्पर्श का आभास होता है और नासिका को गंध से ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार पांच कर्मेन्द्रियों से पृथक्–पृथक् प्रकार की क्रियाएं होती हैं। वाक् अर्थात वाणी से बोलने की क्रिया होती है। हस्त अर्थात् हाथ से अदान–प्रदान की क्रिया होती है। पाद् अर्थात पैरों से गमन की क्रिया होती है। उपस्थ एवं पायु से मल–मूत्र के विसर्जन और मैथुन की क्रिया होती है। इस प्रकार समस्त दसों इन्द्रियों से पृथक्–पृथक् प्रकार की क्रियाएं होती है। इस क्रियाओं का संचालन, नियंत्रण, अंतःकरण के द्वारा ही होता है। दसों इन्द्रियों की क्रियाएं बहुत ही सूक्ष्म एवं स्वचालित हैं। जिन्हें साधक जानता है और सामान्य लोग नहीं जानते।

घ– चित्त की क्रियाएं कैसे जीती जाती हैं?–

चित्त संसारिक विषयों का चिंतन करता है। संसारिक विषयों के चिंतन की क्रिया को समाप्त कर देना, समग्रता से रोक देना ही चित्त की क्रियाओं को जीतना है। चित्त की क्रियाओं को साधारण रूप से नहीं जीता जा सकता है। जब हम ध्यान की अवस्था में बैठते है ंतो चित्त संसारिक विषयों की ओर तेजी से भागकर संसारिक प्रकरणों, समस्याओं के बारे में चिंतन करने लगता है। सजग साधक चिंतन की इस क्रिया को रोककर तत्काल उसे समाप्त कर देता है तथा पुनः लक्ष्य की ओर बढ़ जाता है। चित्त के चिंतन की क्रिया ध्यानावस्था में चलती है और तत्कालिक विषय भी उभरकर चिंतन का रूप ले लेते हैं। अन्य प्रकार के विषय भी ध्यानावस्था में चिंतन का रूप ले लेते हैं। इस कारण समग्रता से जब साधक किसी विषय को उभरने से पूर्व ही रोक लेता है और उस पर चिंतन नहीं होने देता तो यह चित्त की क्रियाओं को जीतना कहा जाता है। चिंतन की क्रिया तभी आरंभ होती है जब चित्त चिंतन के विषय को ग्रहण कर लेता है। चिंतन के विषय को ग्रहण न करने से भी चित्त की क्रियाएं जीती जाती हैं। इस प्रकार चित्त की क्रियाओं को जीतने के लिए चिंतन आरंभ न करने की क्रिया करते रहना चाहिए तभी चित्त की क्रियाएं जीती जा सकती हैं।

ङं– इन्द्रियों की क्रियाएं कैसे जीती जाती हैं?–

समस्त इन्द्रियां अपने विषयों को ग्रहण करने के लिए क्रियाशील रहती हैं। कर्ण की क्रियाशीलता ध्वनि को ग्रहण करने के लिए रहती है। खुले नेत्रों से दृश्य ग्रहण किए जाते हैं। नेत्रों के बंद कर लेने से भी दृश्य ग्रहण करने का कार्य रूक जाता है परंतु नेत्र मन के आश्रय से पूर्व में देखे गए दृश्यों को ग्रहण करता रहता है। नेत्र कल्पना से

दृश्यों का निर्माण मन के सहारे करके उन्हें ग्रहण कर लेने में समर्थ है। इस प्रकार नेत्र क्रियाशील रहता है। त्वचा के संपर्क में जो वस्तुएं आती हैं उन्हें त्वचा क्रियाशील रहने के कारण ग्रहण कर लेती है। त्वचा का स्पर्श गुण सदैव क्रियाशील रहता है। यदि त्वचा का स्पर्श गुण क्रियाशील न होता तो हमें त्वचा के संपर्क में आने वाली वस्तुओं, जीवों, मक्खी, मच्छर आदि का ज्ञान ही न हो पाता। इस प्रकार त्वचा सदैव क्रियाशील रहती है।

जिह्वा के संपर्क में किसी प्रकार का रस आने पर वह अपने स्वाद गुण के कारण क्रियाशील रहने के कारण ही इस रस को ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार जिह्वा का गुण रस क्रियाशील रहता है। नासिका भी अनेक प्रकार के गंधों को ग्रहण करने हेतु सदैव अपने गुण में क्रियाशील रहती है। नासिका से गंध ग्रहण करने का कार्य होता है। वाक् सदैव बोलने में तत्पर रहती है। बुद्धि से निर्देश प्राप्त होने पर वह तत्काल क्रियाशील होकर बोलने लगती है। इसी प्रकार वाकेन्द्रिय की क्रियाशीलता भी स्पष्ट होती है। हस्त और पाद् भी सदैव अदान प्रदान एवं गमन के लिए क्रियाशील रहते हैं और बुद्धि के द्वारा आदेशित किए जाने पर अपने गुणों में बरतते हैं। उपस्थ और पायु भी मल मूत्र विसर्जन हेतु क्रियाशील रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय क्रियाशील रहती है और अपने विषयों में बरतती है।

श्रीभगवान ने ध्यानावस्था में इन्द्रिय की क्रियाओं को जीतने के लिए कहा है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि इन्द्रियों की उपरोक्त जो क्रियाएं होती हैं वे ध्यान के समय समाप्त होनी चाहिए। कर्ण का ध्वनि को ग्रहण करना समाप्त हो। इसी कारण श्री भगवान ने एकाकी तथा एकांत वास के प्रावधान की व्यवस्था प्रस्तुत की थी। नेत्रों का देखना भी समाप्त होना चाहिए। अर्थात् दृश्य ग्रहण करने का कार्य समाप्त होना चाहिए। त्वचा का स्पर्श गुण अक्रिय हो जाना चाहिए। ध्यान उस स्थान पर विशेष लाभप्रद होता है जहां पर शीत, उष्ण सामान्य हो। मच्छर, मक्खी आदि कीड़ों आदि का प्रकोप न हो। जिह्वा के गुण रस की क्रियाशीलता, नासिका के गुण की क्रियाशीलता समाप्त होनी चाहिए। वाक् अर्थात् वाणी मौन हो तो इससे उसकी क्रियाशीलता स्वतः समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार हस्त पाद् उपस्थ और पायु के विषयों की क्रियाशीलता को समाप्त करना चाहिए।

ध्यान जब आरंभ किया जाता है तब चित्त के चिंतन की क्रिया को रोकना पड़ता है। साथ ही हमारी इन्द्रियों की जो भी क्रियाएं उसके विषयों के अनुरूप हैं उन्हें भी

समाप्त करना पड़ता है। इन्द्रियों की क्रियाशीलता को उदासीनवत् भाव में लाना पड़ता है। जब इन्द्रियों की क्रियाओं के प्रति साधक उदासीनवत् व्यवहार करता है तो इन्द्रियों की क्रियाओं पर विजय प्राप्त हो जाती है। जैसे हम किसी मधुर ध्वनि को सुनकर उसकी उपेक्षा और अनसुनी कर दें इसी प्रकार मनोरम दृश्यों को देखकर उसकी उपेक्षा और अनदेखा करें, स्पर्श, गंध और रस के गुणों को उपेक्षा के भाव से व्यवहार करें, मौन रहें तथा ध्यान में गमन और अदान–प्रदान की क्रियाओं को शांत कर दें। इन्द्रियों की क्रियाओं में आसक्ति का न होना अर्थात् उनमें आसक्त न होना ही इन्द्रियों की क्रियाओं को जीता जाना है।

6– स्वयं की शुद्धि हेतु अभ्यास करें– (युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये) –

श्री भगवान ने स्वयं शुद्धि एवं योगाभास करने के तथ्य को कहा है। आत्मशुद्धि क्या है? तथा योगाभ्यास क्या है? और किस प्रकार होता है? इसको समझना आवश्यक है। इसको समझने के लिए निम्न तथ्यों का अवलोकन कीजिए–

क– आत्म अर्थात् स्वयं की शुद्धि क्या है?–

जब तक मनुष्य संसारिक विषयों और क्रियाकलापों में तथा अनेक प्रकार की संसारिक चेष्टाओं में अपने को व्यस्त रखता है तब तक वह अशुद्ध ही रहता है। संसारिक क्रियाकलापों का अर्थ है– यज्ञ, दान, तप आदि से इतर अर्थात् अन्य कर्म। संसार की आसक्ति, लोलुपता में फंसकर हम सभी स्पृहायुक्त रहते हैं और अहंकार से आवृत होकर ममता युक्त रहकर सुख–दुख का आभास करते रहते हैं। तब तक हम अशुद्ध ही रहते हैं। यह अशुद्धि परमात्मा की ओर उन्मुख होकर उनकी सानिध्यता को ग्रहण कर लेने से स्वतः ही समाप्त हो जाती है। हम सभी सामान्य रूप से संसार में रहते हैं और संसार की प्राप्ति का यत्न करते हैं। यह सब अशुद्धि रूप कार्य ही हैं। क्योंकि उनसे जो कुछ प्राप्त होता है वह हमारे जीवन तक ही साथ रहता है और मृत्यु होते ही वह समाप्त हो जाता है। इस प्रकार संसार में रहकर संसारिक कार्यों में आवृत होकर अपनी समग्र कामनाओं की पूर्ति के लिए जब तक हम कर्म करते हैं तब तक हमें स्वयं को अशुद्ध ही मानना चाहिए। योगाभ्यास से यह सब दोष स्वतः ही मिट जाते हैं और पराकाष्ठा पर जाकर हम शुद्ध हो जाते हैं। यही आत्मशुद्धि का तथ्य है।

ख– योगाभ्यास क्या है? और कैसे होता है?– शुद्ध भूमि में न अधिक ऊंचे और न अधिक नीचे स्थिर आसन पर वस्त्र, मृग चर्म, कुश आदि बिछाकर मन को एकाग्र करके

चित्त एवं इन्द्रियों की क्रियाओं को रोककर परमात्मा के स्वरूप में ध्यान का लगाना योगाभ्यास कहा जाता है। योगाभ्यास के लिए मन को एकाग्र करना तथा चित्त के चिंतन का निषेध आवश्यक है। योगाभ्यास की सिद्धि में इन्द्रिय विषय, मन की चंचलता तथा चित्त का अनावश्यक विषयों का चिंतन सर्वाधिक बाधक है। इन तीनों का ही साधक को सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए। इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाएं। जिन जिन विषयों में जो जो इन्द्रिय जा रही है उन विषयों का निषेध करें और इसे कर्तव्य भाव से लें। वैसे ही चंचल मन जहां–जहां पर भ्रमण कर रहा है उस उस स्थान से उसे हटाना आवश्यक है। वैसे ही चित्त जिन जिन प्रकरणों पर विशेष चिंतन करता है उन उन विषयों को चिंतन की प्रक्रिया से बाहर करना चाहिए। यही योगाभ्यास है। इसका क्रियान्वयन करना ही उद्देश्य है। जब इन्द्रियों की क्रियाएं रूक जाती हैं, मन एकाग्र हो जाता है तब चित्त की चिंतन की क्रियाएं भी रूक जाती हैं तथा ध्यान में साधक लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित कर लेता है। क्योंकि लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करने में उक्त तीन तथ्य ही बाधक हैं। जब तक तीन तथ्य नियंत्रित नहीं होते है तब तक योगाभ्यास की पूर्णता नहीं प्राप्त की जा सकती। संसार से मन हटे और लक्ष्य में स्थापित हो यही योगाभ्यास की सिद्धि है तथा इसी को साधक की आत्मशुद्धि मानना चाहिए।

अगले श्लोक में श्रीभगवान पुनः योग के अभ्यास की क्रियाविधि को समझाकर कह रहे हैं तथा उक्त के अतिरिक्त अन्य क्या–क्या आवश्यकताएं हैं? इन तथ्यों पर प्रकाश डाल रहे हैं–

मूल श्लोक– 13

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।

पदच्छेद–

समम्, कायशिरोग्रीवम्, धारयन्, अचलम्, स्थिरः,
सम्प्रेक्ष्य, नासिकाग्रम, स्वम्, दिशः, च, अनवलोकयन् ।।

मूल श्लोक– 14

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।

पदच्छेद–

प्रशान्तात्मा, विगतभीः, ब्रह्मचारिव्रते, स्थितः,

मनः, संयम्य, मच्चित्तः, युक्तः, आसीत, मत्परः ।।

भावार्थ– शरीर, सिर, ग्रीवा (गर्दन) एक समान अचल स्थापित करके अन्य दिशाओं को न देखकर अपनी नाक के अगले भाग कर दृष्टि रखते हुए स्थित रहे। जो साधक ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित है, भय रहित और भली प्रकार शांत हैं, ऐसा युक्त (योगी) मन को संयमित करके मुझमें (श्री भगवान में) चित्त को स्थापित करता हुआ मेरे अर्थात् श्री भगवान के परायण बैठे।

व्याख्या– श्री भगवान ने योगाभ्यास अर्थात् ध्यान की क्रिया के संबंध में जिन तथ्यों को स्पष्ट किया है उनमें 1– शरीर, सिर, गर्दन एक सीध में रखना, 2– शरीर को अचल रखना, 3– नाक के अग्र भाग दृष्टि रखना, 4– अन्य दिशाओं को देखना, 5– ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहना, 6– भय रहित हो जाना, 7–अच्छी तरह से शांत हो जाना, 8– परमात्मा में चित्त लगाना, 9– परमात्मा के परायण होकर योगाभ्यास करना सम्मिलित है। इन उक्त तथ्यों की व्याख्या का अवलोकन कीजिए।

1– शरीर, सिर, गर्दन को एक सीध में रखना– (समं कायशिरोग्रीवम्)

ध्यान में आसन पर बैठकर साधक को अपना शरीर, सिर, ग्रीवा अर्थात् गर्दन को एक सीध में रखना चाहिए। बैठी अवस्था में सिर तथा गर्दन के नीचे भाग को शरीर मानना चाहिए। पीठ में रीढ की हड्डी में मेरू रज्ज होता है। जिसका संबंध मस्तिष्क से होता है। मस्तिष्क में ही मन का वास होता है। यदि मस्तिष्क को मन कहे तो भी उचित ही होगा। मन की क्रियाविधि का संचालन मस्तिष्क से ही होता है अर्थात् मस्तिष्क में मन रहता है और वहीं से अपनी क्रियाएं करता हैं। ये तथ्य बहुत ही आश्चर्यजनक है कि मन मस्तिष्क में रहता है और जागृत अवस्था में विभिन्न प्रकार के संकल्प करके क्रियाशील रहता है। स्वप्नावस्था में ही जागृत अवस्था की ही तरह क्रियाशील रहता है। जागृत और स्वप्न अवस्था में क्रियाशील रहने वाला मन सुसुप्ति काल में निष्क्रिय हो जाता है अर्थात् शांत हो जाता है। उसकी संपूर्ण क्रियाविधि समाप्त हो जाती है। सुषुप्ति अवस्था अर्थात् निद्रा काल से जागृत अवस्था अर्थात् जागने पर मन पुनः क्रियाशील हो जाता है। ये तथ्य बहुत ही आश्चर्यप्रद है। तथा किसी मशीन की

तरह से है। हम जब जागृत अवस्था में होते है ंतब मन बहुत गति से कार्य करता है। उसकी गति की तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। मस्तिष्क में रहने वाला मन एक क्षण में संपूर्ण पृथ्वी की असंख्य परिक्रमाएं कर सकता है। सूर्य, चन्द्र आदि पर जा सकता है जो कुछ चाहें मन अपने विचार से कर सकता है।

ध्यानावस्था में जब शरीर, गर्दन और सिर एक सीध में होते है ंतो मस्तिष्क में रहने वाला चंचल मन शांत होना चाहता है। मेरू रज्जु ग्रीवा से होकर मस्तिष्क तक जाती है। अर्थात् मस्तिष्क ग्रीवा और पीठ में स्थित रीढ़ की हड्डी में रहती है। मेरू रज्जु जब एक सीध में रहती होती है तो मन की चंचलता में कमी आ जाती है। ये तथ्य ध्यान अवस्था में रहने पर अनुभव किया जा सकता है। हम जब ध्यान करते हैं तो उसका उद्देश्य मन की वृत्तियों को शांत करना होता है। अशांत मन से ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। शरीर, ग्रीवा तथा सिर एक सीध में रखकर मन की शांति का कार्य सहजता से होता है। इस कारण श्री भगवान ने शरीर, ग्रीवा और सिर को एक सीध में रखने हेतु आदेशित किया है। यह तथ्य प्रयोगात्मक है और हमें ध्यान की अवस्था में इसका अनुकरण और अनुभव करना चाहिए।

ध्यान की क्रिया का मुख्य उद्देश्य मन को शांत करना है–

इस कारण मन को शांत करने हेतु श्री भगवान ने यह निर्देश दिया है, शरीर, गर्दन तथा सिर को एक सीध में करके दोनों हाथों को चाहे तो गोद में रख सकते हैं। अथवा जैसी अवस्था में आपको सुगमता का आभास हो वैसा करना चाहिए। शरीर की स्थिति होने पर हाथों की स्थिति इस कारण महत्वपूर्ण है क्योंकि हाथों से ही सहज तथा असहज स्थिति का प्रार्दुभाव हो जाता है। शरीर की स्थिति सहज कर लेने पर हाथों की स्थिति भी सहज कर लेना चाहिए। यह ध्यान के लिए आवश्यक है।

2–शरीर को अचल और स्थिर रखें– (धारयन्नचलं स्थिरः) –

शरीर, गर्दन तथा सिर जब एक सीध में हो जावे तो उस सधे हुए शरीर को दो स्थितियों में रखने का आदेश श्री भगवान ने दिया है। एक स्थिति अचल है तथा दूसरी स्थिति स्थिर है। अचल का अर्थ है शरीर चलायमान न हो और स्थिर का अर्थ है शरीर हिले–डुले नहीं। अचल तथा स्थिर समानअर्थी प्रतीत होते हैं परंतु समानअर्थी होते हुए भी पृथक्–पृथक् भाव वाले हैं। अचल तथा स्थिर शब्दों के पृथक्–पृथक् अर्थों का अवलोकन कीजिए–

क– शरीर के अचल होने का अभिप्राय–

शरीर के तीन प्रकार हैं। जिनका उल्लेख पूर्व में भी हो चुका है। 1– स्थूल शरीर, 2– सूक्ष्म शरीर, 3– कारण शरीर। इन उपरोक्त शरीरों की तीन पृथक्–पृथक् अवस्थाएं होती हैं– स्थूल शरीर जागृत अवस्था में प्रकट रहता है और सूक्ष्म शरीर स्वप्न अवस्था में आभासित होता है और कारण शरीर की निष्क्रियता सुषुप्ति अवस्था में रहती है। स्थूल शरीर वह शरीर है जो हमें ऊपर से प्रतीत होता है। अर्थात् हाथ, पैर, जांघें, उदर, पीठ, हाथ, छाती, ग्रीवा, सिर आदि जो भी दिखाई पड़ता है उसे स्थूल शरीर कहा जाता है। जागृत अवस्था में इसी शरीर से हम कार्य करते हैं। अर्थात् हम जब जागते हैं तब हमारा स्थूल शरीर क्रियाशील रहता है। सूक्ष्म शरीर स्वप्नावस्था में कार्य करता है। इसमें बाह्यकरण अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां पांच प्राण, पंच महाभूत अंतःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार तथा अविद्या का उल्लेख होता है। कारण शरीर की प्रतीति सुषुप्ति अवस्था में होती है। समस्त इन्द्रियां मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि अहंकार में समाहित हो जाती है तथा तमोगुण पूर्ण सक्रिय रूप ले लेता है तो हम सुषुप्ति अवस्था में आ जाते हैं अर्थात् निद्रा काल में होते हैं। इस अवस्था में हमारे शरीर इन्द्रियों, मन और बुद्धि की क्रियाशीलता पूर्ण निष्क्रिय और शांत हो जाती है। इन समस्त तत्त्वों में मन और बुद्धि को श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि शरीर की समस्त क्रियाएं मन और बुद्धि के आधार पर होती हैं। इस कारण मन और बुद्धि की अक्रिय अवस्था में हमारा शरीर अचल हो जाता है। यदि मन और बुद्धि क्रियाशील रहती है तो शरीर चला करता है। ध्यान की स्थिति में मन और बुद्धि के शांत होने पर शरीर अचल हो जाता है अर्थात् ध्यान की ओर उन्मुख होता है।

ख– शरीर के स्थिर होने का अभिप्राय–

एक वृक्ष पृथ्वी में मजबूती से गडा होने के कारण अचल रहता है। अर्थात् चलता–फिरता नहीं है। वायु के तेजी से चलने पर उसमें अस्थिरता आ जाती है। अर्थात् वह हिलने–डुलने लगता है। वायु के गति से न चलने पर वह स्थिर रहता है। उसी प्रकार यह शरीर है जो ध्यान की अवस्था में आसन पर विराजमान होता है तथा मन, बुद्धि के शांत रहने पर अचल हो जाता है और स्थूल रूप से न हिलने डुलने से वह स्थिर हो जाता है। ध्यान की क्रिया में शरीर के अचल रहने तथा स्थिर रखने से ध्यान की क्रिया शीघ्र ही लक्ष्य को प्राप्त कर लेती है। चलायमान तथा अस्थिर शरीर के

लिए ध्यान योग की सफलता संदेहास्पद रहती है। इस कारण ध्यान में बैठने पर साधक को अपना शरीर स्थिर करना चाहिए। यही शरीर का स्थिर और अचल धारण करना है।

ध्यान की संपूर्ण क्रिया मन पर ही आधारित है इस कारण मन के चलायमान होने पर अर्थात् अचल न होने पर शरीर में स्थिरता नहीं आ सकती है। अर्थात् अस्थिरता रहती है। मन जब चलायमान होता है तब शरीर स्वतः ही अस्थिर हो जाता है। इस कारण श्री भगवान ने पहले अचल शब्द का प्रयोग किया है। उसका संकेत प्रमुखता से मन की ओर ही है। मन जब अचल होगा, चलायमान नहीं होगा तो शरीर के अन्य भाग स्वतः ही स्थिर हो जाएंगे। आपने कभी अनुभव किया होगा कि जब किसी कारण से मन शांत हो जाता है तब शरीर भी स्वतः ही शांत हो जाता है। वह मन के साथ ही चंचल होता है। अचल और स्थिर शब्द का एक ही अर्थ से देते प्रतीत होते हैं। परंतु उनके अभिप्राय पृथक्–पृथक् हैं। इसे ध्यान योगी समझता है।

एक महत्वपूर्ण तथ्य– ध्यान भी एक अवधारणा का नाम है। अर्थात् ध्यानस्थ होना एक स्थिति है। एक अवस्था है। जैसे जागृत अवस्था होती है, जागृत अवस्था में मनुष्य जागता है और सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य सोता है। ध्यान की अवस्था में साधक न तो जागता है न सोता है। बाह्य पदार्थों के प्रति संवेदनशीलता नहीं रहती है परंतु अंदर से रहती है। बाह्य क्रियाएं नहीं चलती हैं परंतु आंतरिक क्रियाएं चला करती हैं। जब हम जागते है ंतो संसार के समस्त कार्य करते रहते हैं और जब सोते हैं तो समस्त कार्य रूक जाते हैं अर्थात् नहीं होते हैं। ध्यानावस्था में कोई कार्य नहीं होता है। क्योंकि मन का संकल्प चित्त का चिंतन समाप्त हो जाता है। मन के द्वारा संकल्प न होने से बुद्धि की विकल्प वृति भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार ध्यान एक विशेष अवस्था का नाम है जो न तो जागृत अवस्था है और न सुषुप्ति अवस्था है। उन दोनों अवस्थाओं के मध्य की स्थिति है।

3– नाक के अग्र भाग को देखता रहे– (सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रम्)–

जागृत अवस्था, स्वप्न अवस्था तथा सुसुप्तिवस्था तीनों अवस्थाओं में प्राण गतिशील रहता है अर्थात् श्वसन की क्रिया चलती रहती है। श्वसन क्रिया ही जीवन का आधार है। क्योंकि इस क्रिया के समाप्त होने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इस कारण श्वसन क्रिया तीनों अवस्थाओं में चलती है। प्राण नासिका के मार्ग से बाहर आता है और भीतर जाता है। इसी क्रिया को श्वसन कहा जाता है। परमात्मा के विशेष

व्यवस्था के अधीन श्वसन क्रिया गतिशील रहती है। अर्थात् प्राण चलता रहता है। परमात्मा ने मनुष्य के जीवन के लिए प्राण भी आधार बनाया है। सुषुप्ति अवस्था में जब बुद्धि की क्रिया समाप्त हो जाती है तब भी प्राण की क्रिया गतिशील रहती है। यह विशिष्ट बात है। इस कारण प्राण शरीर में बहुत ही महत्वपूर्ण तत्त्व है। इसे जीवन का आधार कहा जाता है। इसकी महत्ता को प्रकट करने के लिए यह कहा जाता है कि प्राण चले गए अथवा प्राण अभी अवशेष हैं। प्राण अवशेष हैं इसका अर्थ होता है कि जीवन अभी है और प्राण चले गए हैं इसका अर्थ होता है कि मृत्यु हो चुकी है। इस तथ्य से प्राण की महत्ता को हम समझ सकते हैं।

प्राण और मन का बहुत ही घनिष्ठ संबंध है क्योंकि श्वसन क्रिया के साथ मन को लगाने से निद्रा आ जाता है। निद्रा क्यों नहीं आती है? इसका एक ही कारण है कि मन श्वांस के साथ संलग्न नहीं होता है। इसी विशेष परिस्थिति, घटना आदि के समय मन की गति बहुत अधिक आश्चर्यप्रद रूप से बढ़ जाती है तब निद्रा नहीं आती है। यदि इस काल में भी मन को श्वसन क्रिया के साथ संलग्न कर दिया जावे तो निद्रा आ जाती है। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मन का श्वसन क्रिया से बहुत ही घनिष्ठ संबंध है। यह प्रयोग आप भी कर सकते हैं। निद्रा लाने के लिए मन को श्वसन क्रिया के साथ संलग्न करें अर्थात् श्वांस के बाहर जाने पर और भीतर जाने पर मन को श्वांस के साथ रखें। मन जब इस क्रिया के साथ संलग्न हो जाएगा तो तत्काल निद्रा आ जाएगी।

ध्यान के अभ्यास में जब साधक स्थिर आसन पर बैठता है तथा इन्द्रिय और चित्त की क्रियाएं समाप्त करने पर मन एकाग्र होने लगता है। मन जब एकाग्र हो जाता है तब विशेष कर श्वसन की क्रिया पर अपने को केन्द्रित किया करता है। यह क्रिया स्वाभाविक रूप से होती है। इसमें निद्रा आने की संभावना रहती है। इस कारण श्री भगवान ने दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में केन्द्रित करने का आदेश दिया है। दृष्टि जब नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित की जाती है तो पलकें स्वतः ही नीचे की ओर हो जाती हैं। यह तथ्य प्रयोग करने पर स्पष्ट हो जाता है नासिका के अग्र भाग में दृष्टि आने पर मन की रूकावट श्वसन क्रिया पर नहीं हो पाती है। इससे ध्यान में निद्रा आने की संभावना समाप्त हो जाती है। ध्यान में आंखें बंद कर लेने पर स्वतः ही निद्रा का प्रकोप बढ़ता है। इस प्रकार निद्रा का प्रकोप न हो इसके लिए श्री भगवान ने दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में लगाने को कहा है। मन एकाग्र हो जावे और निद्रा न आवे

और ध्यान लक्ष्य पर केन्द्रित रहे तो ध्यान योग की सिद्धि शीघ्र हो जाती है। नासिका के अग्र भाग में देखने का अर्थ है दृष्टि को एक स्थान पर लगा देना।

4– अन्य दिशाओं को न देखें– (दिशश्चानवलोकयन्) –

नासिका के अग्र भाग में दृष्टि स्थापित करने के उपरांत अन्य दिशाओं की ओर न देखने का निर्देश श्री भगवान ने दिया है। जब दृष्टि नासिका के अग्र भाग में स्थापित हो जाएगी तब दृष्टि की दृश्य क्षमता बहुत सीमित हो जाएगी। आंखों की दृश्य क्षमता सीमित होने का अभिप्राय यह है कि नेत्र जब सामान्य रूप से देखते है ंतो दूर तक देख सकते हैं परंतु जब नासिका के अग्र भाग में दृष्टि स्थापित हो जाती है तो देखने का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है और ऐसी स्थिति में अन्य दिशाओं में नहीं देखा जा सकता है। नासिका के अग्र भाग को न देखें अन्य दिशाओं को न देखें दोनों कथनों का जो परिणामी भाव है वह एक ही है। जैसे यह कहा जावे कि इधर देखें और उधर न देखें। इधर देखने पर उधर नहीं देखा जा सकता है और उधर देखने पर इधर नहीं देखा जा सकता है। हमारी दृष्टि एक समय पर एक ही ओर रहती है। इसी भाव से श्री भगवान ने कहा कि नासिका के अग्र भाग में दृष्टि रखें और अन्य दिशाओं को न देखें।

दृष्टि को एक केन्द्र पर स्थापित करने से ध्यान में विकास होता है। हमारी दृष्टि का मन पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। अर्थात् नेत्र जब किसी दृष्टि को देखते है ंतो मन वहां अनायास ही पहुंच जाता है। मन के आश्रय से ही नेत्र किसी स्थान पर अपनी दृष्टि रोक सकता है। हम जब किसी भी दृश्य को देखकर उस दृश्य पर अपने को केन्द्रित करना चाहते हैं अर्थात् उस दृश्य को निरंतर ही देखने की इच्छा करते हैं तब मन भी साथ रहता है। मन यदि उस स्थान से हट जावे तो दृश्य को उचित रूप से नहीं देखा जा सकता है। इसी स्थिति को अन्यमनस्क कहा जाता है। अर्थात् आंखें तो देखती हैं परंतु मन वहां पर नहीं होता है। इस कारण दृश्य को ठीक से नहीं देखा जा सकता है। उसी प्रकार दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर होती है तब मन भी वहां पहुंचता है और ऐसी स्थिति में अन्य दिशाओं को नहीं देखा जा सकता है। इस प्रकार ये मन की एकाग्रता पर आधारित होता है।

6– जो अच्छी प्रकार शांत है– (प्रशान्तात्मा) –

ध्यान पर आरूढ होने की इच्छा वाले साधक को भली प्रकार शांत होना चाहिए। शांत होने का अभिप्राय अशांत न होने से है। साधारणतयः प्रत्येक मनुष्य अशांत रहता

है। जीवन की समस्याओं के कारण विशेष कर अशांति रहती है। जब हम अशांति के कारण को अपने में खोजते हैं तो पाते हैं कि हमारे अशांति का कारण हमारी समस्याऐं ही हैं जिन्हें हमने स्वयं ही उत्पादित किया है और उनके मूल में हमारी अनगिनत कामनाएं हैं। वस्तुतः अशास्त्रसंगत कामनाऐं हम उत्पन्न कर लेते हैं और उनकी पूर्ति के प्रयास करते हैं। जब पूर्ति के प्रयास भी अशास्त्रसंगत हो जाते हैं तो समस्याएं विकट रूप ले लेती हैं जिनमें हम उलझकर और विशेष रूप से अशांत रहते है। शास्त्र संगत कामनाएं करना अनुचित नहीं है परंतु उनकी प्राप्ति के प्रयास भी जब अशास्त्रसंगत हो जाते हैं तब भी वे समस्याएं उत्पन्न कर देते हैं। अशास्त्र संगत कामनाएं तो अशास्त्र संगत उपायों से प्राप्त की जाती हैं और यही हमारी अशांति का कारण होती हैं। इस कारण कामनाओं में फंसा हुआ व्यक्ति कभी शांत नहीं हो सकता है। और असीमित कामनाओं में फंसकर मनुष्य की अशांति बहुत बढ़ जाती है।

उपरोक्त तथ्य से यह स्पष्ट है कि कामनाओं के कारण ही मनुष्य अशांत रहता है तो उसे कामनाओं का परित्याग कर देना चाहिए। कामनाओं के त्याग से तत्काल शांति प्राप्त हो जाती है। हम जब कोई कामना करते हैं तो उसकी प्राप्ति के उपायों पर भी विचार करते हैं। प्राप्ति के उपायों पर विचार करने से प्राप्ति का प्रयास चलता है। हमारी कामनाओं की पूर्ति का जो प्रयास होता है उसमें यदि किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न हो जाती है तो उसके परिणाम स्वरूप क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं। क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि का प्रभाव हमारी बुद्धि पर पड़ता है जिससे बुद्धि निश्चयात्मक शक्ति प्रभावित हो जाती है जिससे हम अशांत हो जाते हैं। अशांत मनुष्य ध्यान का साधन नहीं कर सकता है। इस कारण हमें शांति के लिए मानसिक रूप से ध्यान के साधन हेतु कामनाओं का परित्याग करना यथेष्ट है। कामनाओं का त्याग शांति का कारण है तथा समग्रता से कामनाओं का परित्याग करने से बुद्धि स्थिर हो जाती है और मनुष्य पूर्ण शांत हो जाता है। यह तथ्य हमें समझना चाहिए। सैद्धांतिक रूप से कामनाओं के त्याग से शांति का तथ्य कहा गया है। इसे प्रयोगात्मक रूप हम आचरण में ला सकते हैं। इस प्रकार ध्यान के साधन के लिए हमें कामनाओं का त्याग करके भली प्रकार शांत हो जाना चाहिए।

6– जो भयमुक्त है– (विगतभीः)

ध्यान पर आरूढ होने की इच्छा वाले साधक के लिए भयमुक्त होना भी आवश्यक है। भययुक्त साधक ध्यान का साधन नहीं कर सकता क्योंकि भय के कारण

मनुष्य का मन एकाग्र नहीं हो पाता है तथा आशंकाग्रस्त रहता है। आशंका हानि की होती है जो साधक के मन को विचलित करती रहती है। इस कारण ध्यान हेतु भयमुक्त होना अनिवार्य है। भय प्रमुख रूप से तीन प्रकार का होता है जिनसे युक्त होकर साधक ध्यान की प्रक्रिया को संपन्न नहीं कर सकता है। तीनों प्रकार के भयों का अवलोकन कीजिए–

क– संसारिक पदार्थों के विनाश का भय– हमारे पास जो कुछ संसारिक वस्तुएं हैं अर्थात् जो धन, संपत्ति, प्रतिष्ठा, पद, ऐश्वर्य, सत्ता के रूप में है वे संपूर्ण वस्तुएं बड़े प्रयास से हम अर्जित कर पाते हैं। हमारे अंतःकरण में इनके विनाश तथा हानि का भय रहता है। यह आशंका सदैव रहती है कि हमने उपरोक्त में से कुछ बड़े परिश्रम से अर्जित किया है वह विनिष्ट न हो जावे। उसी कारण हम उनकी सुरक्षा के लिए बड़ी व्यवस्था करते हैं। हमारे पास जो धन एकत्र होता है उसकी सुरक्षा के उपायों के बारे में आप जानते ही होंगे। हम जो संपत्तियां एकत्र कर पाते हैं उनकी भी सुरक्षा एवं स्वामित्व के बने रहने के लिए बड़ा प्रयत्न करते हैं। संपत्तियों के बचाव हेतु बड़े प्रबंध करते हैं। कोई पद यदि हमें प्राप्त हो गया है तो उसकी सुरक्षा हेतु भी हमें पर्याप्त प्रयास करना पड़ता है। वैसे ही प्रयास प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, राज्य की सुरक्षा के लिए किये जाते हैं। इसका एक ही उद्देश्य है कि हम संसारिक पदार्थों के विनाश के लिए आशंकित रहते हैं। ये संसारिक पदार्थों के विनाश का भय वृहद् प्रकार का भय है जिसे ध्यान योगी को समाप्त करना चाहिए।

ख– संसारिक पदार्थों के भय के विनाश के उपाय– संसार में हमें जो भी प्राप्त हुआ है वह धन, संपत्ति, प्रतिष्ठा, पद, ऐश्वर्य, राज्य के रूप में है। सबकी प्राप्ति का संयोग है। ये समस्त वस्तुएं हमारे सुकर्मों अर्थात् सत्कर्मों के फलस्वरूप स्वतः प्राप्त हो जाती हैं तथा उनका वियोग भी स्वतः ही होता है। धन, संपत्ति, प्रतिष्ठा, पद, ऐश्वर्य, राज्य, ख्याति का संयोग हमारे कर्मों के आधार पर ही होता है अनायास नहीं होता है। धन प्राप्त होना है तो होगा और नष्ट होना है तो वह स्वतः ही अनेक कारणों से नष्ट हो जाएगा। उसमें हमें भयभीत होने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि धन का उपार्जन और विनाश हमारे हाथ में और हमारी सामर्थ्य में नहीं है। वह मात्र परमात्मा के द्वारा प्रदान किए गए कर्मफल के रूप में अर्थात् हमारे कर्मों के परिणाम से हमें प्राप्त होता है। हम भयभीत रहेंगे तो भी वह विनाश होने वाला है। रूकने वाला नहीं है। जाने वाला पद समय के साथ नहीं रहेगा। संपदा भी विनिष्ट होनी है। अंततः विनिष्ट हो

जाएगी। ऐसा संयोग स्वतः ही परमात्मा की व्यवस्था से उपार्जित हो जाता है और उत्पन्न हो जाता है। इस कारण हमें संसारिक वस्तुओं के भय से मुक्त रहना चाहिए।

ग– संपर्कित लोगों का भय– हमारे संपर्क में तीन प्रकार के लोग मुख्यतः से रहते हैं। एक प्रकार के परिवारिक जन, दूसरे प्रकार के संबंधी जन तथा तीसरे प्रकार के इष्ट, मित्र अर्थात् संपर्कित लोग। परिवारी जनों के अनिष्ट तथा मृत्यु का भय प्रमुख रूप से रहता है। उसके पश्चात् सगे संबंधियों तथा सुहृदों के विनाश और मृत्यु के भय से हम आवृत रहते हैं। तीसरे प्रकार से हमारे संसारिक संपर्कित व्यक्तियों के विनाश तथा मृत्यु का भय भी रहता है। हम सब परिवारिक जनों, सगे, संबंधियों, सुहृद मित्रों के साथ रहते हैं। उनसे व्यवहार करते हैं और सुख की अनुभूति होने के कारण हम उनकी ममता से आवृत हो जाते हैं। ये ममता ही हमारे अंतःकरण में सुख–दुख की उत्पत्ति करती है। यदि ममता न हो तो हम संपर्कित लोगों के विनाश में दुखी न हो और उनके संयोग में सुख का आभास न करें। इस प्रकार हम अपने संपर्कित लोगों के विनाश की आशंका से भी भयग्रस्त रहते हैं। ये दूसरे प्रकार का भय है।

घ– संपर्कित लोगों के वियोग के भय से मुक्ति– हमारे परिवार में जो सदस्य हैं, सगे–संबंधी हैं, संसारिक सुहृद इष्ट मित्र हैं उन सबका संयोग कारण से ही होता है, बिना कारण संभव नहीं है। परमात्मा की व्यवस्था के अनुरूप हमारे संपर्क में आने वाला, रहने वाला, जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति कारण से ही हमारे संयोग तथा संपर्क में आता है। बिना कारण कोई व्यक्ति न तो संपर्क में आ सकता है और न ही उसका वियोग हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य अपने संयोग तथा संपर्क से आबद्ध है। जितने काल तक उसका हमसे संपर्क रहेगा उसका संपर्क काल, संयोग काल कोई भी वियोग में परिवर्तित नहीं कर सकता है। इसके साथ ही हमें जब उसका वियोग होना होगा, तो संयोग नहीं हो सकता है। इस कारण यदि हम संपर्कित लोगों के वियोग से आशंकित और भयभीत हैं तो हम निश्चिय ही अज्ञान में हैं। हम अपने संपर्कित लोगों के संयोग तथा वियोग की व्यवस्था नहीं करते हैं। ये व्यवस्था परमात्मा के अधीन रहती है। इस कारण हमें संपर्कित लोगों के वियोग के भय से सदैव मुक्त रहना चाहिए। संयोग और वियोग की व्यवस्था के सिद्धांत को समझ कर उससे भयमुक्त हो जाना चाहिए।

ङ– शरीर के विनाश का भय–शरीर के विनाश का भय तथा उसके हानि की आशंका भय सर्वाधिक उत्कृष्ट श्रेणी की है तथा बहुत ही प्रबल होती है। प्रत्येक मनुष्य

यह आकांक्षा करता है कि वह आरोग्य अर्थात् स्वस्थ, सुखी, संपन्न रहे और दीर्घायु हो। इस कारण बीमार अर्थात् अस्वस्थ, दुखी, विपन्न तथा अल्प जीवन न हो जाए। ऐसी आशंका रहती है। यह भय विशेष प्रकार का भय है जिससे प्रत्येक मनुष्य आवृत रहता है। इसी भय की आशंका से हम अपने स्वस्थ रहने, सुखी रहने, संपन्न रहने तथा दीर्घकाल तक जीवित रहने का प्रयास करते रहते हैं। एक अत्यंत वृद्ध मनुष्य जानता है कि उसकी मृत्यु शीघ्र ही आने वाली है। फिर भी वह मृत्यु के भय से भयभीत रहता है। जो लोग बालक, किशोर, युवा, प्रौढ़ होते हैं वह भी मृत्यु के भय से भयभीत ही रहते हैं। मृत्यु का भय इस कारण है क्योंकि यह संसार जीवन रहने तक ही हमें सुख दे सकता है। शरीर के समाप्त होते ही इस संसार की संपर्कित वस्तुएं स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार शरीर के विनाश अर्थात् मृत्यु का भय सर्वोच्च प्रकार का भय है जिससे अधिकांश मनुष्य भयभीत रहते हैं।

च– शरीर के विनाश के भय से मुक्ति– प्रत्येक मनुष्य जन्म के साथ मृत्यु का समय भी लेकर पृथ्वी पर आता है अर्थात् मनुष्य जब जन्मता है तब उसकी मृत्यु का काल अर्थात् समय भी परमात्मा की विधि व्यवस्था के अनुसार निर्धारित किया जाता है। उससे पूर्व उसकी मृत्यु संभव नहीं है। इस व्यवस्था में अपवाद यह है कि अत्यंत शुभ कर्मों के करने से मनुष्य की आयु यथोचित रूप से परमात्मा के आदेश से बढ़ जाती है और अत्यंत दुष्कर्म करने से उसकी आयु निश्चित आयु के पूर्व ही समाप्त हो जाती है। इसी कारण दुष्कर्मी मनुष्य शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार निश्चित आयु के पूर्व मृत्यु संभव नहीं है और निश्चित आयु के पश्चात् जीवन भी संभव नहीं है। इस तथ्य को दृढ कर लेने से मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। मनुष्य की मृत्यु जिस प्रकार से होनी है, जिस समय होनी है वैसे ही होगी। साधारणतयः मनुष्य की मृत्यु के तीन प्रकार होते हैं।

1– प्राकृतिक मृत्यु– मनुष्य की मृत्यु एक निश्चित काल में होनी है। अर्थात् निश्चित समय के उपरांत मृत्यु स्वतः ही आ जाती है। मनुष्य शरीर और उसके अंगों के कार्य करने की एक सीमा है। उस सीमा तक शरीर और उसके अंग कार्य करते हैं। उसके उपरांत नहीं कर सकते हैं और निरर्थक क्रियाहीन हो जाते हैं। प्रकृति के प्रभाव से मनुष्य के अंग स्वतः ही क्षय की ओर बढ़ते हैं। एक समयावधि में कार्य करना बंद कर देते हैं। शरीर का कोई महत्वपूर्ण अंग कार्य करना बंद कर देता है तो भी मृत्यु हो जाती है। इन अंगों में मस्तिष्क, हृदय, फेफड़े, गुर्दा, यकृत आदि विशिष्ट हैं। वर्तमान

चिकित्सा शास्त्रियों ने इनके प्रत्यारोपण की भी व्यवस्था की है। इस प्रकार शरीर के कार्य न करने से वृद्धावस्था में जो स्वाभाविक मृत्यु होती है उसे प्राकृतिक मृत्यु कहा जाता है। हम सभी की अर्थात् प्रत्येक जीव की प्राकृतिक मृत्यु अवश्य आती है।

2– आकस्मिक मृत्यु– परमात्मा ने मनुष्य को बुद्धि प्रदान की है जिससे वह अपने जीवन की रक्षा कर सके। इसी के आधार पर हम सड़क पर चलते समय अपने को वाहनों से बचाते हैं। आग से दूर रहते हैं। जल के बहाव से अपने को बचाते रहते हैं। हम यदि अवसाद, किसी भारी दुख से, संसारिक वस्तुओं के विनाश से अपनी आत्महत्या कर लेते हैं तथा शरीर के क्षय के द्वारा शरीर को समाप्त कर लेते हैं जिससे हमारी मृत्यु हो जाती है। स्वयं जो मनुष्य अपना जीवन समाप्त कर लेता है।

इस प्रकार की मृत्यु को आकस्मिक मृत्यु कहते हैं। शास्त्रों में आकस्मिक मृत्यु को बहुत निकृष्ट कहा गया है। क्योंकि जीवन और मृत्यु का अधिकार परमात्मा को है जिसे स्वयं द्वारा उपयोग करके हम अपना विनाश कर लेते हैं और परिणाम स्वरूप हमें हजारों वर्षों तक नारकीय योनियों में रहना पड़ता है।

3– अकाल मृत्यु– कुछ संसारिक घटनाओं के कारण भी मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। जैसे किसी वाहन से टकरा जाना, किसी भारी वस्तु की नीचे दब जाना, नदी के तेज प्रवाह में बह जाना, विद्युत के प्रवाह से मृत्यु होना आदि–आदि सैकडों ऐसे प्रकार हैं जिनसे मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इस मृत्यु को अल्पकालिक अथवा अकाल मृत्यु कहा जाता है। अकाल मृत्यु परमात्मा की व्यवस्था के अधीन होती है। हमारे संचित कर्मों के आधार पर ही मृत्यु के प्रकार का तथा काल का विनिश्चय होता है और उस काल में उसी प्रकार हमारी अकाल मृत्यु होती है। ऐसी अवस्था में हम उतनी ही आयु लेकर आते हैं और पृथ्वी से विदा लेते हैं। अकाल मृत्यु को परमात्मा की अनन्य शरण से घोर तपश्चर्या से टाल सकते हैं। अकाल मृत्यु को टालने का अधिकार परमात्मा का है। शुभ कर्म भी इसमें आधारभूत कार्य करते हैं। इस कारण हमें जीवन में एकमात्र परमात्मा का निरंतर स्मरण करते हुए शुभ कर्मों के क्रियान्वयन का प्रयास करते रहना चाहिए।

हमारी मृत्यु अवश्यंभावी है और समय पर वह स्वतः ही आती है। इस कारण हमें मृत्यु के भय से अपने को मुक्त रखना चाहिए। साधक में समय से मृत्यु आने का भाव दृढ हो जाता है और वह इसी कारण सभी प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है।

7– ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहे– (ब्रह्मचारिव्रते स्थितः)

भगवान ने ध्यान के साधक को ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहने का आदेश दिया है। ध्यान के लिए ब्रह्मचर्य व्रत बहुत ही महत्वपूर्ण व्रत है जिससे ध्यान योगी को शीघ्र ही ध्यान की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। शास्त्रों में आठ प्रकार के ब्रह्मचर्य का उल्लेख आता है। जिसके संपादन को भी स्पष्ट किया गया है। साधक ब्रह्मचर्य व्रत के इन आठों प्रकारों का सूक्ष्मता से अवलोकन और पालन करे।

क– स्मरण– पूर्वकृत मैथुन क्रियाओं का स्मरण करना, पुनः–पुनः उन्हें स्मृति से निकालकर मन के आश्रय से उन पर चिंतन और विचार करना। स्मरण कहा जाता है।

ख– कीर्तन– स्त्रियों से स्नेह पूर्वक बातें करना तथा स्नेह के उपार्जन की विषय वस्तु प्रस्तुत करके अनुराग उपार्जित करने का प्रयास करना।

ग–केलि– मर्यादा विहीन और असमाजिक बातें करके अपने को प्रेरित करने का प्रयास केलि कहा जाता है।

घ–प्रेक्षणम्– लालसा पूर्वक पूर्ण दृष्टि से स्त्रियों की ओर निरंतर देखने का प्रयास करना अथवा देखते रहना प्रेक्षणम् कहा जाता है।

ङ–गुह्यभाषणम्– एकांत स्थान में, गोपनीयता के साथ स्त्रियों से रहस्य पूर्ण बातें करने का प्रयास करना अथवा ऐसा करना गुह्यभाषणम् कहा जाता है।

च– संकल्प– मन के विचार से स्त्रियों से मिलने का, बातचीत का गुह्यभाषण का विनिश्चिय करना और इसके क्रियान्वयन करना।

छ–अध्यवसाय– बुद्धि के द्वारा उपरोक्त प्रकार की छह क्रियाओं का विनिश्चय करना अध्यवसाय कहा जाता है।

ज– क्रिया निष्पत्ति– मैथुन क्रिया को संपादित अथवा क्रियान्वित करना।

ध्यान योग के साधक को उपरोक्त आठ प्रकार के मैथुन से बचना चाहिए। इन आठ प्रकारों के मैथुन का निषेध करना चाहिए। इन आठ प्रकार के मैथुन के परित्याग से ध्यान की शीघ्र सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो साधक ब्रचर्य व्रत का पालन नहीं करते हैं उन्हें ध्यान में अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं होती है।

8– मन को संयमित करें– (मनः संयम्य)– श्री भगवान ने ध्यान के लिए मन को संयमित करने का आदेश दिया है। मन के असंयमित रहने से ध्यान की प्रक्रिया का आरंभ ही नहीं होता है। इस तथ्य को इस प्रकार कह सकते हैं कि मन का संयम ही ध्यान है। मन जब संयमित हो जाता है तो ध्यान योग सिद्धि में आ जाता है। इस कारण मन को संयमित करना क्या है? तथा मन कैसे किस प्रकार से संयमित होता है। यह जानना आवश्यक है। इससे पूर्व भी श्री भगवान ने मन को एकाग्र करके कहा था जो मन को संयमित करने का अर्थ देता है। इस कारण मन को संयमित करना आवश्यक है। मन का संयमन क्या है? कैसे होता है?

इसका अवलोकन कीजिए–

क– मन का संयमन क्या है? –साधारण रूप से, सामान्य प्रकार से मन चंचल रहता है। लेटे, बैठे, खड़े, चलते–फिरते, उठते–बैठते, जागते तथा स्वप्न देखते मन निरंतर गतिशील रहता है रूकता नहीं है। इस प्रकार उसका विचारण विभिन्न प्रकार के विषयों में रहता है। यह जो विभिन्न प्रकार के विषयों में मन का भ्रमण होना है इसे ही मन का असंयमन कहा जाता है। साधारण मनुष्य, शिक्षित व्यक्ति अनेक विधाओं का ज्ञाता, ज्ञानवान कलापारखी, कलाविज्ञ, विवेकी, मनीषी, दार्शनिक, चिंतक, विचारक साधुजन आदि सभी का मन अनेक विषयों में विचरता रहता है। अपनी–अपनी जानकारी, समस्याओं तथा कार्य के बारे में मन का विचारण सदैव चला करता है। यह सब का सब चलना ही मन का असंयमन कहा जाता है। ध्यान में इसी क्रिया को रोकना ही मन का संयमन है। ध्यान में मन का संयमन आवश्यक होता है क्योंकि ध्यान का संपूर्ण तथ्य ही मन के संयमन पर आधारित है।

हम सभी लोग मन के द्वारा जो विचार करते हैं वह मन की विचारण प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को रोका जाना क्या संभव है? इस तथ्य पर जब हम विचार करते हैं तो यह प्रतीत होता है कि यह बहुत कठिन कार्य है। मन आकाश में उड़ते हुए स्वच्छंद पक्षी की तरह है जो अपनी शक्ति भर तेजी से उड़ता है और थक जाने पर अपने घोसले में विश्राम करता है। वैसे ही मन दिन भर अर्थात जागृत अवस्था में और स्वप्नावस्था में बहुत ऊंची उड़ान उडता है और उडते–उडते जब थक जाता है तो सुषुप्ति अवस्था अर्थात् निद्रा काल में अपने घोसले अर्थात् बुद्धि में समाहित होकर विश्राम करता है। यह उसकी असंयमित क्रिया है और ये उसका असंयमन है। मन दिन

भर में कितने विषयों के बारे में विचार कर डालता है इसकी संख्या का ज्ञान बहुत कठिन है अर्थात् असंभव ही है। मन साधारणतयः प्रतिदिन हजारों विषयों के बारे में विचार करता है। यह मन का असंयमन है। जब मन यह विचारण समाप्त कर दे तो उसे संयमित कहा जाता है। संसारिक विषयों के विचारण की क्रिया जब तक चलती है तब तक मन संयमित नहीं होता है। इस कारण मन को संयमित करने के लिए मन की विचारण प्रक्रिया को रोकना पड़ता है। यही मन का संयमन है।

ख– मन किस प्रकार संयमित होता है?– स्वप्नावस्था में अर्थात् जब हम स्वप्न देखते हैं तब भी मन की विचारण प्रक्रिया चलती है। जागृत और स्वप्न की अवस्था में मन की विचारण प्रक्रिया एक जैसी होती है। अंतर स्मृति की एवं क्रियाशीलता की तीव्रता का रहता है। अर्थात् जागृत अवस्था में मन के द्वारा जो विषय विचारित किए जाते हैं वे स्मृति में शीघ्र तथा गहराई से बैठते हैं। वैसे स्वप्नावस्था में नहीं रहते हैं। स्वप्नावस्था में मन के विचारण में इतनी शीघ्रता तथा इतना गहरापन नहीं रहता है। इस कारण वे शीघ्र ही मिट जाते हैं और जागृत अवस्था के विचारों छाप गहरी होती है। इस प्रकार मन के विचारों की क्रिया चलती रहती है और सुषुप्ति अवस्था अर्थात् निद्रा काल में समाप्त हो जाती है परंतु विचार चूंकि स्मृति में संचित हो जाते हैं इस कारण वे अस्तित्त्व में रहते हैं उन्हीं स्मृति के संचित विचारों के बारे में, उन्हीं विषयों के बारे में अथवा नवीन विषयों के बारे में मन पुनः विचार करता है। इस प्रकार यह विचारों की प्रक्रिया रूकती नहीं है। अनवरत चलती रहती है। यही स्थिति ध्यान रूपी साधन में प्रमुख बाधा है।

मन सुषुप्ति अवस्था में अपनी विचारण शक्ति खो देता है अथवा वह थककर शांत हो जाता है। ध्यान की प्रक्रिया में हमें जागृत अवस्था की विचार की प्रक्रिया को विराम देना पड़ता है तथा सुषुप्ति अवस्था जैसी स्थिति लानी पड़ती है। ये सब विशिष्ट स्थिति है जिससे साधक सोता नहीं है तथा जागकर अर्थात् पूर्ण चैतन्य अवस्था में मन की विचार की प्रक्रिया को रोक देता है। साधारणतयः मन जागृत अवस्था में अपने कार्य को अर्थात् विचारण प्रक्रिया को रोक नहीं पाता परंतु ध्यान में विचार प्रक्रिया रूक जावे तथा निद्रा की स्थिति में न रहे न आवे यही ध्यान है। मन का स्वभाव चूंकि प्रमथनशील है, चंचल है इस कारण उसे रोकना बहुत कठिन होता है, परंतु प्रयास से रोका जा सकता है। यह निद्रा तथा जागृति के मध्य वाली स्थिति है।

ध्यान के विषय का प्रकरण चलने के कारण ध्यान के द्वारा मन कैसे रूकता है? इसका उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए। जैसे कुत्ता, बिल्ली, गाय आदि स्वच्छंद रूप से घूमा करते हैं यह उनकी प्रवृत्ति ही है। जब हम उनकी घूमने की इस प्रवृत्ति को रोकना चाहते है ंतो उन्हें रस्सी से खूंटे में बांध देते है ंतो पशुओं की घूमने की प्रवृत्ति पर विराम लग जाता है और वह अपने केन्द्र अर्थात् खूंटे की परिधि में ही घूमा करते हैं। इसी प्रकार उनके घूमने की प्रवृत्ति पर विराम लगाने के लिए हमें पशुओं को रस्सी से बांधना पड़ता है। वैसे ही ध्यान योग के साधक को एक लक्ष्य पर ध्यान को केन्द्रित करना पड़ता है। लक्ष्य से ध्यान का संबंध होने से मन संयमित हो जाता है। उसी लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित होने की प्रक्रिया को स्पष्ट करने हेतु श्री भगवान ने दो शब्द कहे हैं। **मच्चितः, मत्परायणा**। अर्थात् श्री भगवान में चित्त लगे और हम उनकी परायणता प्राप्त करें। इससे भी मन संयमित हो जाएगा। इस प्रकार मच्चितः और मत्परायणा रूपी मन के संयमन की प्रक्रिया को समझें।

9– मेरे (श्रीभगवान) में चित्त लगा दें– (मच्चितः)–

श्री भगवान ने मन को संयमित करने के उपायों को स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि मेरे में चित्त को लगाओ अर्थात् ध्यान के साधन में श्री भगवान में साधक को चित्त लगाना चाहिए। पूर्व में यह कहा जा चुका है कि चित्त का प्रमुख कार्य अर्थात् वृत्ति चिंतन है। इस कारण हमें श्री भगवान के बारे में चिंतन करना है। हम सब प्रमुख रूप से संसार के विषयों, प्रकरणों के बारे में चिंतन करते रहते हैं। इस चिंतन को समाप्त करके चिंतन के प्रवाह को श्री भगवान की ओर मोड़ना है। यही श्री भगवान में चित्त को लगाना है। संसारिक विषयों से चिंतन कैसे हटेगा? और वह श्री भगवान के बारे में कैसे लगेगा? यह विचार अत्यंत महत्वपूर्ण है। जिस पर हमें गहनता से विचार करना पड़ेगा। हम अपने चित्त को संसार में रखते हैं उस चिंतन को श्री भगवान के गुण, कर्म, स्वभाव आदि में लगा लें तथा उनकी सर्व शक्तिमान, सर्वव्यापी कृपा की अनुभूति की कृपा करें। यह चिंतन किस प्रकार होगा, इसको समझें–

क– श्री भगवान के गुणों के बारे में समझें–

संसार के चिंतन से चित्त को हटाकर श्री भगवान के गुणों के बारे में चिंतन करें। श्री भगवान के अनन्त और असंख्य गुण हैं। श्री भगवान सत्यता, दया, क्षमा,

सरलता, ऐश्वर्य, तेज, ज्ञान, बल, कोमलता, विनय आदि की प्रतिमूर्ति हैं। श्री भगवान का स्वरूप सत्य स्वरूप है जहां पर असत्य की किंचित मात्र भी पहुंच नहीं है। वे सभी पर दया करते हैं इस कारण दयाशील हैं। गंभीर तथा घोर अपराधियों को उनके अपराध के लिए सहज भाव से क्षमा कर देते हैं। श्री भगवान की मुस्कान से ये स्पष्ट है कि वे बहुत सरल स्वभाव हैं। जगत में जितने प्रकार के भी ज्ञान हैं उन समस्त ज्ञानों को उपार्जित करने वालों और जानने वाले श्री भगवान ही हैं और वे ज्ञान की प्रतिमूर्ति हैं। तीनों लोकों की प्रत्येक वस्तु उन्हें सहज ही उपलब्ध है तथा इसके वे एकमात्र स्वामी हैं। इस कारण समस्त प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त हैं। सूर्य की उत्पत्ति का कारण तथा सूर्य से परम तेजस्वी हैं। समस्त जीवों के सुहृद हैं तथा उन पर दया करके उनके कल्याण के बारे में चिंतन करते रहते हैं। इस कारण वे अत्यंत कोमल हैं। श्री भगवान विनम्रता की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। इसी प्रकार श्री भगवान असीमित गुणों के स्वरूप हैं और गुणों का पर्याय हैं। त्रिलोकी में जितने भी गुण हैं वे सब के सब उनमें समाहित हैं और उनसे ही प्रकट होते हैं। इस प्रकार ध्यान योगी को श्री भगवान के गुणों के बारे में चिंतन करते रहना चाहिए। यही श्री भगवान में चित्त को लगाना है।

ख– श्री भगवान के कर्म के बारे में चिंतन करें : श्री भगवान के तीन कर्म हैं जिन्हें उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय कहा जाता है। इस समग्र जगत की उत्पत्ति अर्थात् रचना श्री भगवान ने ही की है। त्रिलोकी का निर्माण चौदह लोकों की रचना करके उनमें जीवों की पृथक्–पृथक् संरचना करना श्री भगवान का ही कार्य है। असंख्य जीवों की उत्पत्ति, असंख्य प्रकार की प्रकृतियों को उत्पन्न करना तथा उनको अस्तित्व में रखना श्री भगवान का कार्य है। जीव असंख्य हैं और उनकी भोजन की व्यवस्था करना श्री भगवान के लिए बहुत ही सूक्ष्म कार्य है। वे अपने एक अंश से जगत का भरण–पोषण करते हैं। यह उनका विशिष्ट गुण है। असंख्य जीवों की उत्पत्ति करना, उनके पालन–पोषण के लिए विविध व्यवस्था करना श्री भगवान का विशिष्ट गुण ही है। इस समग्र ब्रह्माण्ड की रचना जिस प्रकार वह करते हैं उसी प्रकार वे ब्रह्माण्ड को समाप्त करने के लिए प्रलय कर देते हैं। इसलिए ध्यान योगी को श्री भगवान के कर्मों के बारे में चिंतन करना चाहिए तथा उनमें चित्त को लगाए रखना चाहिए। श्री भगवान के स्वरूप के बारे में चिंतन करें। श्री भगवान का स्वरूप बहुत ही मनोरम है। जिस प्रकार हम संसार की लुभावनी वस्तुओं में तथा आकर्षक वस्तुओं में खो जाते हैं तथा उन्हें देखते रहते हैं। इसी प्रकार हमें श्री भगवान के स्वरूप में भी उनके मनोहारी रूप

में अपने चित्त को फंसा देना चाहिए। संसार की जितनी भी आकर्षक, चित्त को लुभाने वाली वस्तुएं हैं वह सब की सब श्री भगवान ने ही बनाई हैं, तो श्री भगवान का स्वरूप संसार की समस्त लुभावनी और मनोरम वस्तुओं से उत्कृष्ट है और चित्त के आकर्षण का एक केन्द्र है। एक बार उस मनमोहक स्वरूप में हम यदि फंस जाते है ंतो उससे निकलना असंभव होता है परंतु हमने तो अपने को संसार की मोहकता में फंसा रखा है तथा उस मोहकता के बारे में चित्त के चिंतन की क्रिया चला रहे हैं। इस क्रिया को समाप्त कर हमें श्री भगवान के मोहक स्वरूप में चित्त को फंसाए रखना है। उसके मोहक स्वरूप के बारे में चिंतन करके हम श्री भगवान में चित्त लगा सकते हैं।

छ– श्री भगवान के सर्वशक्तिमान स्वरूप के बारे में चिंतन करें : मनुष्य की शक्ति की सीमाएं हैं। देवगण भी अपने अधिकार से ही कर्म कर सकते हैं तथा श्री भगवान द्वारा प्रदत्त शक्ति का उपयोग करते रहते हैं परंतु समस्त ब्रह्माण्ड के रचनाकार सृष्टि के उत्पत्ति के हेतु श्री भगवान की शक्ति को सीमित नहीं किया जा सकता है क्योंकि वो सर्वशक्तिमान है। उसने इस ब्रह्माण्ड की रचना की और अनेक ग्रह–उपग्रह उत्पन्न करके पृथ्वी पर समुद्र, पहाड़, नदियां, मरूस्थल आदि विशाल रचनाएं बिना किसी वस्तु के बना दी तथा समग्र जीवों की सृष्टि कर दी। सर्वशक्तिमान श्री भगवान अपनी शक्ति से समस्त कार्यों का संपादन कर सकते हैं। सर्वशक्तिमान श्री भगवान अपने स्वरूप को सृष्टि में परिवर्तित कर सकते हैं और जब चाहे तब सृष्टि को समेट सकते हैं। इस प्रकार ध्यान योग के साधक को श्री भगवान के सर्वशक्तिमान स्वरूप का चिंतन करते रहना चाहिए। ये श्री भगवान में चित्त को लगाना है।

ङ– श्री भगवान की कृपा की अनुभूति का चिंतन करें–

श्री भगवान में चित्त को लगाने तथा उनके विषय में चिंतन करने का विशिष्ट प्रकार उनकी कृपा की अनुभूति करना है। श्री भगवान की अतिशय कृपा प्रत्येक साधक पर बरसती है। ध्यान मे जब हम होते हैं तो हमें उनकी कृपा की, सानिध्यता की, साक्षात् अनुभूति करना चाहिए। श्री भगवान हमारे अत्यंत निकट हैं। हमारे हृदय में बसे हुए हैं। उनका हमारे हृदय में नित्य निवास है और वे अपनी कृपा पूर्ण दृष्टि से हमारी ओर निहार रहे हैं। वे हमें निरंतर देख रहे हैं और हमारी प्रत्येक गतिविधि पर उनकी दिव्य दृष्टि है। हम उनकी कृपा से उत्पन्न हुए हैं। अब तक उनकी कृपा से ही जीवित हैं। अतः उन्होंने ही हमें इस ध्यान योग के साधन में आरूढ होने की प्रेरणा प्रदान की है। उनकी कृपा से ही हम अनेक प्रकार के संसारिक बंधनों को तोड़कर उनके निकट

जाने हेतु उन्मुख हुए हैं। इस प्रकार हमें श्री भगवान के बारे में चिंतन करके चित्त को लगाना चाहिए।

10– श्री भगवान के परायण होना–(मत्परः)–

संसारिक आश्रय में हम सभी लोग साधारणतयः रहते हैं। हमें जब भी किसी प्रतिकूलता की प्रतीति होती है तो हम संसार का ही आश्रय लेते हैं। संसार के लोगों के आश्रय से उस प्रतिकूलता को अनुकूलता में परिवर्तित करना चाहते हैं। यह संसार ही परायणता है। हम जब किसी प्रकार के दुख से आवृत हो जाते हैं तो संसार में उसका निदान पूछते हैं। संसार के प्रयास से हमारा उस दुख से निवृत्ति का प्रयास रहता है। यह संसार की परायणता है। श्री भगवान की परायणता तब आरंभ होती है जब हम संसार के आश्रय का परित्याग कर देते हैं। यह परायणता श्री भगवान के एकमात्र आश्रय ग्रहण करने से प्राप्त हो जाती है। परायणता के स्पष्टीकरण हेतु कुछ तथ्यों का अवलोकन कीजिए जिससे परायणता का तत्त्व सहजता से समझ में आ जाता है और हमें श्री भगवान के परायण होने में सहजता से प्राप्त होती है।

क– एक शिशु मां की गोद को जानता है तथा उसमें वह सुख की अनुभूति करता है। आपने देखा होगा कि एक शिशु को जब अन्य कोई अपनी गोद में लेना चाहता है तो वह उसकी गोद में नहीं जाना चाहता है क्योंकि उसे माता की गोद में सुख की अनुभूति होती है। इस कारण वह अन्य की गोद में नहीं जाना चाहता। जबरदस्ती लेने पर वह रोता है। यह एक शिशु की मां के प्रति परायणता है जिसे वह छोड़ना नहीं चाहता है।

ख–एक बालक अन्य बालकों के साथ खेलता है तथा खेल–खेल में विवाद होने पर वह पहले तो स्वयं ही विवाद के हल का प्रयास करता है और असफल होने पर मां को पुकारता है तथा उसकी ओर भागता है। क्योंकि उसे यह ज्ञात है कि हमारे सम्मुख जो विपरीत स्थिति खेल में उत्पन्न हुई है वह मां की शरण ग्रहण करने पर ही अनुकूल हो सकती है। इस कारण वह मां की ओर भागता है। यह बालक की मां के प्रति परायणता है।

ग– बालक जब कुमार हो जाता है और वह पढ़ने जाता है तब विद्यालय में उसके समक्ष जो समस्याएं उत्पन्न होती हैं उन समस्याओं को वह अपने माता–पिता को बताता है, क्योंकि वह जानता है कि हमारी समस्याओं को माता–पिता ही हल कर सकते हैं। माता–पिता इस कुमार की समस्या के हलीकरण का प्रयास करते हैं। कुमार अपनी

समस्याओं को माता–पिता को क्यों बताता है ? क्योंकि वह जानता है कि माता–पिता ही हमारी समस्याओं का हल कर देने में सक्षम हैं। यह उस कुमार की माता–पिता के प्रति परायणता है।

घ– जब हम अस्वस्थ होते हैं अर्थात् बीमार होते हैं तब चिकित्सक से परामर्श लेते हैं। अस्वस्थता बढ़ जाने पर अन्य चिकित्सकों से संपर्क करते हैं क्योंकि हमें यह तथ्य ज्ञात है कि चिकित्सक ही हमारी अस्वस्थता को ठीक कर सकता है। इस कारण हम अपने रोग के निवारण हेतु चिकित्सक की शरण लेते हैं। यह चिकित्सक के प्रति हमारी परायणता है।

ङ– इस प्रकार अन्य अनगिनत संसारिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं के निवारण हेतु हम संसार का आश्रय ग्रहण करते हैं और संसार से ही अपनी समस्याओं का हल चाहते हैं। हम यह प्रयास करते हैं कि संसार के आश्रय से ही प्रतिकूल स्थितियों को अनुकूल बना लें। यह तथ्य सभी के साथ रहता है। यह सब संसार की परायणता है।

ध्यान योग के साधक को संसार के आश्रय के परित्याग का और श्री भगवान की शरण ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिए। जैसे एक शिशु तथा बालक माता–पिता के आश्रय ग्रहण कर लेता है तथा विश्वास रखता है वैसे ही ध्यान योगी को भी श्री भगवान का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए। यह अवधारणा करनी चाहिए कि श्री भगवान हमारे साथ हैं और प्रकट रूप से वह हमारी सहायता करेंगे। इस भावना से हमें संसार के आश्रय का भी परित्याग करना चाहिए। जब तक हम संसार का आश्रय रखते हैं, ग्रहण करते है ंतब तक हमें श्री भगवान का आश्रय पूर्णरूपेण प्राप्त नहीं होता है और हम सफल ध्यान योगी नहीं बन सकते हैं। श्री भगवान की परायणता का यही अर्थ है कि हम ध्यान योगी श्री भगवान का पूर्ण आश्रय लेकर ध्यान योग की साधना आरंभ करें। यही श्री भगवान की पूर्ण परायणता है। जिसके लिए श्री भगवान ने **मत्परः** शब्द का प्रयोग किया है।

11–युक्त की छह स्थितियां–

युक्त का सीधा अभिप्राय ध्यान योगी से है। इसके लिए श्री भगवान ने छह स्थितियों का इस श्लोक में निरूपण किया है। इसकी व्याख्या पूर्व में प्रस्तुत की जा चुकी है। पुनः संक्षेप में प्रस्तुत है।

क– जो ध्यान योगी साधक भली प्रकार शांत हो जाता है तथा अशांत नहीं रहता वह

युक्त कहा जाता है। श्री भगवान ने ऐसे ध्यान योगी के लिए प्रशान्तात्मा कहा है। अंतःकरण में हलचल का न होना ही इसका लक्षण है।

ख– जो ध्यान योगी साधक समस्त प्रकार के भयों से मुक्त हो जाता है। कहीं भी किसी भी स्थिति में भय नहीं करता है वह विगतःभी कहा जाता है। भय से मुक्त होने का यह लक्षण है। किसी भी स्थिति में भय न करना।

ग– जिन आठ प्रकार के मैथुन का उल्लेख पूर्वोक्त प्रकार से हुआ है उनसे ध्यान योगी पूर्ण मुक्त हो जाता है। ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिति की परख स्वयं होती है। आठ प्रकार से मैथुन का त्याग ही इसका लक्षण है।

घ–ध्यान योगी जब मन को संयमित कर लेता है तब उसका मन चलायमान नहीं होता है। संसारिक क्रियाओं में मन का न जाना ही मन का संयमन कहा जाता है। अर्थात् जब मन संसारिक विषयों में नहीं जाता है तो वह संयमित हो जाता है। संसारिक विषयों का विचार न करना ही संयमित मन का लक्षण है।

ङ– श्री भगवान में जब चित्त स्थापित हो जाता है तब ध्यान योगी श्री भगवान के गुण, स्वरूप, कर्म के बारे में ही चिंतन करता है। चित्त अन्य विषयों के बारे में चिंतन नहीं करता है। अन्य विषयों के बारे में चित्त द्वारा चिंतन न किया जाना ही इसका लक्षण है।

च– ध्यान योगी जब श्री भगवान के आश्रय में चला जाता है तब वह संसार के आश्रय का त्याग कर देता है तथा श्री भगवान का एकमात्र आश्रय ग्रहण कर लेता है। संसार के आश्रय का त्याग ही इसका लक्षण है।

युक्त तथा ध्यान योगी इस प्रकरण में एक समान हैं, ध्यान योगी का साधन जब उपरोक्त स्थितियों से युक्त हो जाता है तो वह युक्त कहा जाता है। यह ध्यान योग की पूर्णता है। श्री भगवान ने कहा कि–उक्त छह प्रकार की स्थितियों को प्राप्त करके ध्यान योगी मेरे आश्रय में बैठे। श्री भगवान के आश्रय में बैठने का अभिप्राय श्री भगवान के आश्रय में रहना ही है। यह समस्त स्थितियां उच्चस्तरीय साधना की स्थितियां है जो ध्यान योगी को ध्यान की पूर्णता के निकट स्वतः ही ले जाती हैं तथा ध्यान की पराकाष्ठा तक पहुंचा देती हैं।

श्री भगवान में चित्त को स्थापित कर देने से तथा उनका आश्रय ग्रहण लेने से क्या स्थिति प्राप्त हो जाती है? इस तथ्य का विवरण श्री भगवान अगले श्लोक में प्रस्तुत कर रहे हैं।

मूल श्लोक–15

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छाति।।

पदच्छेद–

युञ्जन्, एवम्, सदा, आत्मानम्, योगी, नियतमानसः,।
शान्तिम्, निर्वाणपरमाम्, मत्संस्थाम्, अधिगच्छाति।।

भावार्थ– मन को इस प्रकार निरंतर (लक्ष्य में) स्थापित करता हुआ नियत मन वाला ध्यान योगी मेरे (श्रीभगवान) में स्थिति वाली परम निर्वाण शांति को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या– परमात्मा में निरंतर अर्थात् सदैव मन लगाने से ध्यान योगी नियत मन वाला अर्थात् नियतमानसः हो जाता है और ऐसा नियत मन वाला ध्यान योगी परमात्मा में अपनी स्थिति का आभास करता है तथा परम्शान्ति को प्राप्ति हो जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक में श्री भगवान ने चार स्थितियों का वर्णन किया है। 1– ध्यान योग से परमात्मा में निरंतर मन को स्थापित करना, 2– नियत मन की स्थिति को प्राप्त कर लेना, 3–परमात्मा में अपनी स्थिति का आभास करना तथा 4– परम शांति को प्राप्त कर लेना। इन चार स्थितियों का क्रमशः अवलोकन कीजिए–

1– परमात्मा में सदा मन को लगाना– (युञ्जन्नेवं सदात्मानम्)–

श्री भगवान ने पूर्व में कहा था कि मुझ में चित्त को लगाओ और मुझ में मन को संयमित करो तथा मेरे परायण हो। इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि श्री भगवान ही ध्यान योगी का लक्ष्य हैं। यदि लक्ष्य न होते तो पूर्व श्लोक में तीन तथ्यों मन को संयमित करने, चित्त को लगाने तथा आश्रय में रहने की बात न कहते। इस ध्यान योग साधन का लक्ष्य श्री भगवान ही हैं। श्री भगवान उत्पत्ति अर्थात् सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करते हैं। इस भाव से भी ध्यान के हेतु हैं। जो सत्ता इन तीन क्रियाओं को करती है उसे ही परमात्मा कहा जाता है। श्री भगवान ने उसी भाव से, उसी रूप में यह तथ्य प्रकट किया है।

श्री भगवान में मन संयमित हो, उसमें चित्त का समर्पण हो तथा उसका एकमात्र आश्रय ग्रहण हो तो यह ध्यान योग की पूर्णता कही जाएगी और यह स्थिति स्वतः आ

जाती है। तब ध्यान योगी का ध्यान सिद्ध हो जाता है। मन को सदैव ही परमात्मा में स्थापित करना यह रहस्यप्रद तथ्य है तथा इसका सैद्धांतिक स्वरूप तो सहज सा लगता है परंतु प्रयोगात्मक अति जटिल, दुरूह और कठिन है। सहजता से उपलब्ध होने वाला नहीं है। यह मन निरंतर संसार में लगता है और संसारिक विषयों में अंतर रहित संलग्न हो जाता है। वैसे परमात्मा में लगे तो यह निरंतर कहा जाता है। सदैव लगने वाला कहा जाता है। इस तथ्य को विस्तार से समझिए और उसके प्रयोगात्मक स्वरूप को जानिए–

क– मन की अंतर रहित स्थिति क्या है?

परमात्मा के स्वरूप में मन शीघ्र नहीं रमता है, क्योंकि वह परमात्मा में आरंभ से नहीं रमा है। बाल्यावस्था से अर्थात् जब से मनुष्य समाज और जगत के प्रति संवेदनशील होता है जगत की गतिविधियों को क्रियाओं को जब से वह समझता है तब से वह जगत के बारे में विचार करता है। जगत में जो कुछ हो रहा है जिसका हमसे संबंध है अथवा जिससे संबंध नहीं है उस विषय में प्रभावित हैं। उस बारे में मन विचार करता रहता है। मनुष्य के जीवन में हजारों प्रकरण आते हैं जिनके बारे में समयानुसार विचार चलता रहता है। यह विचारों का क्रम संसारिक विषयों का चिंतन अंतर रहित होता है। एक बालक का मन भी संसार में रहता है और अपनी अवश्यकताओं और समस्याओं के बारे में विचार करता है। आपने बालक को देखा होगा कि एक दिन एक खिलौने की मांग करता है। यदि उसे यह खिलौना प्राप्त हो जाता है तो वह दूसरे खिलौने के बारे में विचार कर लेता है और यदि नहीं प्राप्त कर पाता है तो पुनः दूसरे दिन अपने अभिभावक से दूसरे खिलौने की मांग करता है। इसका अर्थ है कि उसके अभिप्राय की वस्तु खिलौने के बारे में बालक का विचार चलता है। ऐसी स्थिति में बालक का मन खिलौने की प्राप्ति के विषय में अधिकांश विचार करता है।

बालक से कुमार बने एक किशोर की आवश्यकताएं बढ़ती हैं । वह अपनी आवश्यकता के अनुरूप ही वस्तुओं के बारे में मन से विचार करता है। उसके विचार की सीमा बढ़ती है। क्योंकि उसकी आवश्यकताओं की सीमाएं बढ़ती हैं। इसी प्रकार युवावस्था में आवश्यकताएं और बढ़ती हैं और एक युवा मन के विचारण की सीमा बढ़ती है। इस प्रकार एक व्यक्ति अनेक विषयों को विचारित करने लगता है। उसका मन संसार में संलग्न हो जाता है। यह प्रक्रिया बढ़ती ही जाती है। एक युवा मन की

विचारण शक्ति बहुत अधिक होती है। ध्यान की अवस्था में, ध्यान की प्रक्रिया में इसी असीमित रूप से चंचल तथा संसारिक विषयों में विचारते मन को शांत करना पड़ता है। इस संबंध में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि क्या असीमित रूप से संसार में विचरण कर रहे मन को शांत किया जा सकता है? जो मन आरंभ से वर्षों के लंबे अंतराल से संसारिक विषयों के बारे में विचार कर रहा था, क्या उस मन से संसारिक विषयों को समाप्त किया जा सकता है। मन संसार के बारे में अंतररहित विचारण करता है। इस कारण हम परमात्मा के बारे में विचार नहीं करते हैं। मन एक ही तथ्य का विचार कर सकता है। या तो वह संसार के बारे में विचार करेगा। अथवा परमात्मा के बारे में विचार करेगा। मन के विचारण के दो ही विषय हैं। एक के हटने पर दूसरा विषय मन में आता है। हम सभी ने संसार के विषयों को मन में भर रखा है।

इस कारण मन का स्थान खाली ही नहीं है कि परमात्मा के विषय को मन में रखा जा सके। बाल्यावस्था से अब तक की आयु में हम सभी ने संसार को अपने मन के विचारण का विषय बना रखा है। इस कारण संसार का ही हमें अनुभव होता है और संसार दिख रहा है और हमारी विचारण प्रक्रिया में निरंतर आ रहा है। इस क्रिया को समाप्त करना पड़ेगा। वर्तमान में हम संसार के बारे में निरंतर विचार कर रहे हैं तथा पहले से भी मन में संसार के विषय भरे हैं तो संपूर्ण मन ही संसारमय हो गया है। इस स्थिति के प्रतिकूल जब परमात्मा का विषय मन में भर जाता है तथा संसार का विषय बाहर हो जाता है तब मन परमात्मा के बारे में ही विचार करने लगता है। यह मन की अंतर रहित स्थिति है। इसमें परमात्मा के बारे में विचारण होता है। संसार के विषय समग्रता से समाप्त हो जाते हैं। जैसे संसार के विचारण काल में परमात्मा के विचारण विषय समाप्त रहते हैं वैसे ही परमात्मा के विचारण काल में संसार के विषयों का समापन हो जाता है। यही अंतर रहित स्थिति है जिसमें परमात्मा ही समग्रता से बचता है। संसार समग्रता से समाप्त हो जाता है। वैसे ही परमात्मा के विचारण काल में यदि निरंतरता आ जाती है तो संसार के विषयों के समापन की स्थिति आ जाती है। यही अंतररहित स्थिति है जिसमें परमात्मा ही समग्रता से अवशेष रहता है। ध्यान योग में ही यही क्रिया हमें करनी होती है और संसार के विचारण विषयों को मन से जबरदस्ती निकालना पड़ता है और परमात्मा को जबरदस्ती उसके स्थान पर भरना पड़ता है। यह प्रक्रिया किस प्रकार होगी इसे समझना पड़ेगा तथा परमात्मा के संबंध में अंतररहित विचारण को प्राप्त करना पड़ेगा।

ख– मन की अंतर रहित स्थिति कैसे प्राप्त की जाती है?

संसार के बारे में सब विचार करते रहते हैं। इस विचार को हमें समाप्त करना चाहिए। हम संसार के किन विषयों के बारे में विचार कर रहे हैं इसका स्वयं ही निरीक्षण करें। जिन–जिन विषयों का विचार करते हैं उनके विषय में विचार क्यों करते हैं? इस बारे में गहनता से सोचें। हमारे विचारण विषय क्या हैं? इस पर ध्यान दें, हम क्या विचार करते हैं? क्यों विचार करते हैं? दो बिन्दु हैं। हम जो भी विचार करते हैं इस कारण करते हैं कि हमें संसार की वस्तुएं प्राप्त हो। जबकि संसार की वस्तुएं हमें परमात्मा की कृपा से हमारे प्रयास से स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं। विचार करने से प्राप्त नहीं होती हैं। संसार की जो वस्तुएं हैं वे हमारे कर्मों के आधार पर प्राप्त होंगी उसमें विचार की आवश्यकता नहीं। जब ये विचार दृढ़ हो जाता है तब संसारिक विचारों का क्रम टूटता है। परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती है। विचारों को त्यागने का यह एक उपाय है कि हम संसार की वस्तुओं को प्राप्त करने का विचार त्याग दें और निष्काम भाव से कर्म करें तो हमें स्वयं ही वे वस्तुएं प्राप्त हो जाएंगी जिनके लिए हम प्रयत्नशील हैं। उनमें हमें प्रयास नहीं करना पड़ेगा।

हम सब जागते ही संसार के बारे में विचार करने लगते हैं और रात्रि तक विचार करते हैं। हम जागते ही परमात्मा के बारे में विचार करने लगे और रात्रि सोने तक करते रहें जब भी मध्य में कोई संसारिक विचार आए तो उसे बलपूर्वक आने से रोकें। जैसे हमारे घर में बरसात का पानी आता है तो उसके लिए हम बांध आदि की व्यवस्था करते हैं और उस पर अपनी दृष्टि रखते हैं कि वह बांध टूट न जाए। यदि टूटेगा तो बरसात का पानी पुनः घर में आएगा। इस प्रकार हम विचारों के आने की प्रक्रिया पर दृष्टि रखते हैं और संसारिक विचारों के आने पर उसे पुनः आने पर रोकते हैं और परमात्मा के संबंध में विचारों को आने देते हैं। जाड़े के दिनों में ठंडी हवाएं हमारे कमरे में आती है ंतो हम खिड़की बंद कर देते हैं ताकि ठंडी हवाओं का आना समाप्त हो। खिड़की खुली रहने पर ठंडी हवाएं स्वतः ही हमारे कमरे में प्रवेश करेंगी। इसी प्रकार सांसारिक विचारों के आने का मार्ग हमें अवरूद्ध करना पड़ेगा और परमात्मा के विचारों को बनाए रखना होगा।

मन से परमात्मा के विषय में निरंतर चिंतन के लिए नाम जप का प्राविधान हमारे मनीषियों ने किया है। परमात्मा के नाम का जप निरंतर करने से धीरे–धीरे विचारों का

क्रम धीरे–धीरे परमात्मा की ओर हो जाता है। यह स्थिति शीघ्र नहीं आती है। कठिन प्रयास के बाद आती है। परमात्मा का निवास हमारे हृदय में है तथा कंठ से जब परमात्मा के नाम का उच्चारण पुनः–पुनः करते हैं तो हृदय में बैठा परमात्मा हमारी ओर पुनः ही आकर्षित होता है और अपनी उपस्थिति का आभास कराता है। जैसे जगत में हम किसी व्यक्ति को उसका नाम लेकर पुकारते है ंतो वह व्यक्ति हमारी ओर आकर्षित होता है कि हमें कौन पुकार रहा है? हमारी पुकार पर वह रूकता है। यही तथ्य नाम जप का है। जब हम परमात्मा के नाम का जप करते हैं तो हृदयस्थ परमात्मा हमारी ओर स्वतः ही आकर्षित होता है और हमारी ओर आकर्षित होकर अपनी उपस्थिति का आभास हमें कराता है। जैसे किसी व्यक्ति के पुकारने पर वह हमारे निकट स्वतः आ जाता है। परमात्मा की यह अनुभूति भी हमारे विचारों को उसकी ओर स्वतः ही उन्मुख करती है और हम धीरे–धीरे परमात्मा के बारे में विचार करने लगते हैं तथा अंतर रहित स्थिति प्राप्त कर लेते हैं।

संसार के संबंध में जो भी विचार उन्हें समाप्त करना चाहिए और उसके स्थान पर परमात्मा के संबंध के विचारों को जोड़ना चाहिए जैसे हम संपूर्ण ध्यान अपने व्यवसाय के विकास में लगाते हैं प्रातः उठते हैं और व्यवसाय के विकास के उपायों के बारे में विचार करने लगते हैं, योजना बनाते हैं और उस योजना को क्रियान्वित करने का प्रयास करते हैं। हम अपना संपूर्ण ध्यान तथा विचारण अपनी योजना पर रखते हैं। ऐसी स्थिति में हम अपने व्यवसाय को पर्याप्त विकास की ओर ले जाते हैं। वैसे ही हम परमात्मा के विषय को जब प्रातः से रात्रि तक विचार करते हैं तथा उसकी प्राप्ति के विषय में सोचते है ंतब धीरे–धीरे वह परमात्मा हमारे विचारों में आने लगता है। उस परमात्मा की सत्ता में हम रह रहे हैं, जी रहे हैं तथा उसकी कृपा के बारे में हम विचार क्यों नहीं करते हैं? यह अत्यंत विचारणीय तथ्य है। हमें उसके बारे में विचार करना चाहिए। तथा उसमें निरंतरता को लाने का प्रयास करना चाहिए। धीरे–धीरे विषयों में निरंतरता आ जाएगी।

2– नियत मन वाला होना– (नियतमानसः)

संसार के बारे में विचारण का समाप्त होना तथा परमात्मा के बारे में एकमात्र विचारण करने वाले साधक को **नियतमानसः** अर्थात् नियत मन वाला कहा जाता है। जब तक ध्यान योगी संसार के बारे में रंच मात्र भी विचार करता है तथा संसार में रमता है और संसार में घूमा करता है तब तक वह नियतमानसः नहीं हो सकता है। ऐसे

ध्यान योगी साधक को अनियत मन वाला कहा जाता है। ध्यान योग की पराकाष्ठा में ही ऐसी स्थिति संभव है। ध्यान में जब संसारिक विषय पूरी तरह से हट जाते हैं और एकमात्र परमात्मा के विषय का विचारण अवशेष रहता है तो ध्यान योगी नियतमानसः हो जाता है।

यद्यपि यह स्थिति कठिनता से प्राप्त होने योग्य है। परंतु प्राप्त करना असंभव नहीं है। जिस प्रकार वायु चलती है और धीरे धीरे उसका प्रवाह रहता है उस प्रवाह में निरंतरता रहती है। वैसे ही नियतमानसः ध्यान योगी परमात्मा के बारे में निरंतर विचार करता रहता है। वह संसार के बारे में विचार नहीं करता है। उसकी यह स्थिति ही उसे नियतमानसः कर देती है और वह नियत मन वाला हो जाता है।

संसार में असंख्य विषय हैं अर्थात् संसार के विषयों को गिनना असंभव है। इसी कारण इसे भवसागर कहा जाता है। संसार रूपी भवसागर में पड़कर मनुष्य निरन्तर ही संसार के विषयों के बारे में विचार करता रहता है। इसी के अनुसार अपना मन बना लेता है। इसी प्रकार परमात्मा के विषयों के असंख्य विचारण विषय है परन्तु हम उनकी अनुभूति नहीं करते है। हम परमात्मा के साम्राज्य का आभास न करने से ही संसार का आभास करते रहते हैं। जब हमें परमात्मा की सत्ता, साम्राज्य, शक्ति, गुण, कर्म, स्वभाव का ज्ञान हो जाता है तब हम एक मात्र परमात्मा के बारे में ही विचार करते रहते हैं उसमें डूबना चाहते है। संसार को, संसार के विषयों को एक मात्र परमात्मा ने बनाया है। इस संसार के अतिरिक्त भी उस परमात्मा की सत्ता है। यह सत्ता पृथ्वी से हजारों गुना वृहद् है। ऐसे साम्राज्य वाली शक्ति का जब हम आभास कर लेते है तो उसके बारे में ही एक मात्र विचार करते रहते है और नियतमानसः हो जाते है। ध्यान योगी का नियतमानसः हो जाना ही ध्यान योग की पराकाष्ठा है जो ध्यान की पूर्णतः की परख भी है। इस प्रकार जब परमात्मा की सत्ता का चिंतन करने वाला साधक निरन्तर ही परमात्मा के बारे में ही विचार करता है तो इसकी स्थिति नियत मन वाले की हो जाती है। नियत मन वाला संसार के विषयों में कभी रमता नहीं विचार नहीं करता है।

3– परमात्मा में अपनी स्थिति का आभास करना (मत्संस्थाम्):–

जब वर्षा होती है तो हमें दो प्रकार का आभास होता है और वह स्थिति के अनुसार ही होता है। एक तो हम बरसात को देखते है तो हमें जल के बरसने का आभास होता है और दूसरे वर्षा में भींगते हैं तो भींगकर हमें बरसात के जल का आभास

होता है। बाहर से देखना और वर्षा के जल में भीगना यह दोनों के प्रकार के पृथक्–पृथक् आभास है। हम बरसात में अपनी स्थिति का आभास करते है। भींगकर पूरी तरह से दूसरे प्रकार का आभास करते है। जब हम बरसात में भीगते है तब हमें वर्षा में अपनी उपस्थिति का आभास होता है।

वैसे ही परमात्मा की कृपा की वर्षा में हम अपनी उपस्थिति का आभास कर सकते हैं। हमारे मन में जब परमात्मा के बारे में ही एक मात्र विचारण होता है तो हम उसके विचारों में डूबते है उसके विचारों में डूबने पर परमात्मा में हमें अपनी स्थिति का आभास होने लगता है। नियत मन वाला योगी अपनी स्थिति को इस प्रकार ही परमात्मा में अनुभव करता है।

संसार में जितने भी विषय भोग है अर्थात् इन्द्रियजन्य सुख है उनमें हम अपनी स्थिति का आभास करते है। जब किसी मनोरम दृश्य, वस्तु, व्यक्ति को हम देखते है तो मन भी वहां पहुंच जाता है और हम अपनी स्थिति का वहां अनुभव करने लगते है। कान से मधुर संगीत को, मधुर गीत को जब सुनते है तब भी हम उसके आश्रय में होकर उसकी मधुरता का आभास करते है। त्वचा से कोमल वस्तु का आभास करने पर भी हमारी उसमें स्थिति हो जाती है। इस प्रकार जितने भी सुख हैं उसमें हम अपनी स्थिति के बारे में अपना आभास करते है और उसे पृथक् नहीं कर पाते है। इसी प्रकार परमात्मा में हमें अपनी स्थिति के आभास में उसकी ओर नियत मन वाला होना पड़ता है। संसार के विचारण को त्याग कर जब हम एक मात्र परमात्मा की सत्ता का विचारण करते है तो हम सहजता से ही उस परमात्मा में अपनी स्थिति का आभास कर लेते है।

संसार में रहकर संसार की विभिन्न वस्तुओं का हम सभी आभास करते हैं। जो वस्तुएं जैसी है वैसा ही उनका आभास हमें होता है। हमारा मन यह जानता है कि कौन सी वस्तु कैसी है ? और उसका हमारे लिए क्या उपयोग है ? जिन वस्तुओं का उपभोग करते है उनका हम आभास उनकी उपयोगिता के अनुसार करते है। जब हम उपयोग करते है तो उनमें हमारी स्थिति होती है। बिना स्थिति के हम उनमें अपना आभास कदापि नहीं कर सकते हैं। उसी प्रकार परमात्मा की ओर दृष्टि चले जाने पर सर्वप्रकारेण वह ही हमारे लिए उपयोगी हो जाता है। वह हमारे जन्म से लेकर हमारी मृत्यु तक अपनी उपस्थिति के द्वारा हमें लाभान्वित कराता है हम उसमें ही जीते है और मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। हमने उसकी उपयोगिता के आभास को भुला दिया है।

नियतमन वाला साधक परमात्मा की उपयोगिता के आभास को ध्यान कर उसमें अपनी स्थिति का अनुभव करता है और उसमें ही स्थित रहता है।

ध्यान की परकाष्ठा में साधक संसार में अनुपस्थिति का आभास करता है तथा परमात्मा की निकटता, सान्निध्यता का आभास करने लगता है। जब हम किसी की निकटता का, सान्निध्यता का आभास करते है तो उसमें अपनी स्थिति को देखने लगते है। जैसे कोई प्रभावशाली व्यक्ति हमसे बाते करता है तब हम उससे पूरी तरह से प्रभावित होते है और आस पास के जगत को भूल जाते है। पूरा ध्यान उसकी बातों को सुनने में लगाते है और उसके प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर देने का प्रयास करते हैं। इस क्रिया से तन्मयता बढ़ती है और हम उसमें अपनी स्थिति का आभास करते है। वैसे ही जब हम ध्यान में बैठते है तब उस परमात्मा का आभास करते हैं उसकी निकटता तथा सान्निध्यता का अनुभव करते है। यह आभास हमें अपनी स्थिति का उस परमात्मा में अनुभव कराता है और हम ध्यान की प्रगाढता में उसे अनुभव करते है।

4– परमात्मा में स्थिति से परम शान्ति का अनुभव करता है –

(शान्तिं निर्वाणपरमां अधिगच्छति):–

परमात्मा सर्वोच्च है। इस जगत में जितनी भी वस्तुएं है उनकी प्राप्ति मनुष्य प्रयत्न से कर लेता है। वे सबकी सब हमारी स्मृति में रहती हैं। वे परमात्मा के द्वारा निर्मित है। धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि सभी परमात्मा के द्वारा ही हमें उपलब्ध कराये जाते हैं। परमात्मा की प्राप्ति इतनी सुगम नहीं है उसके के लिए हमें बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। बड़े प्रयत्न से यदि वह प्राप्त हो जाता है तो साधक अर्थात् ध्यान योगी परम्शान्ति का आभास करता है। संसार की वस्तुओं की प्राप्ति में हम वैसा अनुभव नहीं करते है। शान्ति और परम शान्ति ही दो पृथक्–पृथक् स्थितियां है, शान्ति क्या है ? और परम्शान्ति क्या है ? इस तथ्य को समझिए और उसके अन्तर को जानिए।

(क) अवस्था में शान्ति का आभास :–

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाऐं होती है। जागृत अवस्था में मनुष्य जागता है और दिन भर अपने व्यवसाय में, जीवन निर्वाह के उपायों में तथा अन्य क्रियाकलापों में व्यस्त रहता है। यह सब करते करते वह थक जाता है और अशान्ति का आभास करता है। थक जाने पर वह सोता है और प्रातः जागने पर पुनः वह शान्ति का आभास

करता है। परन्तु यह शान्ति क्षणिक है और सायंकाल तक समाप्त हो जाती है। यह अवस्था की शान्ति है जो कुछ घंटों के पश्चात स्वतः ही समाप्त हो जाती है। प्रातःकाल जो शान्ति रहती है वह सायंकाल समाप्त होने लगती है।

(ख) इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति में शान्ति का आभास :–

प्रत्येक मनुष्य इच्छाऐं करता है कि संकल्पित वस्तुओं की असीमित इच्छाऐं मनुष्य ने अपने अंतःकरण में रहती है। असीमित इच्छाओं में कुछ की ही प्राप्ति हो पाती है और अधिकांश अप्राप्त ही रहती है। परन्तु जो इच्छित वस्तुएं हमें प्राप्त हो जाती है उनमें हम एक प्रकार की शान्ति का आभास करते है। यह शान्ति उस समय तक रहती है जब तक उन वस्तुओं के सापेक्ष हम अन्य इच्छित वस्तुओं की आवश्यकता का आभास नहीं करते है। एक इच्छित वस्तु हमें प्राप्त हो जावे तो दूसरी की आवश्यकता का आभास हमें स्वतः हो जाता है। इस कारण जब इच्छित वस्तु प्राप्त होती है तो भी हम कुछ शान्ति का आभास करते है परन्तु यह आभास अन्य वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीति के साथ ही समाप्त हो जाता है। इसलिए यह शान्ति भी क्षणिक है।

(ग) अनुकूलता में शान्ति का आभास :–

जब हम सब अनेक समस्याओं में घिर जाते है तब अशान्ति का आभास करते हैं। इस संसार में इतनी समस्याऐं है इसका आभास हम सब नित्यप्रति ही करते रहते है। हमारे समक्ष जो भी समस्याऐं है उनके हल का प्रयास रहता है। प्रत्येक मनुष्य की समस्याऐं स्थिति, अवस्था, स्थान, देश काल के आधार पृथक्–पृथक् रहती हैं। प्रत्येक समस्याओं के चलते मनुष्य अशान्त रहता है। समस्याऐं असंख्य है और उनके हल के लिए हम प्रयत्नशील होते हैं। जब कुछ समस्याऐं हल हो जाती हैं तो हमें शान्ति का कुछ आभास होता है। परन्तु समस्याऐं असंख्य है इस कारण नई समस्या के उपस्थित होते ही हमें अशान्ति का आभास होता है। जब समस्याऐं हल होती है तो हमें अनुकूलता का आभास होता है और हमें यह लगता है कि हम शान्त है परन्तु जब अन्य समस्याऐं उपस्थिति होती है तो पुनः हम अशान्ति का आभास करते हैं इस कारण अनुकूलता में शान्ति का आभास भी क्षणिक है।

(घ) त्याग से शान्ति का आभास :–

सांसारिक वस्तुओं, विषयों के त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त हो जाती है। हम सभी संसार की वस्तुओं तथा विषयों को लेकर ही अशान्त रहते है। संसार की वस्तुओं

का कभी संयोग होता है तो शान्ति का आभास होता है और जब वियोग होता है तो स्वतः ही अशान्ति आ जाती है। इसी प्रकार विषयों के संयोग से शान्ति का कुछ आभास होता है परन्तु जब विषय भोग नहीं प्राप्त होते है तो भी हमें दुख और अशान्ति का आभास होने लगता है। यह प्रक्रिया चला करती है परन्तु जब हम संसार की वस्तुएं और भोग प्राप्त न करने की स्थिति में आ जाते है अर्थात् उनका परित्याग कर देते है तब हमें तत्काल शान्ति प्राप्त हो जाती है क्योंकि सांसारिक भोग और संसार की वस्तुएं ही अशान्ति का हेतु है। इस कारण उनके परित्याग से हमें तत्काल शान्ति मिलती है। जब यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि हमें संसार की किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है केवल जीवन निर्वाह हेतु अनिवार्य वस्तुओं की आवश्यकता है तो हमें शान्ति का आभास होता है और यह शान्ति टिकाऊ रहती है। परन्तु इसे पूर्ण शान्ति नहीं कहा जा सकता।

(ङ) परमात्मा की अनुभूति से परमशान्ति :–

शान्तिं निर्वाणपरमाम् से जिस परम शान्ति का वर्णन श्री भगवान ने किया है उस परम निर्वाण शान्ति का आभास परमात्मा की सानिध्यता से ध्यान योग की परकाष्ठा में होता है। यह परम शान्ति जो परमात्मा के दर्शन के उपरान्त प्राप्त होती है वह स्थायी होती है तथा उसका किसी भी स्थिति में विनाश नहीं होता है। यदि हमें संसार की बहुमूल्य वस्तुऐं प्राप्त हो जावे जिसकी हमें कल्पना भी न हो तो हमें अन्दर से एक शान्ति और सुख का आभास होता है। भले ही यह शान्ति और सुख अस्थायी रहता है। इसी प्रकार यदि हमें परमात्मा की प्राप्ति हो जावे तो परम शान्ति प्राप्त हो जाती है क्योंकि परमात्मा ही सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु है। मनुष्य के जीवन का, जीवन के पश्चात मृत्यु का, तथा मृत्यु के पश्चात जीवन का एक मात्र आश्रय है। यद्यपि परमात्मा की अनुभूति के पश्चात पुनर्जन्म नहीं होता है। इस कारण उसको परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। पुनः पुनः जन्म लेना और पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त होना ही अशान्ति का प्रमुख कारण है और जन्म मृत्यु का समाप्त होना ही परम शान्ति कहा जाता है।

मन जब निरन्तर परमात्मा में स्थापित हो जाता है तो ध्यान योगी साधक नियत मन वाला हो जाता है। उस नियत मन वाले ध्यान योगी साधक की स्थिति परमात्मा में हो जाती है और वह परमात्मा में अपनी स्थिति का निरन्तर आभास करता है तथा जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त हुआ निर्वाण स्थिति को प्राप्त हो जाता है। यही परमशान्ति है जो परमात्मा के साक्षात्कार से प्राप्त होती है।

ध्यान योग में साधक को क्या–क्या सावधानियां बरतनी चाहिए जिससे ध्यान योग की सिद्धि हो जावे अर्थात् उसका आहार विहार और कर्मो में कैसी चेष्टा होनी चाहिए श्री भगवान इसी तथ्य का प्रस्तुतिकरण अगले श्लोक में करेंगे।

मूल श्लोक–16

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।

पदच्छेद –

न, अति, अश्नतः तु, योगः, अस्ति, न, च, एकान्तम्, अनश्नतः,।
न, च, अति, स्वप्नशीलस्य, जाग्रतः, न, एव, च, अर्जुन।।

मूल श्लोक–17

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

पदच्छेद –

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य, कर्मसु,।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगः, भवति दुःखहा।।

<u>भावार्थ</u> : ध्यान योग अधिक भोजन करने वाले का, अति अल्पाहारी का तथा अत्यधिक निद्रा सेवन करने वाले और अधिक जागने वाला का सिद्ध नहीं होता है। ध्यान योग साधन उचित आहार करने वाले का, उचित विहार करने वाले का और कर्मो में युक्त चेष्टा करने वाले का, नियमित सोने जागने वाले का सिद्ध होता है।

व्याख्या : श्री भगवान ने ध्यान योग की सफलता के लिए कुछ विशिष्ट सावधानियां प्रस्तुत की है दोनों श्लोकों में पहले **नात्यश्नतस्तु** कहकर यह स्पष्ट कहा है कि जो मनुष्य अधिक भोजन करता है अर्थात् भोजन ग्रहण करने की मात्रा अधिक है उसका ध्यान भी सिद्ध नहीं होता है। इसी तथ्य को 17वें श्लोक में युक्त आहार कहकर प्रकट किया है। यद्यपि युक्त आहार तथा अधिक खाने के भाव में अंतर है जो नीचे प्रस्तुत

किया जाएगा। इसी प्रकार **एकान्तम्, अनश्नतः** कहकर जो कम भोजन करने का तथ्य प्रस्तुत किया है वह भी युक्त आहार का एक अंग है। जिसका भाव है कि अति अल्प मात्रा में अथवा बिल्कुल भोजन ग्रहण करने वाले का भी ध्यान योग सिद्ध नहीं होता है।

इसी प्रकार **अति स्वप्नशीलस्य** और **जाग्रतः** शब्दों से जो अधिक सोने वाले का और अधिक जागने वाले का योग सिद्ध नहीं होता है इस भाव को 17वें श्लोक में **युक्त स्वप्नावबोधस्य** कहकर प्रस्तुत किया है पर उसमें भी कुछ अन्तर है इसे नीचे प्रकट किया जाएगा इसके अतिरिक्त युक्त विहार तथा कर्मो में युक्तचेष्टा का जो तथ्य प्रस्तुत किया है वह भी गहन विषय वाला है और वह अनेक भाव प्रकट करता है उन समस्त भावों का पृथक–पृथक प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है कृपा उसका अवलोकन कीजिए।

1– अधिक भोजन करने वाले का ध्यान सिद्ध नहीं होता (नात्यश्नतस्तु) :–

श्री भगवान ने ध्यान के सम्बन्ध में एक तथ्य स्पष्ट किया है कि जो ध्यान योग का साधक अधिक भोजन करता है उसका ध्यान सिद्ध नहीं होता है। आयुर्वेद में भोजन के परिमाण पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। भोजन कड़ी भूख लगने पर ही ग्रहण करना चाहिए तथा आधा पेट भोजन से चौथाई भाग जल से अवशेष चौथाई भाग वायु के लिए छोड़ना चाहिए जिससे भोजन का पाचन उचित रूप से हो सकें। श्री भगवान ने अधिक भोजन न करने का जो तथ्य कहा है वह आयुर्वेद के उक्त भोजन परिमाण वाले नियम की ओर संकेत करता है जो लोग सम्पूर्ण उदर अर्थात् पेट को भोजन से भर लेते है तथा जल और वायु के लिए स्थान नहीं छोड़ते है वह ही अधिक परिमाण में भोजन करने वाले कहे जाते है। अधिक परिमाण में आयुर्वेद के नियम के प्रतिकूल भोजन करने वालों को बैठने में समस्या होती है और उन्हें भोजन के पाचन के लिए लेटना पड़ता है तथा निद्रा के आश्रय में रहना पड़ता है। इस कारण अधिक भोजन कर लेने से ध्यान में बैठा ही नहीं जा सकता है। जब ध्यान में साधक अधिक भोजन करने के कारण बैठ नहीं सकता है तब सिद्धि का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। इसलिए अधिक भोजन करने से ध्यान सिद्ध नहीं होता है। अधिक भोजन कर लेने से मन को संयमित करने में कठिनाई होती है। चूंकि मन की उन्मुखता उदर की ओर हो जाती है। पूर्ण भोजन करने से ध्यान की स्थिति में बाधा आती है और विश्राम के पश्चात भी शरीर में भारीपन रहता है। इस तथ्य को परखा जा सकता है। हम जब भी अधिक भोजन कर लेते है तो दिन में बेचैनी का आभास रहता है और रात्रि में निद्रा में बाधा आती है। इसके अतिरिक्त पाचन में भी कठिनता होती है इस कारण अपच रहता है। यह शरीर की स्थिति को

असंतुलित कर देने वाली स्थिति है जिसमें ध्यान के अतिरिक्त अन्य कार्यो में भी बाधा आती है। इस प्रकार शरीर के असंतुलित और असहज रहने से ध्यान की सिद्ध नहीं होती है।

2– अति अल्पाहारी का भी योग सिद्ध नहीं होता है (न चैकान्तमनश्नतः) :–

एकान्तमनश्नतः का शाब्दिक अर्थ तो बिल्कुल न खाने से होता है, परन्तु बिल्कुल भोजन न करने से मनुष्य जीवित ही नहीं रह सकता। इस कारण इसका अर्थ अति अल्पाहार से लिया जा रहा जो अति अल्पाहारी होते हैं अर्थात् व्रत, उपवास में ही रहकर सूक्ष्म मात्रा में भोजन लेते है और भूखे पेट ही योग सिद्धि की कामना करते है वे भी योग की सिद्धि नहीं कर सकतें। व्रत और उपवास शास्त्र संगत है और लाभकारी भी है परन्तु अशास्त्र संगत व्रत और उपवास हमारे लिए हानिकारक होते है। व्रत और उपवास के निरन्तर सेवन से मनुष्य को जीवन के लिए शरीर को आवश्यक ऊर्जा प्राप्त नहीं हो पाती है जिससे शरीर की क्रियाएं उचित रूप से सम्पन्न नहीं हो पाती है। हमारे शरीर में यदि ध्यान के लिए आवश्यक ऊर्जा नहीं होगी तो हम ध्यान की क्रिया को सम्पन्न ही नहीं कर पायेंगे। इस कारण श्री भगवान ने अति अल्पाहारी के लिए ध्यान योग की सिद्धि न हो पाना कहा है।

ध्यान योग की साधना में यद्यपि शरीर अपने लिए स्वतः ही आवश्यक ऊर्जा का संग्रहरण कर लेता है। यदि ध्यानयोगी साधक को सामान्य भोजन भी प्राप्त होता है तो भी वह पूर्ण स्वस्थ रहता है। क्योंकि ध्यान की क्रिया से अनावश्यक चिंतन की क्रिया, संसार में स्थिति समाप्त हो जाती है इस कारण उसके पास स्वतः ही आवश्यक ऊर्जा संग्रहित रहती है परन्तु यदि भोजन का अत्यधिक त्याग हठपूर्वक किया जाए तो यह ध्यान योग के लिए उचित नहीं होता है। इसी कारण श्री भगवान ने अति अल्पाहारी के लिए ध्यानयोग का सिद्ध न होने का तथ्य कहा है।

3– युक्त आहार से ध्यान योग की सिद्धि – (युक्ताहार) :– श्री भगवान ने युक्त आहार का आदेश दिया है। युक्त आहार के अभिप्राय के लिए निम्न भावों का अवलोकन कीजिए–

(क) युक्त आहार का अर्थ परिमित भोजन :–

युक्त आहार का एक अर्थ है परिमित भोजन करना। भूख लगने पर जब साधक अपनी सामर्थ्य के अनुसार आधा पेट भोजन करता है तथा आधा पेट जल और वायु हेतु

छोड़ दिया जाता है जिससे ग्रहण किये भोजन का उचित रूप से पाचन हो जाता है भोजन की मात्रा बढ़ने पर शरीर में आलस्य स्वतः ही आ जाता है। अधिक भोजन करने से शरीर की हानि होती है क्योंकि उसके पाचन के लिए पाचन तंत्र को अधिक परिश्रम करना पड़ता है इससे संचित ऊर्जा का विनाश होता है। अपरिमित भोजन से दो प्रत्येक हानियां है एक शरीर में पाचन तंत्र में अनियमितता आती है और शरीर अस्वस्थ होता जाता है इस कारण श्री भगवान ने ध्यान योगी को युक्त आहार का आदेश दिया है।

(ख) युक्त आहार का अर्थ समय से भोजन करना :–

भोजन करने के समय का निर्धारण होना चाहिए। भोजन दिन में दो बार किया जाना चाहिए। एक बार अपरान्ह में तथा एक बार रात्रि में। अपरान्ह का भोजन 11 बजे तक आवश्यकतानुसार कर लेना चाहिए तथा रात्रि का भोजन रात्रि आठ बजे तक हो जाना चाहिए। भूख न लगने पर भोजन के समय में परिवर्तन किया जा सकता है। क्योंकि भोजन की पहली शर्त है कड़क भूख का लगना। बिना भूख लगे जो भोजन किया जाता है उसका सुचारू रूप से पाचन नहीं होता है और वह शरीर में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न कर देता है। कड़क भूख लगने पर मनुष्य समस्त कार्यो को छोड़कर भोजन करना ही कर्तव्य है ऐसा मानकर भोजन ग्रहण करना चाहिए। इस कारण श्री भगवान के युक्त आहार का एक अर्थ समय से भोजन करना है।

(ग) युक्त आहार का अर्थ सात्विक भोजन :–

भोजन के तीन प्रकार का वर्णन शास्त्रों में आता है। जिसे सात्विक, राजस, तामस भोजन कहा जाता है। सात्विक भोजन से आयु, बल, आरोग्यता, सुख, प्रसन्नता और सत्वगुण की वृद्धि होती है तथा सात्विक भोजन स्थित रहने वाले, हृदय को शक्ति देने वाले रसयुक्त और चिकने होते हैं। राजसी भोजन अति कडुवा, खट्टा, अधिक नमकीन, गरम, अत्यधिक रूखा, तथा दाह कारक होता है इसके सेवन से दुख तथा शोक और रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। तामसी भोजन दुर्गन्धयुक्त सड़ा, जूठा, और अपवित्र होता है जो अज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता है। युक्त आहार का अभिप्राय सात्विक भोजन से है। ध्यान योग के साधक को सात्विक भोजन के ग्रहण करने से ध्यान में सहायता प्राप्त होती है।

इन सब तथ्यों के अतिरिक्त भोजन को मौसम के अनुकूल ग्रहण करना चाहिए। जैसे सर्दी में गरम पदार्थो तथा गर्मी में ठंडे पदार्थो को ग्रहण करना युक्ता आहार है।

सर्दी में यदि ठंडे पदार्थ ग्रहण किये जाते है तो वह खांसी और कफ आदि का कारण होते है इस कारण युक्त आहार का व्यापक अर्थ है युक्त आहार का आधार है जिससे ध्यान योग में सहायता प्राप्त होती है तथा ध्यान योग की शीघ्र ही सिद्धि हो जाती है। हमारे भोजन पर ही हमारे शरीर के बाह्यकरण और अन्तःकरण की क्रियाएं आधारित होती है। इस तथ्य को हमें स्पष्ट रूप से समझना चाहिए।

4– अधिक सोने वाले का योग सिद्ध नहीं होता– (न चाति स्वप्नशीलस्य) :–

श्री भगवान ने कहा कि अधिक सोने वाले साधक को भी ध्यान योग की सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। जब साधक आवश्यकता से अधिक सोता है तो वह समय से न जागने के कारण योग साधना में प्रवृत्त नहीं हो पाता है। योग साधना के लिए साधक को नियमित रहकर योग का अभ्यास करना पड़ता है। निद्रा का अधिक आना भी ध्यान योग में बाधक है। साधरणतयः निद्रा दो प्रकार की होती है।

(क) नियमित निद्रा :– मुनष्य दिन भर कार्य करता है और रात्रि आते आते थक जाता है। रात्रि के आरम्भ काल में उसे आराम की आवश्यकता प्रतीत होती है। भोजन ग्रहण करने के पश्चात् उसे स्वतः और स्वाभाविक रूप से निद्रा आने लगती है। यह शरीर के थकावट का परिणाम है। जागृत अवस्था में मनुष्य सत्व गुण से प्रभावित रहता है और सायंकाल होते होते रजोगुण से प्रभावित हो जाता है। तब उसे विश्राम की आवश्यकता का आभास होता है और उसकी बुद्धि भी धीरे–धीरे उचित अर्थो का विनिश्चय करना समाप्त कर देती है। धीरे–धीरे तमोगुण का प्रभाव पड़ता है और तमो गुण की अधिकता से मनुष्य को स्वाभाविक रूप से निद्रा आने लगती है। यह नियमित निद्रा है जो प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य आती है। निद्राकाल में शरीर की थकावट समाप्त होती है और कार्य करने के लिए पुनः ऊर्जा प्राप्त हो जाती है। नियमित निद्रा को स्वाभाविक निद्रा भी कहते है। यह योग साधना में सहायक होती है।

(ख) अनियमित निद्रा :– तामसी गुणों के प्रभाव से मात्रा से अधिक भोजन करन लेने पर, नशीले पदार्थो के सेवन से, मादक द्रव्यों को ग्रहण करने से, अत्यधिक भोगों में लिप्त रहने से, अनावश्यक श्रम करने से जो निद्रा उस समय आती है तथा शरीर को आलस्य के प्रभाव में डुबो देती है वह निद्रा अनियमित निद्रा कही जाती है। शरीर पर तामसी पदार्थो के सेवन से तामसी कार्यो के सम्पादन से तामसी वृत्तियां उत्पन्न हो जाती है जिससे शरीर स्वतः तामसी गुणों के प्रभाव से प्रभावित हो जाता है। जिसके

कारण अनियमित निद्रा आती है। परिमित भोजन से अधिक भोजन कर लिया जाए अथवा स्वादिष्ट होने के कारण उसकी मात्रा पर हम ध्यान न देकर अत्यधिक मात्रा में भोजन ग्रहण कर ले तो भी यह अधिक निद्रा का हेतु हो जाता है। नशीले और मादक पदार्थो के सेवन से निद्रा का आना स्वाभाविक होता है क्योंकि इन पदार्थो का सीधा प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है। इन्द्रिय जन्य भोगों की अधिकता के कारण शरीर में शक्ति का क्षय हो जाता है जिससे भी शरीर विश्राम चाहता है। जो मनुष्य अनावश्यक अर्थात् न किये जाने वाले श्रम करता है वह भी अनियमित निद्रा के प्रभाव में स्वतः आ जाता है। इस प्रकार अनियमित निद्रा ध्यान योग की साधना में बाधक होती है।

5– अधिक जागने वाले का योग सिद्ध नहीं होता (न अति जाग्रतः) :–

जो ध्यानयोगी अत्यधिक जागता है उसका भी ध्यान योग सिद्ध नहीं होता है। नियमित निद्रा आती है तो नियमित जागरण भी होना चाहिए। जब अनियमित निद्रा आती है तो जागरण अनियमित हो जाता है। मध्यान्ह में, सायंकाल अधिक सोने से रात्रि में निद्रा का काम आना स्वाभाविक है। इस कारण ही नियमित निद्रा का प्राविधान किया गया है। मनुष्य को अधिक जागने के कई कारण है जैसे जब मनुष्य अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाएं कर लेता है तब उन कामनाओं की पूर्ति के प्रयास में अधिक जागता है। यह प्रयास पृथक्–पृथक् कामनाओं को अनुसार पृथक्–पृथक् होता है। जैसे हम सांसारिक वस्तुओं की कामना करते है तो उनकी प्राप्ति के प्रयास में भी हम जागते है। धन की कामना करने पर धन की प्राप्ति के प्रयास में जागना पड़ता है। इसके अतिरिक्त समस्याओं से गिरा हुआ व्यक्ति भी जागता है क्योंकि उन समस्याओं के चिंतन के कारण निद्रा नहीं आती है। वह समस्याओं के विषय में, उनके निराकरण के बारे में विचार करता रहता है। निद्रा समय से न आने के अन्य कारण भी है। परन्तु अधिक जागना ध्यान योग की साधना में बाधक है।

6–उचित रूप से सोने जागने वाले का योग सिद्ध होता है–

(युक्तस्वप्नावबोधस्य) :–

जो ध्यान योग का साधक उचित रूप से सोता है और उचित रूप से जागता है उसका ध्यान योग सिद्ध हो जाता है। ध्यान योग की साधना के लिए मनुष्य का शारीरिक रूप से स्वस्थ रहना अत्यावश्यक है। मनुष्य शारीरिक रूप से तभी स्वस्थ रह

सकता है जब वह समय से निद्रा ग्रहण करे और समय से सो जाए। सोने के काल का निर्धारण आयु, अवस्था, काल अर्थात् सर्दी गर्मी आदि के अनुसार भी होता है। प्रातः ब्रह्म मुहुर्त में अर्थात् चार बजे जागना अति उत्तम है। जाड़े के दिनों में पांच बजे प्रातः भी जागा जा सकता है। रात्रि में नौ से दस बजे तक सोने का प्रयास करना चाहिए ताकि प्रातः जागरण में निश्चितता रहे। निद्रा काल का निर्धारण अवस्था अर्थात् युवा, प्रौढ़ा और वृद्धावस्था के आधार पर होती है। एक युवा व्यक्ति कम सोकर भी स्वस्थ रह सकता है और ठीक से कार्य कर सकता है परन्तु एक वृद्ध मनुष्य के लिए अर्थात् साठ वर्ष की आयु के पश्चात आठ घंटे की निद्रा आवश्यक होती है। इसमें योगी के लिए किसी विशिष्ट समय का प्राविधान नहीं है।

ध्यान योग का साधक जब ध्यान में आरूढ होता है तब उसका शारीरिक रूप से स्वस्थ रहना आवश्यक है। निद्रा के अधिक सेवन से उसके कारण से ध्यान की क्रिया में बाधा पहुंचती है। जैसे निद्रा की अधिकता तमोगुण के कारण होती है इसी प्रकार जब साधक अत्यधिक जागता है तो भी उसके शरीर में आलस्य के कारण ध्यान की क्रिया में बाधा आती है। इसी प्रकार जो साधक अधिकता से सोता है और अधिकता से जागता है उसका भी ध्यान योग में सिद्ध होना कठिन रहता है। इस कारण श्री भगवान ने युक्त सोने जागने का प्राविधान किया है तथा समय से सोने और जागने के लिए कहा है। ध्यान की सिद्धि क्रियात्मक है तथा इसमें शरीर को स्वस्थ रखना पड़ता है जो साधक ध्यान योग से परमात्मा की अनुभूति करना चाहते हैं वह शारीरिक स्वस्थता का अर्थ भली प्रकार समझते है और शारीरिक रूप से स्वस्थ रहने का प्रयास करते हैं। नियमित सोना, नियमित जगना तथा युक्त आहार लेना यह ध्यान योग की पहली प्राथमिकता होती है। ध्यान साधन के लिए समय अर्थात् काल का निर्धारण नहीं किया जा सकता। जितना अधिक काल तक सेवन हो उतनी शीघ्र ही लक्ष्य की उपलब्धि हो जाती है।

7– युक्त विहार क्या है– (युक्तविहारस्य) :–

श्री भगवान ने युक्त आहार के साथ युक्त विहार का जो निर्देश दिया है उसका भी बड़ा व्यापक अर्थ है हम यदि युक्त आहार नहीं करते है और राजसी और तामसी भोजन करते है तो उसका शरीर पर बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ता है। राजसी भोजन से राजसी वृत्तियां उत्पन्न हो जाती है और तामसी भोजन से तामसी वृत्तियां स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। यह राजसी और तामसी वृत्तियां मनुष्य को राजसी और तामसी

कर्मो में लगाये रखती है। जिससे मनुष्य का आचरण और व्यवहार ही परिवर्तित हो जाता है। राजसी भोजन करने वाला मनुष्य राजसी वृत्तियों से प्रभावित रहता है और उन्हीं वृत्तियों के अनुसार कार्य करता है तथा तामसी मनुष्य तामसी वृत्तियों के अनुसार कार्य करता है और वह अयुक्त रहता है। सात्विक भोजन करने से से सात्विक वृत्तियां स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है और मनुष्य सात्विक आचरण स्वयं ही करने लगता है यह युक्त विहार है इन दोनों वृत्तियों के पुरूषों के आचरण का पृथक्–पृथक् अवलोकन कीजिए।

(क) सात्विक पुरूष कैसे विहार करता है– एक सात्विक पुरूष की अंतःकरण में सात्विक वृत्तियां होती है और वह स्वतः ही युक्त विहार करता है। प्रतिदिन व्यवहार, परिवार, समाज, सम्पर्कित लोगों से युक्त आचरण करता है। यह युक्त विहार है। सात्विक मनुष्य यह जानता है कि किस स्थान पर जाना है ? किन लोगों के सम्पर्क में रहना है ? और कैसा व्यवहार करना है ? सात्विक गुणों से प्रभावित मनुष्य तीर्थ दर्शन, पवित्र नदियों में स्नान, विभिन्न मंदिरों की पूजा अर्चना आदि स्वतः ही करेगा तथा सत्संग करने, नैतिक उत्थान के लिए सत्संग के कार्यक्रमों का आयोजन करने का प्रयास स्वतः ही करता है। तीर्थ स्थलों के भ्रमण से मनुष्य में परमात्मा के प्रति श्रद्धा आस्था की वृद्धि होती है तथा अन्तःकरण भी पवित्र हो जाता है। तीर्थ स्थानों में धार्मिक भावना से प्रभावित लोगों का जमावड़ा रहता है, जिससे स्वतः ही अन्तःकरण में धार्मिक भावनाएं बढ़ती जाती है। पवित्र नदियों में स्नान के फलों के पूर्ण लाभ का शास्त्रों में विषद वर्णन है। पवित्र नदियों में स्नान से मनुष्य अनेक पापों से स्वतः ही उन्मोचित हो जाता है।

सात्विक पुरूष नदियों में स्नान का प्रयास करेगा। हमारे देश में अनेक स्थानों में विभिन्न देवी देवताओं के विभिन्न पवित्र मंदिर है। जहां पर यजन पूजन से ऊर्जा प्राप्त होती है। सात्विक रूप से प्रभावित मनुष्य स्वतः ही देवी देवताओं के मंदिरों की ओर आकर्षित होता है। मनुष्य को दो प्रकार से ही आचरण का ज्ञान होता है। एक शास्त्रों के नियमित अध्ययन से तथा दूसरे सत्संग से। शास्त्राध्यन मनुष्य स्वयं अकेले ही कर सकता है पर सत्संग अधिकांशतः सामूहिक होते है। सत्संग की विशेषता है कि जो महानुभाव शास्त्र के ज्ञान में पारंगत होते है उनके अनुभव का, ज्ञान का लाभ हमें प्राप्त होता है। सत्संग से अनेक प्रकार के दुर्गुण स्वतः ही समाप्त हो जाते है। क्योंकि श्रेष्ठ वक्ता के वचनों का प्रभाव श्रोता पर रहता है। इसी प्रकार सात्विक गुण प्रधान पुरूष सत्संगों के आयोजन का प्रबन्ध करने का प्रयास करते है। यह सबका सब युक्त विहार

है। सात्विक आहार से सात्विक गुणों तथा सात्विक बुद्धि का विकास होता है तथा उसके आधार पर मनुष्य शुभ आचरण करता है इसी को युक्त विहार कहा जाता है।

(ख) राजसी और तामसी पुरूष अयुक्त विहार और अयुक्त चेष्टा कैसे करता है? :–

राजसी और तामसी पुरूषों में पृथक्–पृथक् गुणों का समावेश रहता है और पृथक्–पृथक् गुणों के समावेश के कारण गुणों के आधार पर अयुक्त विहार चलता करता है तथा अयुक्तचेष्टा भी रहती है। राजसी गुणों तथा तामसी गुणों के कारण होने वाली अयुक्तचेष्टा का अवलोकन कीजिए–

1– लोभ के कारण अयुक्तविहार एवं चेष्टा : राजसी गुणों से प्रभावित मनुष्य सांसारिक पदार्थो के प्रति लालच का भाव रखता है। इस कारण वह सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति हेतु प्रयास करता है। यह उसकी अयुक्त चेष्टा है और जो प्रयास की क्रिया है वह अयुक्त विहार है। चेष्टा में प्रयास में सक्रियता आ जाती है जिससे प्रयास में भी क्रियाशीलता रहती है। हम सांसारिक वस्तुओं के प्रति लालच का भाव रखते हैं। लालच करते हैं यह भावना सांसारिक वस्तुओं में आकर्षण हो जाने के कारण उत्पन्न होती है। सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण होगा तो उनकी प्राप्ति की इच्छा होगी। यही लालच है और यही लोभ का स्वरूप है। लोभ की उत्पत्ति के पश्चात् मनुष्य में लोभ की प्राप्ति हेतु प्रयास आरम्भ होता है और वह व्यवहार में प्रतीत होता हैं। यही विहार कहा जाता है और जब प्रयास सक्रिय होता है तो वह चेष्टा में परिवर्तित हो जाता है। लोभ का विचार तथा उसके आचरण का संकल्प तथा अक्रिय प्रयत्नशीलता तो अयुक्त विहार है और लोभ पूर्ति हेतु सक्रिय कार्य अयुक्त चेष्टा है।

2– सांसारिक कामनाओं के कारण अयुक्त विहार एवं चेष्टा : मनुष्य में असंख्य कामनाएं रहती हैं और वह कामनाओं के कारण ही अयुक्त विहार करता है। कामनाऐं मन में उत्पन्न होती है। मन में उत्पन्न कामनाओं की उत्पत्ति हेतु मन में प्रयास करता है। इस प्रयास में जो क्रिया होती है उसमें अधिकांश अयुक्त विहार तथा अयुक्त चेष्टा के रूप में प्रकट हो जाती है। श्री भगवान ने गीता जी में कई स्थानों पर कामनाओं के सम्पूर्णता से त्यागने की बात कही है। गीता अध्याय दो श्लोक सं0 55 और 71। इस कारण श्री भगवान के इस कथन से स्पष्ट है कि समस्त प्रकार की कामनाओं का त्याग हमें करना है। इसमें शास्त्र और अशास्त्र संगत कामनाओं का तथ्य ही नहीं है। कोई भी

कामना हो तो मनुष्य के पतन का, साधन के अवसाद का कारण होती है और विशेष कर किसी के लिए अयुक्त चेष्टा और विहार होता है।

सात्विक मनुष्य, राजसी मनुष्य तथा तामसी मनुष्य में कामनाओं के गुण के प्रभाव से अन्तर रहता है। एक सात्विक मनुष्य ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, सम्मान की कामनाऐं करता है। राजसी मनुष्य धन, सम्पत्ति की कामना करता है तथा तामसी मनुष्य हिंसा आदि कर्मो में सुख पाने की कामना करता है। कामना में तो सभी में रहती है परन्तु उसमें पृथक्–पृथक् रूप में उदय हुए गुण ही कारण हो जाते है। सात्विक पुरूष शुभ कर्मो से सांसारिक कामनाओं की पूर्ति चाहता है और उसके लिए चेष्टा करता है। राजसी मनुष्य कर्मासक्ति से कर्मो द्वारा कामनाओं की पूर्ति की चेष्टा करता है तथा तामसी मनुष्य हिंसा आदि कर्मो से लूटमार से धन प्राप्ति की चेष्टा करता है। कामनाएं सभी में रहती है, परन्तु कामनाओं के प्रकाट्य तथा प्राप्ति की चेष्टा में अन्तर हो जाता है तथा अयुक्त विहार एवं युक्त चेष्टा के उदाहरणों का अवलोकन कीजिए।

युक्त विहार	अयुक्त विहार
1– मौसम के अनुकूल आचरण करना, मौसम के अनुसार भोजन, खान–पान, रहन–सहन करना।	1– मौसम के प्रतिकूल आचरण अयुक्त विहार है। जैसे सर्दी गर्मी में अनावश्यक रूप से घूमना।
2– माता–पिता, गुरू–आचार्य की यथा योग्य सेवा करना और उनके आदेशों का पालन करना।	2– माता–पिता, गुरू–आचार्य का सम्मान न करना और उनके बताये गए मार्ग का अनुसरण न करना।
3– मित्रों से, सम्बंधियों से उनके अनुकूल व्यवहार करना तथा यथा योग्य सम्मान करना।	3– मित्रों, सम्बंधियों से अनुचित व्यवहार करना तथा अपने पद की गरिमा के प्रतिकूल आचरण करना।
4– समाज में नैतिक आचरण करना तथा ऐसा आचरण करना जिससे समाज में नैतिकता का विकास हो।	4– समाज में अनैतिक आचरण करना जिससे समाज की मर्यादा भंग हो तथा अव्यवस्था फैले।
5– नशे का सेवन, मदिरा आदि का सेवन न करके समाज में उसका प्रदर्शन न करना जिससे समाज पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।	5– नशीली वस्तुओं का सेवन करना तथा नशे की हालत में अनुचित व्यवहार का प्रयास करना।

6– इंद्रियों, मन, बुद्धि को संयमित करने का प्रयास करना तथा उसके संयमन हेतु लोगों को प्रेरित करना।	6– इंद्रियों तथा मनबुद्धि को ससंयमित रखना तथा नाना प्रकार की सांसारिक चेष्टाओं और भोगों में उन्हें रखना।
7– सांसारिक कामनाओं के त्याग बुद्धि को स्थित करने का प्रयास करना और स्वयं से स्वयं में संतुष्ट रहना।	7– नित नवीन सांसारिक कामनाएं करना जिससे बुद्धि अस्थिर रहे।
8– अहंकार के प्रभाव को समझ कर उससे निवृत्त रहने का प्रयास करना। मानसिक, वाचिक और कायिक अहंकार को समझ कर इसकी प्रबलता का अनुभव करके उससे निवृत्त होने का प्रयास करना।	8– अहंकार के प्रभाव को न समझना और उसी के अधीन रहकर नाना प्रकार के कर्म करना। मानसिक अहंकार के प्रभाव को वाणी और शरीर में व्यक्त करना।
9– स्व्स्वरूप में स्थित होने हेतु प्रयत्नशील रहना और इसके लिए तत्त्वदर्शी पुरूषों और श्री भगवान की शरण ग्रहण करना।	9– संसार के स्वरूप में रहने का प्रयास करना तथा संसार में अनैतिक कार्यो में संलग्न रहना।
10– जीवन के उद्देश्य को मुक्ति मानकर उसकी प्राप्ति हेतु प्रयास करना।	10– जीवन के उद्देश्य को संसार की प्राप्ति मानकर उसके लिए प्रयत्नशील रहना।
11– सदैव सभी कालों में श्री भगवान की शरण ग्रहण करने की चेष्टा करना।	11– सभी समय संसार के बारे में चिंतन करना।

युक्त चेष्टा	**अयुक्त चेष्टा**
1– सभी लोगों की यथा संभव सहायता का प्रयास करना।	1– किसी व्यक्ति विशेष, समुदाय को उत्पीड़ित करने का प्रयास करना।
2– कर्तव्य कर्म के आचरण से, श्रम से उपार्जित धन को समाज के नैतिक उत्थान हेतु व्यय करना।	2– स्वेच्छाचारिता से उपार्जित धन का संग्रह का प्रयास करना तथा उसे स्वयं और सम्पर्कित लोगों पर अनावश्यक व्यय करना।

3– वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करना तथा उसके लिए सक्रियता से कार्य करना।	3– अनेक भ्रमपूर्ण साहित्य का अर्जन करना तथा पाखंडपूर्ण आचरण से अपने को और अन्य लोगों को भ्रमित करना।
4– किसी से ईर्ष्या, द्वेष न करना, सभी से स्नेह करना तथा ईर्ष्या, द्वेष के आधार पर किसी को उत्पीड़ित करने का प्रयास न करना।	4– ईष्या और द्वेष करना तथा ईर्ष्या, द्वेष के आधार पर व्यवहार करके दूसरों को हानि लाभ पहुंचाने की चेष्टा करना।
5– यज्ञादिक कर्मो का, सत्संग आदि का आयोजन करना जिससे समाज में नैतिकता का उत्थान हो।	5– शुभ कर्मो के अनुष्ठान में विघ्न उत्पन्न करना तथा उनको आयोजित करने में बाधा पहुंचाना।
6– मनुष्यों को नैतिक उत्थान के कर्म करने हेतु प्रेरित करना और इसके लिए धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादन का प्रयास करना।	6– मनुष्यों को सांसारिक भोगों की ओर प्रवृत्त करने का प्रयास करना तथा इसके लिए भोगवादी गायन और नृत्यादि कार्यक्रमों का आयोजन करना।
7– सभी के लिए शिक्षा चिकित्सा, आदि क्षेत्रों में निस्वार्थ भाव से सहायता करना तथा उसके विकास हेतु कर्म करने को उद्धत रहना आदि।	7– चिकित्सा तथा शिक्षा को व्यवसाय समझकर उससे धन के उपार्जन का प्रयास करना तथा उपार्जित धन को स्वयं के भोगों पर खर्च करना।
8– मनुष्यों के शोषण का प्रयास न करना तथा अपनी शक्ति को लोगों के हितार्थ लगाना।	8– समाज में लोगों के शोषण का प्रयास करना तथा अपनी शक्ति, पद, प्रतिष्ठा, धन, ऐश्वर्य आदि का दुरूपयोग करना।
9– पशु–पक्षियों को प्रताड़ित न करना तथा जीव हत्या का प्रयास न करना। जहां ऐसा हो उसे रोकने का प्रयत्न करना।	9– पशु–पक्षियों को प्रताड़ित करना। उन्हें अन्न जल आदि न देना तथा उनकी हत्या करके उनके मांस का उपयोग करना।
10– इंद्रियों तथा मन बुद्धि को असामाजिक तथा अनैतिक कर्मो से हटाना तथा उन्हें नैतिक और संवैधानिक कर्मो में संलग्न करना।	10– इंद्रियों तथा मनबुद्धि को अनैतिक तथा सामाजिक कर्मो में लगाना तथा अनैतिक और असंवैधानिक कर्मो का सम्पादन करना।

ध्यान योगी तथा उसके चित्त की पूर्णतः की परख

मूल श्लोक – 18

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।

पदच्छेद–

यदा, विनियतम्, चित्तम्, आत्मनि, एवं, अवतिष्ठते,
निःस्पृहः, सर्वकामेभ्यः युक्तः इति, उच्यते, तदा।।

मूल श्लोक – 19

यथा दीपो निवातस्थो नेगंते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।

पदच्छेद–

यथा, दीपः, निवातस्थः, न, इगंते, सा, उपमा, स्मृता,।
योगिनः, यतचित्तस्य, युञ्जतः, योगम्, आत्मनः।।

भावार्थ : जब अच्छी प्रकार नियतचित्त स्वयं के स्वरूप में ही अच्छी तरह से स्थित हो जाता है तथा समस्त कामनाओं से निःस्पृह होता है, तब युक्त ऐसा कहा जाता है। जिस प्रकार निवात स्थान में दीपक की लौ चलायमान नहीं होती (स्थिर रहती है) ध्यान योग में लगा हुआ नियंत्रित चित्त वाले ध्यान योगी के चित्त की वैसी ही तुलना की जाती है।

व्याख्या : श्री भगवान ने नियत अर्थात् अच्छी प्रकार से नियत चित्त तथा उसके स्वस्वरूप में स्थिति का वर्णन किया है। समस्त प्रकार की कामनाओं से स्पृहारहित होने पर ध्यानयोगी की परिपक्वता का वर्णन 18वें श्लोक में व्याख्यापित किया है तदोपरान्त निवात रहित स्थान में दीपक की लौ की जैसी अचलायमान स्थित होती है। वैसी ही स्थिति ध्यानयोगी की जीते हुए चित्त की हो जाती है। अर्थात् वह भी किसी प्रकार से

चेष्टा नहीं करता और हलचल का पूर्ण रूपेण त्याग कर देता है। इस प्रकार वे नियत चित्त का तथ्य कहा गया है जबकि पूर्व में 15वें श्लोक में नियत चित्त का तथ्य कहा गया है। जबकि पूर्व में 15वें श्लोक में नियत मानसः कहकर नियत मन का तथ्य कहा था। जिसका पूर्व में वर्णन हो चुका है।

यहां पर श्री भगवान ने विनियत चित्त का वर्णन किया है। विनियत चित्त समस्त कामनाओं से स्पृहा रहित हो जाता है तथा उसकी अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। स्वस्वरूप में स्थित साधक को ध्यान योगी कहा जाता है। इस प्रकार पहले विनियत चित्त तथा उसकी समस्त कामनाओं से स्पृहारहित रूप होने और उसकी स्वस्वरूप में स्थिति क्या है? इसका अवलोकन कीजिए।

1– विनियत चित्त क्या है – (यदा विनियतं चित्तम्) :–

पूर्व में भी यह कहा जा चुका है कि चित्त की वृत्ति अर्थात् कार्य चिंतन है। चित्त और मन में क्या अन्तर है यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। मन की वृत्ति संकल्प है। संकल्प का अर्थ है साधरणतया विचार करना होता है। चित्त और मन की वृत्तियों में अंतर होने से इनमें अंतर रहता है। दोनों के पृथक्–पृथक् कार्य है। बहुत से मनीषी चित्त और मन को एक ही मानते है। परन्तु मन का कार्य सांसारिक विषयों और क्रियाओं का विचारण करना है और चित्त का कार्य चिंतन करना है विचार करने में तथा चिंतन करने में अर्थात् उनकी क्रियाओं में अन्तर है। विचार तथा चिंतन को एक नहीं माना जा सकता है। इस कारण मन और चित्त पृथक्–पृथक् है। एक ही तत्त्व विचार करता है और वह चिंतन भी करता है। किसी की दृष्टि से मन और चित्त पृथक्–पृथक् हैं इस कारण इस तथ्य को हमें स्वीकार करना चाहिए। चूंकि श्री भगवान ने अपरा प्रकृति के वर्णन में मन बुद्धि और अहंकार तीन तत्वों का वर्णन किया है। इस कारण मन रूपी तत्व विचार करता है और चित्त के रूप में चितन भी करता है। चित्त का अस्तित्व न होता तो भगवान ध्यान योग के प्रकरण में चित्त का वर्णन न करते। इस श्लोक में चित्त पद का वर्णन है। इस कारण चित्त का अस्तित्त्व है वह भी मन से पृथक् है। क्रिया में पृथकता है परन्तु तत्त्व एक ही है। मन भी विचारण की क्रिया में संलग्न होता है और चित्त बनकर चिंतन भी कर लेता है।

चित्त के विषय में उसकी क्रिया के बारे में कुछ वर्णन पूर्व में हुआ था। चित्त जब तक संसार के विषयों का चिंतन करता है तब तक वह नियत नहीं होता। अनियत

रहता है। संसार के जितने भी विषय हैं वे सबके सब चित्त के द्वारा चिंतन किये जा सकते हैं। हम सभी चाहें किसी भी क्षेत्र में हों, देश में हो सांसारिक विषयों का चिंतन अवश्य करते है। सांसारिक विषयों के चिंतन तथा प्रक्रिया को वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है। असंख्य विषय और असंख्य ज्ञान है। इस कारण वे असंख्य प्रकार से चिंतन में लाये जाते है। हमारे समक्ष विभिन्न प्रकार के विषय, खोज, विचार, साहित्य, दर्शन, विज्ञान की पुस्तकें उपलब्ध है वे सबकी सब चित्त के चिंतन का ही परिणाम है। कोई चिंतक अपने विषय पर चिंतन करता है और वह उस बारे में कुछ नये विचार प्रस्तुत कर देता है जैसे आप ने समाचार पत्रों में विभिन्न स्तम्भकारों के विभिन्न विषयों के विचार पढ़े होंगे तथा अर्थ, समाज, न्याय, विज्ञान, राजनीति, विदेश, धर्म, अध्यात्म के बारे में लेखों का अध्ययन किया होगा।

अनेक साहित्यकार, स्तम्भकार अपने अपने प्रकार की शैली का प्रयोग करते हैं। कोई रचनात्मक शैली अपनाता है और कोई समालोचना करता है। कोई विभिन्न प्रकार के आंकड़े प्रस्तुत कर अपने लेख को रोचक बनाता है तथा कोई राजनीति की समीक्षा करता है। इस प्रकार विषयों और विचारों की असंख्यता है। लेखों के विषयों की अनगिनत श्रेणियां है। यह सबका सब चित्त का ही कार्य है। मनुष्य का एक ही चित्त विभिन्न प्रकार की जानकारी को संतुलित करके लेखबद्ध करता है। यह चित्त जो कुछ भी करता है जिसका सम्बन्ध संसार से होता है। वह सबका सब अनियत चित्त है। धर्म और अध्यात्म के बारे में जो शास्त्र संगत चिंतन नहीं करता वो चित्त भी अनियत चित्त कहा जाता है। आपने धर्म और अध्यात्म अधर्म के बारे में अनेक पुस्तकें देखी होगी। जो पुस्तकें अध्यात्म के मौलिक सिद्धान्तों को विखंडित करती है तथा मनमानी व्याख्या करती है वह सबकी सब अनियत चित्त का ही परिणाम है।

जहां तक आप चिंतन करते जायेंगे सब का सब अनियत चित्त की क्रियाशीलता का आपको दर्शन होता जाएगा। एक चित्त विभिन्न प्रकार के परिणाम प्रस्तुत करता है और स्वच्छंद रूप से कार्य करता है। इसके प्रतिकूल नियत चित्त एक स्वरूप के बारे में ही चिंतन करता है जो चित्त संसार के विषयों को त्याग कर एक मात्र परमात्मा के चिंतन में रत हो जाता है वह नियत चित्त कहा जाता है। इस प्रकार संसार के विषयों का चिंतन अनियत चित्त करता है और परमात्मा का चिंतन नियत चित्त करता है।

ध्यान की साधना बढ जाने पर चित्त धीरे–धीरे अधिक काल तक परमात्मा के बारे में ही चिंतन करने लगता है। जिस प्रकार एक अनियत चित्त सम्पूर्ण समय संसार

के बारे में चिंतन करता है वैसे ही नियत चित्त परमात्मा के बारे में अधिकांश चिंतन करता है। इस नियत चित्त को ध्यान के लिए आसन पर नहीं बैठना पड़ता है। नियत चित्त चाहे जिस स्थिति में रहे वह परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव के विषय में ही चिंतन करता रहता है। उसके लिए ध्यान, साधना अर्थात् ध्यान में आसन लगाकर बैठना गौण हो जाता है उसे आवश्यकता प्रतीति नहीं होती। वह बिना आसन के ही परमात्मा के बारे में चिंतन करता है। यह नियत चित्त की विशेषतः है। नियत चित्त सभी कालों में परमात्मा के बारे में चिंतन करता है। परन्तु कभी–कभी वह संसार के बारे में भी आवश्यकतानुसार विचार कर लेता है। यदि नियत चित्त संसार के बारे में विचार करना ही समाप्त कर दे तो वह विनियत हो जाता है। विनियत चित्त की स्थिति एक मात्र परमात्मा में होती है अर्थात् वह चित्त परमात्मा में समाहित हो जाता है। परमात्मा के विषय के अतिरिक्त वह अन्य विषयों का चिंतन नहीं करता है। यही विनियत चित्त की विशेषता है।

2– विनियित चित्त की दो स्थितिया :–

विनियत चित्त की दो विशेषताएं है एक सम्पूर्ण कामनाओं से निस्पृह हो जाना और दूसरे स्वस्वरूप में स्थिति हो जाना। श्री भगवान द्वारा उक्त दोनों स्थितियों का वर्णन बहुत महत्वपूर्ण ढंग से किया गया है। इसका आप क्रमशः अवलोकन कीजिए–

(क) सम्पूर्ण कामनाओं से निस्पृह होना– (निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो) :–

संसार में हम सब रहते है तो संसार में रहने के कारण अनेक सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीती होती है। यह आवश्यकता की प्रतीति अर्थात् आभास सदैव होता रहता है। क्योंकि कुछ न कुछ प्रत्येक मनुष्य के जीवन में अप्राप्त रहता है जो प्राप्त नहीं है उसकी आवश्यकता का अनुभव ही स्पृहा कहा जाता है। अर्थात् संसार की वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीति रहना ही स्पृहा है। यहां पर श्री भगवान ने समस्त कामनाओं में स्पृहा रहित होने को कहा है। हमारी कामनाए भी सांसारिक वस्तुओं की तरह अनन्त है। जिनकी पूर्ति होना भी असंभव है। कोई न कोई कामना अपूर्ण रहती है और कामनाओं की अपूर्णतः की प्रतीति ही समस्त प्रकार की कामनाओं की स्पृहा कही जाती है। कामनाओं की स्पृहा के कारण मनुष्य अनेक प्रकार की कामनाएं करता है तथा उनकी अपूर्णतः का आभास भी करता है। यदि कामनाओं से स्पृहारहित हो जावे तो मनुष्य कामनाओं की अपूर्णता का आभास ही नहीं करेगा। वह कामनाओं को सम्पूर्णता

से प्राप्त हुआ समझेगा। सम्पूर्ण कामनाओं से निस्पृह होने के दो ही कारण है एक कामनाओं का सम्पूर्णता से परित्याग कर देना और दूसरे अपनी स्थिति में संतुष्ट रहना। इन दोनों स्थितियों का पृथक्–पृथक् अवलोकन कीजिए।

1– कामनाओं का सम्पूर्णता से त्याग :–

अन्तःकरण में कोई कामना अवशेष न रहे इस स्थिति को प्राप्त करना सहज नहीं है। क्योंकि हम कामनाओं से बाल्यावस्था से ही संलग्न रहे है। हम जिस किसी आयु संवर्ग के व्यक्ति है उस आयु में हम यह निरीक्षण करे कि हमारी कामनाए क्या है ? हम किन कामनाओं की आशा रखते है ? तथा किन कामनाओं की पूर्ति हेतु प्रयासरत हैं ? हम सासांारिक कामनाएं करते है और उनकी पूर्ति का प्रयास भी करते है। यह दो पृथक्–पृथक् तथ्य है। प्रत्येक मनुष्य वह चाहे कोई भी हो वह अपने स्तर की कामना करता है। एक ग्रामीण युवक अपने कच्चे मकान को पक्का बनाना चाहता है और एक उद्योगपति एक व्यवसाय से कई व्यवसाय करना चाहता है। एक छोटा कर्मचारी अधिकारी बनना चाहता है और एक छोटा दुकानदार बड़ा व्यवसायी बनना चाहता है। यह कामनाओं का एक उदाहरण है परन्तु कामनाऐं असंख्य है जिनके बारे में मनुष्य स्वयं भी जानता है। हम सभी कामनाओं में जीते है और कामनाओं में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते है। कामनाओं का यह अंतहीन क्रम सदैव चला करता है। हम सब नयी कामनाएं करते है और उनकी पूर्ति का प्रयास भी करते है।

चित्त नवीन कामनाओं के बारे चिंतन करता है क्योंकि उसे नवीन कामनाओं में सुख की प्राप्ति का आभास होता है। इस कारण चित्त नवीन कामनाओं को जन्म देता रहता है। संसार में जो भी वस्तुऐं है वह सबकी सब प्राप्त करने का प्रयास चित्त के चिंतन के कारण ही होता है। एक वस्तु हमें जब प्राप्त हो जाती है तो हम दूसरी की प्राप्ति की इच्छा करना ही कामना है। एक कामना की पूर्ति में जो सुख प्राप्त होता है। वह दूसरी कामनाओं के सुख के बारे में चिंतन करने को बाध्य करता है। जैसे हमें एक वस्तु प्राप्त हो जाए तो उसके आगे भी वस्तुओं में सुख का आभास प्रतीत होता है और चित्त चिंतन करता है कि अनेक कामनाएं यदि पूरित होंगी तो बहुत सा सुख प्राप्त होगा।

ध्यान योग का साधक कामनाओं पर नियंत्रण का प्रयास करता है। वह कामनाओं को धीरे–धीरे कम करता है। कामनाओं से ध्यान हटाकर अपने चित्त को परमात्मा में

स्थापित करता है। कामना के परित्याग की स्थिति प्रयास से सफल होती है। हम चाहे तो धीरे–धीरे भी कामनाओं का परित्याग कर सकते है चाहें तो दृढ संकल्प के साथ एक साथ ही सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग सकते है। जैसे एक व्यक्ति दिन में कई बार भोजन करता है। दिन भर वह कुछ न कुछ खाया करता है। यदि वह चाहे तो एक ही दिन में अपने भोजन को संतुलित कर सकता है। अथवा एक महीने में यह कार्य कर सकता है। यह स्थिति कामनाओं के त्याग की है। हम चाहे तो तत्काल ही कामनाओं से निवृत्त हो सकते है या धीरे–धीरे भी हो सकते है। परन्तु ध्यान योग की सिद्धि के लिए कामनाओं का सम्पूर्णतः से त्याग करना ही पड़ेगा। कामनाओं के सम्यक् त्याग करने पर चित्त समस्त कामनाओं से निस्पृह हो जाता है।

2– अपनी स्थिति में संतुष्ट हो जाना :–

हम कामनाएं क्यों करते है ? इसका एक ही कारण स्पष्ट होता है कि हम अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं रहते है और अपनी स्थिति को सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार की कामनाओं का आश्रय लेते रहते है। हमारे अंतःकारण में एक त्रुटिपूर्ण अवधारणा है कि हमारी स्थिति में सुधार होगा तो हमारी उन्नति प्रतीत होगी। अपनी स्थिति से संतुष्ट रहने का यह अभिप्रायः नहीं है कि हम कर्तव्य कर्म त्याग दें अथवा अपनी उन्नति का प्रयास समाप्त कर दें। अपनी उन्नति के लिए जो शास्त्र संगत प्रयास है वह तो हमें अपनी पूरी शक्ति सामर्थ्य से करने होंगे। योग का साधक सामान्य लोगों की अपेक्षा अधिक परिश्रम करता है और अपनी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु लगा रहता है इस स्थान पर इस प्रकरण में हमें यह तथ्य स्पष्ट करना है कि सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति हेतु हम जो प्रयास करते है उससे हमें सांसारिक वस्तुएं प्राप्त हो जाती उससे हमारा आध्यात्मिक विकास स्वतः ही बाधित हो जाता है। सांसारिक वस्तुओं का संयोग हमें स्वतः ही प्राप्त होता है क्योंकि वह हमारे कर्मो के परिणाम फल के स्वरूप में स्वतः हमारे समक्ष उपस्थित हो जाते हैं।

हमारी जो स्थिति है और हम जिस स्थिति में अपना जीवन यापन कर रहे हैं उस स्थिति से संतुष्ट हो जाने पर कामनाओं का त्याग हो जाता है। हम अपनी स्थिति के विकास के लिए कामनाऐं करें तो हमारी कामना के अनुकूल हमारी स्थिति में परिवर्तन नहीं होगा। वह परिवर्तन हमारे कर्मो के आधार पर स्वतः हो जाएगा। इस कारण हमें जो भोजन प्राप्त हो रहा है वह ठीक है। हमें जो वस्त्र प्राप्त हो रहे है वह

ठीक है। हम जैसी स्थिति में रह रहे है उसमें संतुष्टि का आभास करना तथा संतुष्ट रहना ही पूर्ण कामनाओं के त्याग का सहज साधन है। हम जो हैं, जैसे हैं, जैसी स्थिति में हैं, वह भगवान की कृपा से हमारे अपने कर्मो के फलस्वरूप हमें प्राप्त हुई है और वह हमारे लिए संतुष्टि का आधार है। ऐसा मानना ही कामनाओं का त्याग है। हमारे संतुष्ट हो जाने पर चित्त अन्य कामनाओं के बारे में विचार करना छोड़ देता है। जैसे हम भूखे हों और हमें पर्याप्त भोजन प्राप्त हो जावे तो हम संतुष्ट हो जाते हैं और अन्य भोजन के बारे में हम चिंतन नहीं करते है। भूखे रहने के आभास से हम भोजन के बारे में विचार किया करते है। यही स्थिति कामनाओं की है। मात्र हम अपनी स्थिति से संतुष्ट है तो कामनाओं के बारे में चिंतन नहीं करते हमारा चित्त कामनाओं के बारे में चिंतन करना छोड़ देता है और निस्पृह हो जाता है।

(ख) कामनाओं से किन वस्तुओं को प्राप्त करना चाहते है ?

हम कामनाओं से धन सम्पत्ति ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा, आदि की प्राप्ति करना चाहते है। हमारे पास भगवान का दिया हुआ जो धन उसमें संतुष्टि न रहने के कारण ही हम और अधिक धन की प्राप्ति चाहते है तथा धन प्राप्ति की कामना करते है। हमें जो सहयोग प्राप्त हुआ है जो सम्पत्ति प्राप्त हुई है उसमें संतुष्ट न होने के कारण और अधिक सम्पत्ति प्राप्त की कामना करते है। जो ऐश्वर्य प्राप्त है उसमें सब कुछ न होने पर हम और अधिक ऐश्वर्यवान होना चाहते है। इसी प्रकार पद प्रतिष्ठा से संतुष्ट न होने पर उसकी प्राप्ति का प्रयास करते है। यह सब कामनाओं की स्पृहा है। धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति की कामना करते है और उन्हें प्राप्त करना चाहते है। यह क्रम चलता रहता है। चित्त उन वस्तुओं के बारे में निरन्तर चिंतन करता है और चिंतन करने से उसकी प्राप्ति की कामना बनी रहती है। उससे सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग नहीं हो पाता है। जिन वस्तुओं का हम त्याग करना चाहते है वह सबकी सब संसारिक ही है और संसार में ही उसका अस्तित्त्व है।

हम कामनाओं के द्वारा जिन वस्तुओं को प्राप्त करना चाहते हैं उनकी प्राप्ति की कामना न करना ही विनियत चित्त का लक्षण है। विनियत चित्त कामनाओं के सम्बन्ध में तथा कामनाओं से प्राप्त वस्तुओं के सम्बन्ध में कोई चितन नहीं करता है। इस प्रकार कामनाओं के बारे में चिंतन रहित स्थिति ही विनियत चित्त की स्थिति कही जाती है। विनियत चित्त योगी की उच्च साधना की स्थिति है क्योंकि साधक लोग ही अच्छी

स्थिति तक कामनाओं के बारे में चिंतन किया करते हैं और उससे मुक्त नहीं हो पाते है, परन्तु विनियत चित्त कामना करना ही छोड़ देता है और कामनाओं के त्याग से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ जाता है।

3– अपने स्वरूप में स्थिति हो जाना (चित्तमात्ममन्येवावतिष्ठते) :–

सम्पूर्ण कामनाओं के चिंतन से निवृत्त चित्त अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। सम्पूर्ण कामनाऐं ही न रहेंगी तो स्वरूप रहेगा और जब तक कामनाएं रहेंगी तब तक स्वस्वरूप में स्थिति नहीं रहेगी। स्वरूप की स्थिति तथा कामनाओं का चिंतन एक दूसरे के प्रतिकूल स्थितियां है। एक के रहने पर दूसरे का समापन रहता है जैसे अंधेरा रहता है तो उजाला लुप्त रहता है और उजाला रहने पर अर्थात् प्रकाश हो जाने पर अंधकार स्वतः ही विलुप्त हो जाता है। क्योंकि दोनों में प्रतिकूलता है। वैसी ही प्रतिकूलता स्वस्वरूप में तथा कामनाओं में भी है। स्वस्वरूप परमात्मा की सान्निध्यता और कामनाएं संसार की सान्निध्यता है। स्वरूप क्या है ? तथा कामनाओं के त्याग से उसमें कैसे स्थिति होती है? इस तथ्य का अवलोकन कीजिए।

(क) स्वरूप क्या है :

हम जो भी है अर्थात् हमारी जो भी सांसारिक स्थिति है उसमें हम शिक्षक, दार्शनिक, चिकित्सक, न्यायेवेत्ता, अभियंता, लेखक, श्रमिक, अधिकारी, प्रशासक, मंत्री आदि जो भी है वह हम नहीं है। क्योंकि हम यदि उक्त होते तो सदैव बने रहते। उक्त पद हैं। जैसे हमसे कोई पूछता है कि आप क्या है ? हम जिस पद पर होते है यह बताते है कि हम यह है हम जब पदों से हट जाते है तो यह कहते है कि हम अधिकारी थे, प्रशासक थे आदि आदि यह उत्तर की अमुक अमुक थे स्पष्ट करता है कि हम जो थे वह आज नहीं है जैसे एक कलाकार रंग मंच पर अभिनय करता है और नाटक के पात्र के अनुसार अपनी भूमिका निभाता है और वैसा वैसा करता है जैसी पात्र की भूमिका होती है। मंच से अलग होने पर, वह पुनः अपने स्वरूप में आ जाता है। मंच पर भूमिका के निर्वहन में तो वह पात्र भूमिका करता है और मंच से हटने पर वह पुनः अपनी भूमिका में आ जाता है और अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिति हो जाता है वह जो था वैसा बन जाता है। यह परिवर्तन मंच के नीचे आने पर स्वतः हो जाता है। इसका कारण है कि वह अपने स्वरूप को भूला नहीं था। पात्र मंच तक ही अपने अभिनय को सीमित रखता है और पुनः अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

उक्त कथन से स्वरूप की स्थिति का कुछ बोध होता है। हम जो भी है वह नहीं है और जब तक हम अपने को वह मानते है अर्थात् अपनी सांसारिक स्थिति का आभास करते हैं तब तक हम अपने स्वरूप से पृथक् रहते हैं। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इसी तथ्य की प्रमुखता रहती है कि वह क्या है ? अर्थात् यदि हम शिक्षक है तो शिक्षक के भाव की प्रमुखता रहती है और यदि प्रशासक तो प्रशासक के भाव की प्रमुखता रहती है। वह एक प्रशासक की तरह से व्यवहार और आचरण करता है क्योंकि वह अपने को प्रशासक मान रहा है। एक न्यायाधीश के पद पर आसीन होकर वैसा ही आचरण करता है परन्तु वह न्यायाधीश नहीं है उसका स्वरूप न्यायाधीश का नहीं है वह बना हुआ है। वास्तव में वह कुछ और है वास्तव में उसे जो कुछ प्राप्त हो गया है उसमें उसने अपने को समझ लिया है यही त्रुटि है। यही गलती हो गयी है और हम अपने स्वरूप से विस्मृत हो गए है।

हम परमात्मा का अंश हैं। परमात्मा के अंश जीवात्मा को त्रिगुणों के कार्य रूप, सुखासक्ति, ज्ञान की आसक्ति, कर्म की आसक्ति और अज्ञान की आसक्ति ने घेर लिया है। आवृत कर लिया है। हम परमात्मा के अंश के स्वरूप को भूल गए हैं और अपने संसार के स्वरूप में आसक्त हो रहे हैं। संसार के स्वरूप ने हमारे वास्तविक स्वरूप को ढक लिया है और संसार के स्वरूप में स्थित होकर अपने मूल स्वरूप को हम विस्मृत कर चुके है यह हमारी कमी है। हमे परमात्मा के अंश को अपना स्वरूप स्वीकार करना चाहिए और उसे मानना चाहिए। जब तक हम संसार के अपने स्वरूप को मानते रहेंगे तब तक हमें उस वास्तविक स्वरूप का दर्शन नहीं होगा जिस प्रकार हम परमात्मा का अंश हैं यही हमारा स्वरूप है।

(ख) अपने स्वरूप से विस्मृति क्यों होती है ? :–

अपने स्वरूप से विस्मृति दो कारणों से होती है एक जब हम अपनी सांसारिक स्थिति को अपना स्वरूप समझ लेते है तब स्वस्वरूप की विस्मृति हो जाती है। कथन का अभिप्राय है कि एक राजा अपने को राजा मानता है और राजा की तरह ही व्यवहार करता है तथा धर्म अधर्म संगत कर्मो को करता है वह इस तथ्य को तब विस्मृत कर देता है कि हम राजा नहीं है और यह पद कुछ समय के लिए हमें प्राप्त हुआ है। सदैव रहने वाला नहीं है। राजा सदैव पद को रहने वाला मानकर चलता है। तब वह अपने स्वरूप से गिर जाता है तथा स्वरूप विस्मृत कर देता है। इस प्रकार हम जो कुछ भी है

जैसे भी हैं हम उस स्वरूप को मानकर कर्म करते है तो अपने स्वस्वरूप को विस्मृत कर देते है यह एक तथ्य है जिससे हम अपने स्वरूप से विस्मृत हो गए हैं।

अपने स्वरूप से विस्मृत होने का दूसरा कारण है सांसारिक वस्तुओं में अहंकार की उत्पत्ति हो जाना। जो हमारे पास धन है तो हमें धन का अहंकार रहता है। सम्पत्ति है तो सम्पत्ति का अहंकार रहता है। बल है तो बल का अहंकार रहता है। सामर्थ्य है तो सामर्थ्य का अहंकार रहता है। ज्ञान है तो ज्ञान का अहंकार रहता है। अच्छा पद है तो पद का अहंकार रहता है। इस प्रकार हमारे पास जो कुछ सांसारिक वस्तुएं है उनके अस्तित्त्व का अहंकार रहता है। यह अहंकार ही हमें वास्तविक स्वरूप से विस्मृत कर देता है। अहंकार एक ऐसा आवरण है जिससे मनुष्य की अपने स्वरूप से विस्मृति हो जाती है। जब तक अहंकार से निवृत्ति नहीं होती है तब तक हमें अपने स्वरूप की स्मृति नहीं होती है ?

4– विनियत चित्त की अपने स्वरूप में स्थिति कैसे होती है ?

जब चित्त सांसारिक कामनाओं के सम्बन्ध में चिंतन नहीं करता तथा अपनी सांसारिक स्थिति की वास्तविकता का विनाश कर देता है तब वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। जब तक सासांरिक कामनाओं का चिंतन रहता है तब तक चित्त की स्थिति सांसारिक वस्तुओं में रहती है। हम चित्त से ही अपनी स्थिति का अवलोकन कर लेते है। जैसे हम कहीं भी बैठे हो, घर से हजारों मील दूरी पर स्थित हो परन्तु यदि हम घर के बारे में चिंतन आरम्भ कर देंगे तो हम अपने घर में ही बैठे रहने का आभास करेंगे। हमें ऐसा आभास स्वतः ही होता है। यह चित्त की चिंतन की स्थिति के कारण ही है। वैसे ही हम जिन जिन कामनाओं के बारे में चिंतन करते है उन उन कामनाओं में अपनी स्थिति का आभास करते हैं। इस कारण जब चित्त कामनाओं का त्याग करके अपने स्वरूप के बारे में ही चिंतन करता है तब वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। उसमें सम्पूर्णता से कामनाओं का त्याग प्रमुख है। बिना कामनाओं के त्याग के अपने स्वरूप में स्थिति कदापि नहीं हो सकती है।

जब चित्त यह जान लेता है कि हमारी जो भी सांसारिक स्थिति है वह वास्तविक नहीं है काल्पनिक है तब वह अपनी स्थिति का, वास्तविकता का आभास कर लेता है। हमारी जो सांसारिक स्थिति है उसके अनुकूल हम विचार किया करते हैं। यह स्वरूप में स्थित होने की स्थिति के प्रतिकूल है जैसे हम चिकित्सक हैं तो चिकित्सक के रूप में

ही अपना व्यवहार करते हैं और अपने को चिकित्सक मानते हैं परन्तु जब चित्त यह जान जाता है कि हम चिकित्सक नहीं है तो उसका चिकित्सक के रूप में चिंतन समाप्त हो जाता है। तब वह अपने वास्तविक स्वरूप के बारे में ही चिंतन करने लगता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

सांसारिक वस्तुओं से हमे जो अहंकार उत्पन्न हो जाता है उस अहंकार के बारे में हमारा चित्त चिंतन करता है। हमारे पास धन है तो चित्त धन की बढ़ोत्तरी तथा व्यय के बारे में चिंतन करता है। हमारे पास यदि पद है तो हम पद के अधिकार और उसके उपभोग और शक्ति के बारे में चिंतन करते है। ऐश्वर्य है तो हम ऐश्वर्य के बारे में चित्त के द्वारा चिंतन करते है। ज्ञान है तो ज्ञान के बारे में चित्त चिंतन करता है और ज्ञान के अहंकार में उत्पन्न छवि से आवृत रहता है। इस प्रकार जिस प्रकार का अहंकार रहता है। चित्त उस उस प्रकार के बारे में चिंतन करता है। इससे हमारी स्वरूप में स्थिति नहीं हो पाती है। यदि हम अहंकार से निवृत हो जाए तो हमारी अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। अपने स्वरूप में स्थिति ही अहंकार से निवृत्ति की परख है। इसके अतिरिक्त अहंकार से निवृत मनुष्य में सुख दुख, मान अपमान की प्रतीति समाप्त हो जाती है। हम यदि सुख दुख का आभास करते हैं तो समझना चाहिए कि हमारा अहंकार अभी निवृत नहीं हुआ है। वैसे ही मान अपमान से हुए निवृत हुए बिना भी अहंकार से निवृत नहीं हुआ जा सकता। इस प्रकार समस्त प्रकार के अहंकार से निवृत होने पर भी चित्त अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

5– ध्यान योगी की तीन स्थितियां (युक्त इत्युच्यते तदा):–

1– विनियत चित्त **2– अपनी स्वरूप में स्थिति**

3– समस्त कामनाओं से स्पृहा रहित होना

श्री भगवान ने ध्यान योगी को युक्त पद से सम्बोधित किया है। युक्त शब्द अयुक्त का प्रतिकूल अर्थ वाला शब्द है। यहां पर युक्त का अभिप्राय ध्यान योगी से है। ध्यान योगी उस साधक को कहते हैं जिसका चित्त विनियत हो जाता है। विनियत चित्त की स्थिति का वर्णन पूर्व में हो चुका है। जो चित्त सांसारिक विषयों का चिंतन नहीं करता है वह सामान्यता विनियत कहा जाता है। ध्यान योगी विनियत चित्त वाला हो जाता है और वह सांसारिक वस्तुओं, विषयों का चिंतन नहीं करता है। यही ध्यान योगी की पूर्णतः की स्थित है।

ध्यान योगी की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। ध्यान योगी संसार के क्रियाकलापों को अपनी स्थिति को तथा अपने स्वरूप को जान जाता है उसका व्यवहार स्वस्वरूप में स्थिति वाला हो जाता है। ध्यान योगी चाहे जिस अवस्था वर्ण, आश्रम, जाति, कुल स्थिति में होकर अपने को इन सबसे विलग देखता है और समझता है। वैसे ही स्वरूप में स्थिति हो जाने के उपरान्त मनुष्य को तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है और उसका व्यवहार तथा सांसारिक आचरण तत्त्वज्ञ की भांति परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार ध्यान योगी भी अपने स्वरूप में स्थित होकर अपने वास्तविक स्वरूप का पारखी होकर संसार से मुक्त हो जाता है और उसकी स्थिति अपने स्वरूप में होती है।

साधारणतयः मनुष्य सांसारिक कामनाओं से मुक्त नहीं हो सकता है। कामनाऐं इतनी प्रबल होती है कि वह मनुष्य को अपने से निवृत नहीं होने देती है। कामनाओं का वास स्थान इन्द्रिय, मन, बुद्धि कहे जाते हैं और कामनाएं बुद्धि से भी प्रबल होती हैं। बुद्धि शरीर में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। परन्तु कामनाओं को बुद्धि से भी प्रबल माना जाता है। इस प्रकार कामनाओं की प्रबलता के कारण ही साधारण साधक इससे निवृत नहीं हो पाता है। ध्यान योगी समस्त प्रकार की सांसारिक कामनाओं से निवृत होकर पूर्णतः को प्राप्त कर लेता है। कामनाओं की आशा का ही त्याग तथा कामनाओं के प्रति स्पृहा रहित हो जाना है। इस प्रकार ध्यान योगी के प्रति श्री भगवान ने युक्त शब्द का प्रयोग किया है। जिसका स्पष्ट अर्थ है कि समस्त प्रकार की कामनाओं से स्पृहा रहित होकर अच्छी प्रकार नियत चित्त अपने स्वरूप में जब स्थित हो जाता है तब ऐसा युक्त पुरूष ध्यान योगी कहा जाता है।

6– जीते हुए चित्त की स्थिति :–

श्री भगवान ने जीते हुए चित्त की तुलना दीपक की लौ से की है। यह विशिष्ट तुलना है। जीता हुआ चित्त दीपक की उस लौ के समान होता है जो निवात अर्थात् वायु की अचलायमान स्थिति के स्थान में रहती है। वायु की गति यदि थोड़ी सी होगी तो वह लौ को चलायमान कर देगी उससे लौ हिलेगी। वायु एक दम शान्त होगी तो दीपक की लौ में चंचलता नहीं होगी। इस कारण श्री भगवान की ने दीपक की तुलना चित्त से की है। दीपक की लौ तथा चित्त की समानता का अवलोकन कीजिए।

(क) चित्त तथा दीपक की लौ की समानता :– पूर्व में भी यह कहा गया था कि चित्त की वृत्ति अर्थात् कार्य चिंतन है। चित्त जब चिंतन करता है तो उसकी गति के

अनुसार तीन स्थितियां होती है। जिसे 1– सामान्य 2– मध्यम तथा 3– तीव्र गति कहा जता है। प्रत्येक प्रकार की स्थिति में चित्त के चिंतन की गति पृथक्–पृथक् होती है। कभी वह सामान्य रूप से चिंतन करता है कभी वह मध्यम गति से चिंतन करता है कभी वह तीव्र गति से चिंतन करने लगता है। चिंतन की यह तीन गतियां स्थिति के अनुसार होती है। अर्थात् वैसी स्थिति व्यक्ति के समक्ष होती है जैसी चित्त की हो जाती है। जैसे एक वाहन स्थिति के अनुसार कभी तीव्र हो जाता है कभी मध्यम गति से चलता है और कभी सामान्य गति से चलता है वैसे ही चित्त भी तीन प्रकार से चिंतन करता है। इन तीनों स्थितियों का पृथक्–पृथक् अवलोकन कीजिए। परन्तु यह ध्यान रहे यह गतियां सांसारिक ही हैं–

1– चित्त की सामान्य गति :–

मनुष्य जब संसार में सामान्य रूप से रहता है तब वह प्रतिदिन की समस्याओं में भी सामान्य रूप से चिंतन करता रहता है। प्रतिदिन कार्यो में, समस्याओं में तथा अन्य विषयों में सामान्य चिंतन चला करता है। सांसारिक मनुष्य की अनेक समस्याऐं है और अनेक प्रकार की कामनाएं है। उन सबके बारे में मनुष्य सामान्य स्थिति में सामान्य रूप से चिंतन किया करता है कभी एक विषय पर कभी दूसरे पर कभी तीसरे विषय पर यह सब निरन्तर चला करता है। सामान्य स्थिति में सामान्य गति रहती है। इस कारण जो चिंतन होता है वह सामान्य रूप से सांसारिक विषयों के बारे में चला करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार सामान्य रूप से चित्त से कार्य लेता है।

2– चित्त की मध्यम गति :–

चित्त सांसारिक विषयों का मध्यम गति से ही चिंतन करता है। जब मनुष्य के समक्ष कुछ गहन समस्याएं परिस्थितियां उपस्थित हो जाती हैं चाहें वह अनुकूल हो अथवा सामान्य प्रतिकूल हो तो चित्त की गति सामान्य से अधिक हो जाती है। वे विषय पुनः पुनः चित्त में आते रहते हैं और चित्त का उन पर चिंतन होता रहता है। गहन समस्याओं पर मनुष्य का चित्त मध्यम गति से चिंतन करता है और अपने चिंतन के विषय को बुद्धि को स्थानान्तरित करके उससे विनिश्चय भी कराता है। यह चिंतन और विनिश्चय की क्रिया चला करती है। सामान्य से कठिन समस्याओं में मनुष्य का चित्त मध्यम गति से चिंतन करता है और सम्बंधित विषय को गंभीरता से लेता है।

3– चित्त की तीव्र गति : जब मनुष्य पर विशेष प्रतिकूल स्थितियां, समस्याएं आ जाती हैं तब उसके चित्त के चिंतन की गति में बहुत तीव्रता आ जाती है। जैसे हम पर कोई आपदा आ जाए, सांसारिक वस्तुओं के हानि संभावना प्रकट हो जाए अथवा सम्पर्कित लोगों पर संकट आ जाए अथवा अपने शरीर की क्षति की संभावना उपस्थित हो तो चित्त बहुत तीव्रता से सम्बंधित विषयों पर चिंतन करता है, जो आपदायें और प्रतिकूल परिस्थितियां आयीं उनको कैसे निराकरित किया जाए? और उनका समापन कैसे हो ? यह चिंतन बहुत तीव्रता से रहता है। समस्याएं और परिस्थितियां जितनी प्रतिकूल होगी उतनी ही तीव्रता से चित्त का चिंतन होता है।

उक्त प्रकार से चित्त के सांसारिक विषयों के चिंतन की गति का उल्लेख हुआ। ध्यान की अवस्था में चित्त अपने लक्ष्य का चिंतन करता है। सामान्य लोग ध्यान नहीं करते है। इस कारण उनका लक्ष्य के बारे में चिंतन होता ही नहीं है, जो ध्यान करते है तथा ध्यान योग के माध्यम से अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते है वे चित्त को लक्ष्य की ओर स्थापित करने का प्रयास करते है। ध्यान करने वाले साधकों की ध्यानावस्था में पृथक–पृथक स्थितियों होती है उन पृथक्–पृथक् स्थितियों का अवलोकन कीजिए।

(ख) ध्यान की स्थिति में चित्त की गतियां :–

ध्यान की स्थिति में चित्त की अनेक स्थितियां आती है जिन्हें वर्गीकृत नहीं किया जा सकता, परन्तु समझने के लिए हम चार प्रकार की स्थितियों का उल्लेख कर रहे है।

1– ध्यान की प्राथमिक स्थिति में चित्त की गति :

जब साधक ध्यान का आभास करता है तब प्राथमिक स्थिति में उसका चित्त सांसारिक विषयों का अधिक चिंतन करता है। वह प्राथमिक साधक चित्त को लक्ष्य पर निर्धारित करने, रोकने का प्रयास करता है परन्तु सांसारिक विषयों की प्रबलता के कारण उसका चित्त कुछ समय तो लक्ष्य पर रूकता है परन्तु वह पुनः सांसारिक विषयों का चिंतन करने लगता है। साधक की बुद्धि जब इस तथ्य को पकड़ लेती है अर्थात् चित्त के भागने की क्रिया को जान जाती है तब वह पुनः चित्त को पकड़ कर अपने लक्ष्य में लगाने का निर्देश देती है। चित्त पुनः अपने लक्ष्य में लगता है परन्तु कुछ क्षणों के उपरान्त वह पुनः सांसारिक विषयो का चिंतन करने हेतु संसार में भाग जाता है। यह क्रिया ध्यान काल में प्राथमिक स्तर पर चलती रहती है। चित्त को लक्ष्य पर निर्धारित

करने का प्रयास साधक करता है और सांसारिक विषय अपनी ओर बलात् खींचते है यह साधक की प्राथमिक स्थिति है। इस स्थिति की तुलना दीपक की उस लौ से करने चाहिए जो हवा के प्रवाह से बुझती नहीं परन्तु अपनी स्थिति से चलायमान रहती है। आपने ऐसी दीपक की स्थिति का अवलोकन किया होगा। हवा का प्रवाह दीपक की लौ को प्रभावित करता है और उसे अपने स्थान पर रूकने नहीं देता है। ऐसा ही चित्त ध्यान की प्राथमिक अवस्था के साधक का होता है।

2– ध्यान की मध्यम स्थिति में चित्त की गति : ध्यान का साधक जब ध्यान की क्रिया में आगे बढ़ता है और लक्ष्य पर चित्त को स्थापित करने का प्रयास करता रहता है तब चित्त कुछ समय तक रूकता है मध्यम श्रेणी के साधक को ध्यान की क्रिया में शान्ति का आभास होने लगता है। इस कारण वह अपने चित्त को लक्ष्य पर निर्धारित करना चाहता है और उसके लिए वह प्रयास भी करता है। ध्यान की क्रिया में लक्ष्य का निर्धारण अपनी श्रद्धा के अनुसार लोग करते हैं परन्तु श्री भगवान ने इसी अध्याय के 14वें श्लोक में **मच्चित्तः** पद का प्रयोग करके अपने में चित्त लगाने की स्थिति के तथ्य को स्पष्ट कहा है इस प्रकार साधक को श्री भगवान के स्वरूप में ध्यान का निर्धारण करना चाहिए।

मध्यम श्रेणी का साधक कुछ काल तक लक्ष्य में अपना ध्यान केन्द्रित कर लेता है परन्तु सांसारिक विषयों की तीव्रता के कारण मध्यम श्रेणी के साधक का चित्त संसार की ओर भागता है और कुछ समय संसार में रहता है। इस तथ्य को बुद्धि शीघ्र जान जाती है और पुनः चित्त को अपने लक्ष्य में स्थापित करती है। मध्यम श्रेणी का ध्यान योगी कुछ समय तक लक्ष्य को चित्त में स्थापित कर लेता है। यह स्थिति दीपक की उस लौ की तरह से है जो धीमी वायु के संयोग से चलायमान हो जाती है। जब वायु का वेग दीपक की लौ से टकराता है तब दीपक की लौ चलायमान होती है और पुनः अपने स्थान पर आ जाती है इस प्रकार ध्यान का मध्यम श्रेणी साधक उस समय तक लक्ष्य पर रहता है और कुछ समय तक संसार में रहता है।

3– ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति : जब ध्यान का साधक ध्यान की साधना का निरन्तर सेवन करता है तब वह उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर लेता है। उत्कृष्ट स्थिति का साधक संसार से विरक्त होने लगता है और वह पूर्णतः की ओर उन्मुख हो जाता है। संसार में रहकर संसार में आसक्त न होना तथा ध्यान की क्रिया में संलग्नता की

आन्तरिक इच्छा का जागृत हो जाना ही उत्कृष्ट साधन है। चित्त उत्कृष्ट साधना में अधिक समय तक लक्ष्य में रहता है और कभी–कभी किसी कारण से संसार की ओर घूम जाता है। अधिक समय तक चित्त का लक्ष्य पर स्थापित रहना ही ध्यान की उत्कृष्टता है। उत्कृष्ट साधक चित्त के लक्ष्य से हटने को तत्काल जान जाता है क्योंकि उसकी बुद्धि उत्कृष्ट हो जाती है। उत्कृष्ट साधक की बुद्धि की विनिश्चय शक्ति बहुत प्रबल हो जाती है इस कारण वह चित्त पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लेती है। दीपक की लौ जब शान्त वायु के संयोग में रहती है तो वह सीधी रहती है परन्तु कभी–कभी मध्य में वायु का हल्का सा झोका उस दीपक की लौ को झकझोरता है, चलायमान कर देता है। वैसी ही स्थिति उत्कृष्ट साधक के चित्त की होती है और वह चित्त पर पर्याप्त सीमा तक नियंत्रण कर लेता है।

4– ध्यान की पूर्णतः निवात स्थिति में दीपक की लौ की तरह चित्त की स्थिति : (यथा दीपो निवातस्थो नेगंते सोपमा स्मृता) : निवात स्थान वह स्थान है जहां पर वायु तो रहती है परन्तु उसमें चंचलता कदापि नहीं होती है। बिना वायु के दीपक नहीं जल सकता है। इस प्रकार निवात स्थान उस स्थान का वाचक है जहां पर वायु कोई चेष्टा नहीं करती है और उसमें कोई हलचल न होकर वह पूर्ण शान्त रहती है। आपने देखा होगा कि कभी–कभी वृक्षों की छोटी–छोटी पत्तियों में हलचल नहीं होती है। यह स्थिति उस समय होती है जब वायु का चलना नहीं होता है। वायु एकदम शान्त हो जाती है। वैसे ही दीपक यदि उस स्थान पर है जहां पर वायु में कोई गति नहीं है तब दीपक की लौ एक दम सीधी होती है। शीशे का आवरण लगाकर भी जो लालटेन आदि बनायी जाती है उसमें भी दीपक की लौ एकदम सीधी होती है।

ध्यान की पूर्णतः में चित्त एक मात्र लक्ष्य पर निर्धारित हो जाता है टिक जाता है। चित्त लक्ष्य पर रहे। निवात स्थान में दीपक की लौ की तरह से चलायमान न हो तो वह ध्यान की पूर्णता की स्थिति कही जाती है। इस स्थिति में चित्त सांसारिक विषयों में नहीं जाता है और वह एक मात्र लक्ष्य में ही बना रहता है। यह ध्यान की पूर्णता की परख है तथा विशेषता है। चित्त सांसारिक विषयों में जब नहीं जाता है तब वह लक्ष्य पर ही रूका रहता है। दीपक की लौ भी निवात स्थान में हिलती डुलती नहीं है और पूर्ण नियंत्रित चित्त भी अपने लक्ष्य से विलग नहीं होता है और वह लक्ष्य पर ही रहता है। यह ध्यान की पूर्ण परिपक्व स्थिति है। दीपक की लौ के सम्पर्क में चलायमान वायु नहीं है और चित्त के सम्पर्क में संसार का अभाव है। अर्थात् चित्त में संसार नहीं

रहता है । यह दोनों स्थितियां एकदम स्पष्ट है जब तक ध्यानयोगी साधक सांसारिक विषयों का चिंतन करता है तब तक वह ध्यान की पूर्णतः को प्राप्त नहीं कर पाता है। इस कारण ध्यान योगी को संसार से अपने को पूर्णरूपेण पृथक् करना पड़ता है।

7– ध्यान में लगा जीता हुआ चित्त :–

सुषुप्ति अवस्था में चित्त शान्त हो जाता है अर्थात् वह संसार के क्रियाकलापों में चिंतन नहीं कर सकता है। संसार के बारे में चिंतन न करने का कारण चित्त की चिंतन शक्ति अक्रिय हो जाता है। जब तक चित्त क्रियाशील रहता है तब तक वह संसार में घूमता रहता है। यह चित्त की विशेषता है। अक्रिय होने पर उसकी क्रियाशीलता, चेष्टा समाप्त हो जाती है। सुषुप्ति अवस्था अर्थात् निद्राकाल में चित्त स्वतः ही शान्त हो जाता है यह प्राकृतिक क्रिया ओर नियम है। प्रकृति ने सुषुप्ति काल की रचना की है जिसमें चित्त स्वतः ही शान्त हो जाता है। चित्त पूर्णरूपेण अक्रिय हो जाता है। यह विशिष्ट तथ्य है कि निद्रा काल में चंचल चित्त स्वतः ही शान्त हो जाता है। यदि चित्त अक्रिय न होता तो हमें उसकी क्रियाशीलता का और उसकी अक्रियाशीलता का जो अन्तर है उसका ज्ञान नहीं हो सकता था। इस कारण प्रकृति ने चित्त की अक्रियशील स्थिति का निर्माण किया है। यह तथ्य यह भी स्पष्ट करता है कि चित्त अक्रिय हो सकता है।

चित्त या तो निद्राकाल में शान्त हो जाएगा अथवा चित्त को शान्त करने में हमें पूर्ण शान्त व्यवस्था का निर्माण करना पडेगा। हमें यह स्थिति उत्पन्न करनी पड़ेगी जिसमें चित्त पूर्णरूपेण शान्त हो जाए। साधारण रूप से यह स्थिति संभव नहीं है। बहुत प्रयास के पश्चात चित्त को शान्त किया जा सकता है तथा उसे अक्रिय अवस्था में लाया जा सकता है। मनीषियों ने इसी को समाधि कहा है इसकी भी कई प्रकार और स्थितियां है। निद्रा में संसार का बोध समाप्त हो जाता है वैसे ही समाधि की अवस्था में भी संसार का बोध समाप्त हो जाता है।

निद्रा काल में चित्त स्वतः ही समाप्त हो जाता है परन्तु समाधि के लिए हमें प्रयत्नपूर्वक उसे शान्त करना पड़ता है और निद्राकाल जैसी अवस्था लानी पड़ती है। जैसे रात्रि स्वतः ही आती है परन्तु दिन में रात्रि लाने के लिए किसी स्थान विशेष में प्रकाश के आगमन को रोकना पडता है। एक विशेष स्थिति अर्थात् किसी स्थान में दिन में यदि प्रकाश को रोका जाए तो हमें रात्रि प्रतीत होती है। वास्तविक रात्रि में तथा एक कक्ष में रचना की गयी रात्रि में अंतर प्रतीत तो नहीं होता है एक जैसा ही वातावरण

रहता है। वैसे ही निद्राकाल की चित्त की अक्रिय अवस्था तथा समाधि काल की चित्त की अक्रिय अवस्था में अंतर नहीं रहता है।

परन्तु निद्राकाल में चित्त की अस्थिरता में लक्ष्य का बोध नहीं रहता है और समाधि काल में चित्त की अक्रिय अवस्था में लक्ष्य का बोध रहता है क्योंकि लक्ष्य पर ही चित्त को स्थापित करके चित्त की अक्रिय अवस्था की रचना की जाती है और क्रियाशील चित्त की सक्रियता समाप्त करके चित्त को जीता जाता है। यह स्थिति चित्त की जीती गई स्थिति है तथा इसी को जीता हुआ चित्त कहा जाता है। निवात स्थान में दीपक की लौ की तरह चित्त चलायमान नहीं रहता है।

श्री भगवान ने ध्यान योग के सेवन से चित्त की उपरामता और उससे होने वाली स्थिति का सहज वर्णन इन श्लोकों में किया है अब उससे होने वाले अनुभव की व्याख्या अग्रिम श्लोकों में कर रहे है।

ध्यान योग की पूर्ण परिपक्वता की स्थिति :–

मूल श्लोक – 20

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।

पदच्छेद –

यत्र, उपरमते, चित्तम्, निरूद्धम्, योगसेवया,।
यत्र, च, एवं आत्मना, आत्मानम्, पश्यन्, आत्मनि, तुष्यति।।

मूल श्लोक – 21

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।

पदच्छेद –

सुखम, आत्यन्तिकम्, यत्, तत, बुद्धिग्राह्यम्, अतिन्द्रियम्, ।
वेत्ति, यत्र, न, च, एवं अयम्, स्थितः, चलति, तत्त्वतः।।

मूल श्लोक – 22

यं लब्धवा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरूणापि विचाल्यते।।

पदच्छेद –

यम्, लब्धवा, च, अपरम्, लाभम्, मन्यते, न, अधिकम् ततः,।

यस्मिन्, स्थितः, न, दुःखेन, गुरूणा, अपि, विचाल्यते।।

भावार्थ : जब निरूद्ध चित्त योग के सेवन से उपराम हो जाता है तब स्वयं ही अपने को देखता हुआ स्वयं ही संतुष्ट रहता है जो सर्वोत्कृष्ट, इन्द्रियों से परे, बुद्धि के द्वारा अनुभूत सुख है उस सुख को जान जाता है तथा उसमें स्थित हो जाता है तब यह तत्त्व से चलायमान नहीं होता है। जिस लाभ के उपलब्ध होने पर उस लाभ से अधिक अन्य लाभ को नहीं मानता तथा जिसमें स्थित होकर वृहद् दुःख से विचलित नहीं होता।

व्याख्या : जब ध्यान योग का साधक ध्यान योग का निरंतर निरुद्ध चित्त से सेवन करता है, व्यवहार करता है तब उसको अपने स्वरूप का आभास होता रहता है और स्वरूप की अनुभूति से उसमें संतुष्टि रहती है, ऐसी स्थिति में वह अतीन्द्रिय, आत्मनिष्ठ तथा बुद्धि ग्राह्य सुख का आभास करता है तथा उसमें स्थित होकर फिर तत्त्व से चलायमान नहीं होता है। यह स्थिति सर्वोत्कृष्ट लाभ की स्थिति है और इस स्थिति से उसे विचलित नहीं किया जा सकता है। उपरोक्त श्लोकों में जिन तथ्यों का वर्णन किया गया है उसका मशः अवलोकन कीजिए।

1– निरूद्ध चित्त क्या है ? (चितं निरूद्धम्)– पूर्व श्लोक में जीते हुए चित्त की उपमा दीपक की लौ से की गयी है जो निवात स्थान में स्थिर रहता है। पूर्ण शांत वायु में जिस प्रकार दीपक की लौ पूर्ण शांत रहती है, हिलती, डुलती नहीं है वैसे जब चित्त जीत लिया जाता है तब वह संसारिक विषयों में नहीं जाता है। शांत चित्त को कहीं विस्थापित न किया जावे तो वो पुनः अशांत हो सकता है। इस कारण उसे लक्ष्य में स्थापित रखते हैं। चित्त का स्वभाव जल की तरह से है, जो साधारणतयः नीचे की ओर गतिशील रहता है। इसी प्रकार लक्ष्य में स्थापित रखने से वह शांत हो जाता है।

चलायमान नहीं होता है। ध्यान योगी साधक इसे लक्ष्य पर ही रखता है। संसार से हटाकर उसे जहां लगाता है वहां पर बंधन कर देता है। अर्थात् निरूद्ध कर देता है। जैसे किसी मनुष्य को एक कमरे में बंद कर दिया जावे तो यह उस मनुष्य की निरुद्धावस्था कही जाएगी। जब मनुष्य को संसार से हटाकर कमरे में निरुद्ध कर देते है तब वह उसी सीमित स्थान में अर्थात् कमरे में बंद रहता है। चित्त को भी लक्ष्य पर रोककर निरूद्ध किया जा सकता है। उसके विचारण पर अर्थात् उसकी चिंतन क्रिया को रोका जा सकता है।

निरुद्ध चित्त की स्थिति बड़ी विलक्षण है जिसकी तुलना संसारिक क्रियाओं से किया जाना संभव नहीं है। ध्यान योग साधन में चित्त को ही शांत करने की क्रिया की जाती है। यह क्रिया जब परिपक्व हो जाती है तो चित्त जीता माना जाता है। जीता हुआ चित्त शांत भाव से लक्ष्य पर अटका रहता है। शास्त्रों में समाधि अवस्था का जो वर्णन आता है उसकी स्थिति जीते हुए चित्त की क्रियान्वित स्थिति है। जहां पर चित्त निरूद्ध रहता है वह भागता नहीं है। जिस प्रकार रस्सी से बांधा हुआ पशु कहीं भाग नहीं सकता है पर हिलडुल सकता है। परंतु चित्त को यदि निरूद्ध कर दिया जावे तो वह भागने व हिलने डुलने की क्रिया से विहीन हो जाएगा। जड़ वस्तु की तरह से एक ही स्थान पर रहेगा। निरूद्ध चित्त की संपूर्ण क्रियाशीलता ही समाप्त हो जाती है वह चलायमान न होकर जड़वत हो जाता है। इस प्रकार जब चित्त समाधि अवस्था में अपने लक्ष्य पर टिक जाता है और पूर्ण एकाग्र होकर चलायमान नहीं होता है तब वह निरुद्ध कहा जाता है। निरुद्ध का शाब्दिक अर्थ बंधे रहने से है। इस कारण यह निरुद्ध की गति पूर्ण अवरूद्ध हो जाती है, और संसार के आश्रय का त्याग कर देती है।

2–निरूद्ध चित्त का योग सेवन क्या है? (योगसेवया)– संसार में रहने वाला चित्त रूग्ण समझा जाता है। रूग्ण का अर्थ बीमार होता है। अर्थात् संसार में रहने वाला चित्त बीमार ही रहता है। जैसे एक बीमार व्यक्ति को उचित इलाज, दवाईयों, भोजन आदि देकर उसे स्वस्थ किया जाता है। वैसे ही चित्त को योग साधना रूपी औषधि के सेवन से स्वस्थ किया जाता है। जितनी अधिक योग साधना की जाती है उतना अधिक चित्त स्वस्थ होता जाता है। जब तक चित्त संसारिक क्रियाओं का और क्रीड़ाओं का चिंतन करता है तब तक चित्त एकाग्र नहीं होता है। वहीं निरूद्ध रहता है जिन विषयों का चिंतन करता है। इस तथ्य को पूर्व में भी कहा जा चुका है और इसे पुनः समझना चाहिए कि चित्त दो ही वस्तुओं का सेवन करता है या तो संसारिक विषयों अथवा

उससे पृथक् होकर उपराम की स्थिति प्राप्त करता है। अर्थात् योग का सेवन करता है। संसार का सेवन करने वाले अधिकांश चित्त हैं। योग का सेवन करने वाले चित्त बहुत दुर्लभ हैं।

ध्यान के साधन में जब चित्त निरूद्ध हो जाता है तब वह पूर्ण शांत होकर संसार से पूर्ण विमुख होकर लक्ष्य पर दृष्टि रखता है। योग सेवन का तथ्य निरंतर ध्यान की स्थिति का सेवन है। निरूद्ध चित्त संसार में जाता नही ंतो वह संसार से पृथक् विषय परमात्मा का चिंतन करता है। ऐसे में उसे परमात्मा की निकटता का आभास रहता है। यहां पर एक तथ्य स्पष्ट समझना चाहिए कि चित्त संसार के चिंतन से ही विमुख होकर परमात्मा की सान्निध्यता प्राप्त कर लेता है तथा वह परमात्मा के स्वरूप, गुण, चिंतन का ध्यान करता है। यह तथ्य उस प्रकार से समझना चाहिए कि जैसे मनुष्य शरीर के पोषण के लिए या तो अन्न ग्रहण करता है अथवा फलाहारी हो जाता है। जो अन्न ग्रहण नहीं करते वे फलाहार करते हैं, अन्न को आप संसार तथा फल को आप ईश्वर मान लें। इस प्रकरण में यह बाध्यता हो जावे कि अन्न ग्रहण करने वाला फल नहीं ग्रहण कर सकेगा तथा फल नहीं ग्रहण करने वाला अन्न का सेवन नहीं कर सकेगा तो यह उदाहरण पूरी तरह से इस प्रकरण में उपयुक्त होगा। जो चित्त संसार का ग्रहण करता है वह परमात्मा की सानिध्यता का लाभ नहीं ले सकता है। जो संसार को छोड़ देता है वह परमात्मा की सानिध्यता को सहज ही ग्रहण कर लेता है। योग सेवन परमात्मा की सान्निध्यता का निरंतर आभास करना है और संसार के आभास को त्यागना है।

यहां पर एक तथ्य स्पष्ट समझना चाहिए कि चित्त को जड़ तत्त्व माना जाता है। मन का पर्याय होने के कारण यह अपरा प्रकृति का छठा तत्त्व है। पर चेतन तत्व, परा प्रकृति को माना जाता है। जड़ तत्त्व चेतन तत्त्व को ग्रहण नहीं कर सकता है। यह तथ्य निःसंदेह ही सत्य है। जब चित्त अर्थात् जड़ तत्त्व चेतन तत्त्व को ग्रहण ही नहीं करेगा तो योग सेवन का क्या अभिप्राय है? जड़ पृथक् रहेगा तथा चेतन पृथक् रहेगा। भगवान ने इसका स्पष्टीकरण चौदहवें श्लोक में मच्चितः शब्द कहकर स्पष्ट कर दिया था। मच्चितः का स्पष्ट अभिप्राय है कि संसार से चित्त को हटाकर श्रीभगवान में चित्त का पूर्ण समर्पण कर देना। संसार में चित्त के समर्पण से ही हम श्रीभगवान में चित्त नहीं लगा पाते हैं। संसार से चित्त हटेगा तो वह अंततः निरूद्ध चित्त की स्थिति प्राप्त कर लेगा और निरूद्ध चित्त श्रीभगवान में समाहित हो जाएगा। अथवा हम जब श्री

भगवान में चित्त समाहित कर देंगे तो यह योग सेवन होगा। इस कारण योग सेवन का स्पष्ट अभिप्राय श्रीभगवान में निरंतर चित्त स्थापित रखना है। श्रीभगवान में चित्त समाहित रखने की क्रिया का नाम योग सेवन है। यह क्रिया निरूद्ध चित्त ही क्रियान्वित कर सकता है।

3–योग सेवन श्रीभगवान का अनन्य चिंतन है–

वस्तुतः योग का स्पष्ट अभिप्राय है कि श्री भगवान के स्वरूप के अनन्य चिंतन को क्रियान्वित करना। श्री भगवान अनन्य चिंतन तथा नित्य स्मरण से सहज ही सुलभ हो जाते हैं। श्रीभगवान का अनन्य चिंतन ही योग का प्रतिरूप है। निरूद्ध चित्त अनन्य चिंतक है जो श्रीभगवान का अतिरिक्त कुछ अन्य चिंतन करता ही नहीं। अनन्य में श्रीभगवान हैं और अन्य में यह जगत है। हम सभी साधारण लोग अन्य का चिंतन करते हैं तथा जगत के विषयों में रहकर उसका सेवन किया करते हैं। जब ध्यान योगी अन्य से अर्थात् संसार से अपना चित्त समेट लेता है और उसे अनन्य में अर्थात् परमात्मा में स्थापित कर लेता है तब योग सेवन होता है और उस चित्त को निरूद्ध चित्त कहा जाता है।

यहां पर जड़ चेतन अर्थात् चित्त के जड़ होने और तत्त्व के चेतन होने का बंधन नहीं है। जिस प्रकार जड़ चेतन मिलकर ही शरीर में क्रियाशीलता है वैसे ही जड़ चित्त जब श्री भगवान में समाहित हो जाता है तो वह चेतन स्वरूप हो जाता है। जब हम अन्य के चिंतन का परित्याग कर देते है ंतो अनन्य का चिंतन करने लगते हैं। अनन्य के चिंतन के सहारे भी अन्य के चिंतन का त्याग हो जाता है। जैसे जल से स्नान करके अपना शरीर शुद्ध कर लेते हैं वैसे ही हम श्रीभगवान के चिंतन से अपने चित्त को संसार की गंदगी से स्वच्छ कर लेते हैं। जब तक श्री भगवान का चिंतन नहीं होता तब तक साधक स्वच्छ नहीं हो सकता है। इस कारण श्रीभगवान के चिंतन में अनन्यता लाने का प्रयास करना चाहिए। यही उत्कृष्ट योग सेवन है।

4–सर्वकालिक योग सेवन कैसे होता है? आसन पर बैठकर ध्यान योग का अभ्यास करना एक अल्पकालिक योग सेवन रूपी कर्म है। हम सब साधन करते हैं परंतु प्रत्येक समय अर्थात् जागृत अवस्था में आसन पर बैठा रहना लगभग असंभव ही है। और आज की वर्तमान परिस्थितियों में यह असंभव सा प्रतीत होता है। हम योग साधना तो कर सकते हैं परंतु वह अधिक काल किए जाने में असंगत सी लगती है। आज की

परिस्थितियों में अनेक संस्थाएं ध्यान अर्थात् मेडिटेशन के नाम पर एक आध घंटे या कुछ अधिक समय तक ध्यान पर बिठाने का काम कर रही हैं। परंतु इससे हमें अपना भ्रम दूर कर लेना चाहिए कि हमें इस प्रकार के अल्पकालिक ध्यान से पूर्णता प्राप्त होगी। कुछ समय के लिए ध्यान हमारे लिए लाभकारी हो सकता है और अनेक समस्याओं के निवारण का एक कारण भी हो सकता है। परंतु उसे योग सेवन नहीं कहा जा सकता है। यह ध्यान का एक अंश है उसे चित्त पूर्णरूपेण निरूद्ध नहीं होता है। इस कारण जो अल्पकालिक ध्यान है वह योग सेवन नहीं है। इस तथ्य को स्पष्ट रूप से समझना चाहिए।

हम सभी संसार का चिंतन करते हैं ये सर्वकालिक संसार का सेवन है। उसी चित्त को श्रीभगवान में लगा देने से श्री भगवान का सर्वकालिक चिंतन धीरे–धीरे होने लगता है। यहां पर यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि संसार का भी चिंतन हो और श्रीभगवान का भी हो तो यह सर्वकालिक चिंतन नहीं कहा जाएगा। इस प्रकार हम संसार का निरंतर चिंतन करते हैं तो यह स्थिति समाप्त होकर चिंतन की वैसी ही स्थिति श्री भगवान के लिए भी आनी चाहिए।

ध्यान योग का साधक संसार के चिंतन को समाप्त करने का उसके स्थान पर श्री भगवान के चिंतन का प्रयास करे। यह प्रयास निरंतर होना चाहिए। इससे एक ऐसी स्थिति आती है कि हम संसार के चिंतन का पूर्ण त्याग कर देते हैं और श्रीभगवान के गुण, स्वरूप, कर्म के चिंतन से अपने चित्त को समाहित कर देते हैं और एकमात्र श्री भगवान का चिंतन करने लगते हैं। संसार का चिंतन समाप्त हो और श्री भगवान का चिंतन होने लगे तो यह समझना चाहिए कि योग सेवन हो रहा है। संसार के विषय पूरी तरह से निवृत्त हो जाते हैं और श्री भगवान के विषय ही अवशेष रहते है ंतो यह योग सेवन का उत्कृष्ट स्वरूप है। यह तथ्य हमें समझना चाहिए कि जिस प्रकार श्रीभगवान के बारे में चिंतन कर रहे हैं वैसा ही संसार के बारे में करते थे। इस प्रकार के चिंतन में कोई बाधा नहीं है तथा समय का कोई बंधन नहीं है। स्थान, वातावरण, परिस्थितियां आदि की कोई बाध्यता नहीं है। हम जहां भी रहे, जैसे भी रहें श्री भगवान के चिंतन में अनन्यता लानी चाहिए। यह अनन्यता ही योग सेवन का सही स्वरूप है। इससे चित्त भी श्री भगवान के नित्य स्वरूप में निरूद्ध हो जाता है।

5– निरूद्ध चित्त का उपराम होना क्या है? (उपराम योगसेवयः)

श्रीभगवान के स्वरूप के चिंतन में चित्त के समाहित हो जाने पर चित्त निरूद्ध हो जाता है। वह संसार में पुनः नहीं जाना चाहता है। इस प्रकार के चित्त के टिकने की स्थिति को उपराम होना कहा जाता है। संसार से चित्त जब हटता है तब वह परमात्मा में रूकना चाहता है। क्योंकि उसका संसारिक चिंतन समाप्त हो जाता है। उपराम की स्थिति रूक जाने की स्थिति है। हम सभी का चित्त साधारणतयः संसार के चिंतन में रूकता है और रूका रहता है तो इसे संसार में उपराम हुआ माना जाता है। वैसे ही परमात्मा में रूकता है तो परमात्मा में उपराम हुआ माना जाता है। उपराम का अर्थ शांत होकर टिक जाने से है। चित्त की जो चंचलता है वह उपरामता में बाधक है। चंचल चित्त संसार में, संसारिक विषयों में तो टिकता है परंतु परमात्मा में टिकने के लिए उसे टिकाना पड़ता है। यह प्रयास योग कहलाता है। जितने भी परमात्मा की अनुभूति के साधन हैं उन सभी साधनों में चित्त को परमात्मा में रोका जाता है और जब रोकने की क्रिया परिपक्व हो जाती है तो इसे ही उपरामता की स्थिति प्राप्त होना कहते हैं। अर्थात् यह कहा जाता है कि चित्त अब उपराम हो गया उसने विश्राम पा लिया। इस प्रकार भगवान का यह कथन कि निरूद्ध चित्त योग सेवा से उपराम हो जाता है। चित्त की संसार से पूर्ण निवृत्ति तथा श्री भगवान के अनुभूति करने की स्थिति है। इस स्थिति में क्या अनुभूति होती है उसका वर्णन इस श्लोक के उतरार्द्ध अंश में किया गया है।

6– स्वयं ही अपने को देखना क्या है? (आत्मनात्मानं पश्यन्)–

इन्द्रियों चित्त और बुद्धि आदि से परमात्मा का अनुभव नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह परमात्मा इन सभी से परे है। जैसे कोई दूरस्थ वस्तु को हम नहीं देख सकते हैं क्योंकि हमारी नेत्रों के देखने की क्षमता की सीमा है। हमारे नेत्र उस सीमा से बाहर नहीं देख सकते हैं। इसी प्रकार हमारे कान की, जिह्वा की, त्वचा आदि सभी इन्द्रियों की क्षमता है। अर्थात् क्षमता के बाहर जाकर हम इन्द्रियों से अनुभव नहीं कर सकते हैं। परमात्मा हमारी बुद्धि के बाहर की सत्ता है। उसका ग्रहण बुद्धि से नहीं होता है। हम सभी चित्त से संसार के बारे में चिंतन करते हैं और इन्द्रियों से संसार की हमें अनुभूति होती है। संसार के जितने भी सुख हैं वे सब के सब इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किए जाते हैं परंतु परमात्मा का आभास इन्द्रियों से नहीं होता है। इन्द्रियों का

स्वामी मन है तथा मन से बुद्धि श्रेष्ठ है परंतु वह भी परमात्म तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकती है। इस तथ्य को हमें स्पष्ट रूप से समझना चाहिए।

चित्त जब संसार के विषयों का चिंतन नहीं करता है तब वह निरूद्ध माना जाता है और संसार से पृथक् माना जाता है। संसार से पृथक् होकर चित्त परमात्मा के स्वरूप का ही चिंतन करता है। यह बड़ी रहस्यप्रद स्थिति है कि चित्त परमात्मा के बारे में चिंतन नहीं कर सकता है क्योंकि उसकी वहां पहुंच नहीं है। पहुंच न होने पर भी निरूद्ध चित्त संसार के विषयों से हटकर परमात्मा का चिंतन करता है। चित्त जिस सत्ता का चिंतन नहीं कर सकता है वह सत्ता चित्त के द्वारा चिंतन की जाती है यह प्रतिकूल तथ्य है। यह इसमें विरोधाभास है,परंतु निरूद्ध चित्त परमात्मा का आभास कर लेता है। यह भी रहस्यप्रद तथ्य है। उसका क्या कारण है? इस पर साधक को विचार करना चाहिए। जो चित्त परमात्मा के बारे में चिंतन नहीं कर सकता है वही चित्त का परिवर्तित स्वरूप परमात्मा का आभास करता है यह विशिष्ट बात है। जो साधक अपने चित्त को निरूद्ध कर लेता है वह साधक परमात्मा का आभास कर लेता है। इस तथ्य का अवलोकन कीजिए।

परमात्मा समस्त जीवों के हृदय में रहता है और हमारे आपके हृदय में भी निवास करता है। शरीर में वह स्थित है तथा साथ ही संसार में भी उसकी उपस्थित है। चित्त शरीर का एक अंग है जो अव्यक्त है। तथा अपने कर्म से व्यक्त हो रहा है। उसी प्रकार परमात्मा भी अव्यक्त है परंतु वह अपनी व्यवस्था आदि से व्यक्त हो रहा है। यह परमात्मा तथा चित्त में समानता है। इस आधार से अर्थात् अव्यक्त होने के कारण चित्त और परमात्मा सहधर्मी से हैं। जब अव्यक्त चित्त अव्यक्त परमात्मा व्यक्त होकर हृदय में व्यक्त परमात्मा के बारे में चितन करता है तथा एकाग्र होकर ध्यान करता है तो वह परमात्मा अपना आभास साधक को करवाता है। जब हम संसार के बारे में चिंतन करते है ंतब भी वह परमात्मा जानता है और जब हम निरूद्ध रूप से परमात्मा के बारे में चितन करते है ंतब भी वह जानता है और तब वह साधक की ओर आकृष्ट होता है। हृदय में स्थित परमात्मा तब हमें अपना आभास कराता है। यह निरूद्ध चित्त वाले साधक की उत्कृष्ट स्थिति है कि वह परमात्मा का आभास करता है। वह स्वयं को अर्थात् चित्त के द्वारा अपने को अर्थात् परमात्मा को देखना है। यह आभास का विषय है। जो एकाग्र चित्त साधक एकमात्र साधक परमात्मा का चिंतन करते हैं उन्हें परमात्मा का नित्य आभास रहता है। यह परमात्मा की नित्य प्राप्त स्थिति है।

7– स्वयं को देखता हुआ संतुष्ट रहता है (आत्मनि तुष्यति)–

संसार की सान्निध्यता में दुख ही दुख है, क्योंकि राजस का फल दुख कहा जाता है। यह संसार, उस संसार का व्यवहार, संसारिक सुख सभी को राजस समझना चाहिए। राजस का परिणाम दुख है और दुख से असंतुष्टि प्राप्त होती है। इस कारण मनुष्य कभी भी संसार से संतुष्ट नहीं रहता है क्योंकि उसमें संतुष्टि है ही नहीं। दुख में संतुष्टि कैसे हो सकती है? जैसे हम भोजन करते है ंतो पेट भरने पर हमें संतुष्टि प्राप्त होती है कि हमारा भोजन पूरा हुआ। तृप्ति हुई, परंतु कुछ समय के पश्चात हमारी जो तृप्ति अर्थात् संतुष्टि हुई थी वह लुप्त हो जाती है। क्योंकि भोजन मनुष्य को कभी भी पूर्ण संतुष्टि नहीं प्राप्त कर सकता है। भोजन की तरह जितने भी संसारिक विषय और वस्तुएं हैं उनमें संतुष्टि नहीं होती और न ही हम उनमें तृप्त हो सकते हैं। हम संसार में जो संतुष्टि का क्षणिक आभास करते हैं वह मिथ्या है तथा असंतुष्टि का हेतु है। हम सभी संसार में संतुष्ट नहीं हो सकते हैं। यह निश्चित है संतुष्टि का आभास करने पर हम अपने को भटका सकते हैं।

चित्त जब परमात्मा की सानिध्यता ग्रहण कर लेता है तो उसमें संतुष्टि का भाव आ जाता है। परमात्मा की सान्निध्यता तथा उसके अनुभव में अपार सुख है। इस असीम सुख की तुलना संसारिक सुखों से नहीं की जा सकती है। हम सभी सुख में ही संतुष्टि का आभास करते हैं। जहां परमात्मा की सान्निध्यता प्राप्त हो जावे तो वहां पर अपार सुख का आभास ही साधक को संतुष्ट कर देता है। यह तथ्य उस प्रकार समझना चाहिए जैसे एक साधारण मनुष्य को विशाल महल में रहने के लिए वहां की सुख सुविधाओं का उपभोग करने की अनुमति मिल जा वे तो वह महल में अपार सुख का आभास करता है। जो उसने अपने जीवन काल में कभी प्राप्त न किया हो उस सुख का आभास उसे हो जाता है। उसमें वह वृहद् संतुष्टि का आभास करता है।

इसी प्रकार से परमात्मा के विशाल साम्राज्य का उसके विलक्षण स्वरूप का और उसकी सर्वशक्तिमान सत्ता का आभास जब हमें हो जाता है तो हमें अपार सुख का अनुभव होता है। ऐसे अनुभव को वर्णित किया जाना संभव नहीं है। यह मात्र अनुभव गम्य है। वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती है। इस प्रकार परमात्मा की सानिध्यता तथा उसके अनुभव से जो सुख साधक को मिलता है वह साधक को पूर्ण संतुष्ट कर देता है और ऐसे में साधक पूर्ण संतुष्टि का आभास करता है। यही स्वयं को देखता हुआ संतुष्ट रहता है, का अर्थ है।

8– सुख क्या होता है?– जब मनुष्य को अपनी क्रियाओं से प्रसन्नता का आभास हो वस्तु के संयोग से प्रसन्नता का आभास हो तो इसे साधारणतयः इसे सुख की संज्ञा दी जाती है। यह सब संसारिक प्रकरणों का सुख है। शास्त्रों में तीन प्रकार के सुखों का वर्णन आता है। जिसे सात्विक, राजस और तामस सुख कहा जाता है परंतु इन तीन सुखों से अतीत जो सुख है वही वास्तविक सुख है जो परमात्मा की अनुभूति तथा उसकी सान्निध्यता से बड़े प्रयास से साधक को प्राप्त हो जाता है। पहले आप उक्त तीनों प्रकार के सुखों का अवलोकन कीजिए।

क–सात्विक सुख– सात्विक सुख योगाभ्यास से प्राप्त होता है। योगाभ्यास में पहले कठिनता का आभास होता है और पश्चात में सुख का आभास होता है। इस प्रकार पहले जब कठिनता का आभास हो और पश्चात में सुख की प्रतीति हो तो इसे सात्विक सुख का स्वरूप मानना चाहिए।

ख–राजस सुख– राजस सुख इन्द्रियों के संयोग से तथा विषयों के ग्रहण करने से मनुष्य को प्राप्त होता है। हम अपनी इन्द्रियों से जिस सुख का आभास शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध आदि का ग्रहण करते हैं उस समस्त प्रकार के सुख को राजस सुख मानना चाहिए और साधारणतयः संसार में राजस सुख अधिकांश मनुष्य प्राप्त करना चाहते हैं।

ग–तामस सुख– तामसी मनुष्य को निद्रा से, प्रमाद से, आलस्य से जो सुख प्राप्त होता है वह अज्ञानता से आवृत होने के कारण तामस सुख कहा जाता है। तमोगुण से प्रभावित लोगों को निद्रा, प्रमाद और आलस्य में सुख का आभास होता है। इस सुख का परिणाम अधःपतन है।

9–आत्यन्तिक सुख क्या है? (सुख मात्यन्तिकम्)– इन्द्रियों द्वारा अनुभूत सुखों की सीमा और पराकाष्ठा है। अर्थात् यह असीमित नहीं है। जितना सुख उनके द्वारा आभास किया जाता है उस सब की सीमाएं हैं। उस सीमा से अधिक सुख इन्द्रियों के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कितना भी स्वादिष्ट भोजन हो वह एक सीमा तक ही ग्रहण किया जा सकता है। उससे अधिक नहीं। जब हमारे उदर में भोजन के लिए स्थान ही नहीं रहेगा तो और अधिक भोजन हम ग्रहण नहीं कर सकते हैं। चाहे वह कितना भी स्वादिष्ट क्यों न हो। इस कारण भोजन के स्वादिष्ट होने के आधार पर भी उसे एक सीमा तक ही ग्रहण किया जा सकता है। भूख लगने पर भोजन में जो आनंद की अनुभूति होती है, जो सुख प्रतीत होता है वह सुख पेट भरने के पश्चात लुप्त

हो जाता है। इसका अर्थ है कि भोजन का सुख तथा उसकी सुस्वादता का अनुभव एक सीमा तक ही हम कर सकते हैं उससे परे नहीं कर सकते हैं।

संसार के प्रत्येक सुख की सीमाएं हैं उस सीमा से अधिक मनुष्य के द्वारा सुख ग्रहण नहीं किया जा सकता है। नेत्रों के सुंदर दृश्य देखने की सीमा है। उस सीमा से अधिक सुंदर दृश्य ग्रहण नहीं किया जा सकता है। उसी प्रकार कान की मधुर और कर्णप्रिय संगीत सुनने की सीमा है उस सीमा से अधिक उसके द्वारा मधुर और कर्णप्रिय संगीत ग्रहण नहीं हो सकता है। वस्तुतः हम मन और बुद्धि के माध्यम से मधुर संगीत, शब्द की तुलना करते हैं कि अमुक संगीत उससे अधिक मधुर था या है। कान तो संगीत ग्रहण करते हैं परंतु उसमें जो सुख है उसकी तुलनात्मक विवेचना तो मन और बुद्धि करता है। वैसे विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों का सुख हमारी जिह्वा करती है परंतु विभिन्न व्यजनों की स्वादिष्टता की तुलना मन और बुद्धि कर लेता है। उसकी सीमाओं का निर्धारण करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सुख की तुलना है। इसी कारण मनुष्य विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों से अनेक प्रकार के सुख विविध प्रकार से ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सुख की तुलना है। इस कारण मनुष्य विभिन्न प्रकार के सुखों को तुलनात्मक रूप से ग्रहण करने की ओर उन्मुख हो जाता है और वह प्रवृत्तियों के आधार पर है। जैसे किसी को सुस्वाद भोजन में आनंद आता है और किसी को चलचित्र देखने में आनंद मिलता है जितने भी संसारिक सुख हैं उन सबकी सीमाएं हैं।

जगत में जितने भी सुख हैं उन सब सुखों से परमात्मा की सान्निध्यता के सुख की तुलना नहीं हो सकती है। वह समस्त सुखों से उत्कृष्ट और अतुलनीय है। उत्कृष्ट का अर्थ होता है अन्य से अच्छा होना और अतुलनीय का अर्थ होता है जिसकी तुलना ही न की जा सके। संसार में एक ही धर्म अर्थात् सहधर्मी पदार्थों की तुलना होती है। जैसे घी एवं शहद के सेवन से शक्ति प्राप्त होती है तो कितनी शक्ति प्राप्त होती है ? कौन सा पदार्थ अधिक शक्ति देता है? यह तुलना की जाती है कि शहद घी से कितनी अधिक गुना शक्ति देता है। परंतु संसार के जितने भी सुख हैं उनसे परमात्मा की अनुभूति और सान्निध्यता ग्रहण करने लेने के सुख की तुलना नहीं हो सकती है। इस कारण वह सुख अतुलनीय है तथा इन समस्त सुखों से अधिक है। इसलिए इसे आत्यन्तिक सुख कहा जाता है। मनुष्य जितने प्रकार के सुखों का अनुभव करता है उन सब प्रकार के सुखों से परमात्मा की अनुभूति का सुख उत्तम है। इसलिए इसे आत्यन्तिक कहा जाता है।

10– अतीन्द्रिय सुख क्या है? (अतीन्द्रियम्)–

मनुष्य शरीर में दस इन्द्रियां है तथा मन को इन्द्रियों का स्वामी कहा जाता है और इसे 11वीं इन्द्रिय भी माना जाता है। दस इन्द्रियों में 5 कर्म इन्द्रियां है और पांच ज्ञानेन्द्रियां है। इस तथ्य का उल्लेख पूर्व में भी हो चुका है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना अपना विषय है। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय में सुख का आभास करती है। इन्द्रियों के द्वारा जो गुण ग्रहण होता है उसमें मन का सहयोग रहता है। अर्थात् इन्द्रिय मन के सहयोग से ही अपने गुण अर्थात् का सुख का अनुभव करती है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने सुख को ग्रहण कर सकती है तथा जानती है। जैसे सुस्वाद भोजन के सुख का ग्रहण जीभ से होता है। इसे अन्य इन्द्रियां न तो ग्रहण कर सकती है और न ही उस सुख को बता सकती है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का अनुभव मन के सहयोग से करती है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपने गुणानुसार मन के सहयोग से सुख का आभास करना ही इन्द्रिय सुख है।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने गुणानुसार ही सुख का ग्रहण करती है अर्थात् कान मधुर शब्दों संगीत आदि का ग्रहण करते है। नेत्र मनोरंजक दृश्यों और वस्तुओं की सुन्दरता का ग्रहण करते हैं। जिह्वा सुस्वाद भोजन की सुस्वादिता का ग्रहण करती है। त्वचा कोमल स्पर्श का अनुभव करती है। नासिका सुन्दर गंध का ग्रहण कर लेती है और उसमें सुख का आभास करती है। वाणी से बोलने में सुख का अनुभव होता है। यदि मनुष्य गूंगा हो तो वाणी के सुख का अनुभव नहीं कर सकता है। हाथों से आदान प्रदान की क्रिया होती है। यदि मनुष्य के हाथ न हो तो इस क्रिया के सुख का अनुभव वह नहीं कर सकता है। पैरों से चलने की किया होती है और इस चलने की किया का सुख हमारे पैर करते है। इसी प्रकार उपस्थ और पायु से मल मूत्र विसर्जन और मैथुन की किया होती है। इसमें भी सुख का आभास रहता है। 11वीं इन्द्री मन समस्त प्रकार के इन्द्रिय सुखों का अकेले ही अनुभव कर सकता है और इन्द्रियों के साथ संसर्ग रहने पर भी विषयों का अनुभव करता है। इस प्रकार इन्द्रियों के अनुभव किये जाने वाले सुख को इन्द्रिय सुख कहते है।

दस इन्द्रियों और एक मन से मनुष्य जो भी सुख का अनुभव करता है वह समस्त प्रकार के सुखों की तुलना पर परमात्मा की सान्निध्यता रूपी सुख के अनुभव से नहीं हो सकती है। इन्द्रियों से जो कुछ सुख प्राप्त होता है वह सीमित है। इन्द्रियों के

सुख की अनुभूति हम करते हैं उन सुखों की अनुभूति में हमें आनन्द का आभास होता है। परन्तु परमात्मा की अनुभूति से जो सुख प्राप्त होता है वह इन्द्रियों के सुख से परे है तथा अतुलनीय है। परमात्मा की अनुभूति का सुख इन्द्रियों के सुख से बहुत अधिक है। जिसकी तुलना संभव नहीं है। इस कारण इसे अतिन्द्रिय सुख कहा जाता है। अतिन्द्रिय का अर्थ है जो सुख इन्द्रियों के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता है तथा इन्द्रियों के सुख से उसकी तुलना भी नहीं की जा सकती है।

11– बुद्धिग्राह्य क्या है ? (बुद्धिग्राह्यम) :–

समस्त प्रकार के सुखों का ग्रहण बुद्धि से होता है। बुद्धि मनुष्य शरीर में एक विलक्षण शक्ति है जो समस्त प्रकार के सुखों का आभास और विनिश्चय कर लेती है। इन्द्रियों से तथा मन से इन सुखों का आभास होता है उसका ज्ञान, बुद्धि के द्वारा होता है, हो जाता है क्योंकि बुद्धि मन से श्रेष्ठ है तथा मन की नियंत्रात्मक शक्ति भी है जिस सुख का आभास अथवा समस्त प्रकार के सुखों का जो आभास है वह बुद्धि कर लेती है इसी को बुद्धिग्राहय कहते हैं। जैसे हम किसी स्थान पर जाते है उस स्थान पर विशेष व्यवस्था होती है तथा अनेक प्रकार के सुखदायक साधन उपलब्ध होते हैं तो उसे देखकर इन्द्रिय और मन और उसका आभास कर लेते है परन्तु बुद्धि भी उस स्थान की भव्यता को ग्रहण कर लेती है और विनिश्चय करके उसको जान लेती है।

परमात्मा की सान्निध्यता का आभास इन्द्रिय मन, बुद्धि के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता अर्थात् इन्द्रियां परमात्मा को नहीं जान सकती है जैसे संसार को जानती है। मन जिस प्रकार संसार के विषयों का विचारण करके उन्हें वास्तविकता से जानता है वैसे मन परमात्मा को नहीं जान सकता है। इस प्रकार जैसे बुद्धि संसार का विनिश्चय कर लेती है वैसे वह परमात्मा का विनिश्चय नहीं कर सकती है। इस प्रकार इन्द्रिय मन तथा बुद्धि संसार की वस्तुओं, क्रियाओं विषयों आदि का ग्रहण कर लेते है परन्तु जिस प्रकार संसार का ग्रहण होता है वैसा ग्रहण बुद्धि परमात्मा का नहीं कर सकती है परन्तु श्री भगवान ने परमात्मा के सुख की उस अनुभूति को सुख बुद्धि से ग्रहण करने का तथ्य कहा है जो बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाना स्पष्ट किया गया है। यह तर्क संगत प्रतीत नहीं होता है परन्तु क्रियात्मक रूप से सही है परन्तु बुद्धि जिस प्रकार से परमात्मा की अनुभूति और उसकी सानिध्यता के सुख को ग्रहण करती है इस तथ्य को हमें समझना चाहिए।

बुद्धि जागृत और स्वप्नावस्था में क्रियाशील रहती है परन्तु सुषुप्ति अवस्था में वह शान्त हो जाती है। बुद्धि के शान्त होने का अभिप्राय है कि बुद्धि की क्रियाशीलता निद्राकाल में नही रहती है बुद्धि जब निद्राकाल में शान्त हो जाती है तब वह संसार के पदार्थो, स्थितियों का, वातावरण का स्मृति संचित घटनाओं का संज्ञान नहीं ले सकती है। सुषुप्ति के अतिरिक्त जागृत और स्वप्न में रहती है तब वह संसार के पदार्थो का स्थितियों वातावरण आदि का ज्ञान रखती है। निद्राकाल में वह शान्त हो जाती है परन्तु निद्राकाल के पश्चात जागृत अवस्था आने पर वह निद्राकाल को जानती है। अर्थात् यह जानती है कि हम सोए हुए थे।

बुद्धि के अक्रिय रहने पर भी उसका निद्राकाल के बारे में ज्ञान रखना एक विलक्षण तथ्य है। जब बुद्धि अक्रिय रहती है तो उसे सुषुप्ति अवस्था के बारे में ज्ञान नहीं होना चाहिए था बुद्धि की बोध शक्ति पृथक और विलक्षण है। इस तथ्य का अभिप्राय है कि सुषुप्ति काल में अक्रिय रहकर सुषुप्ति अवस्था को जानती है और ग्रहण करती है। इस प्रकार बुद्धि परमात्मा के तत्त्व को ग्रहण नहीं कर सकती है। परन्तु जब चित्त परमात्मा में एकाग्र होकर समाहित हो जाता है तो समाधि की अवस्था में बुद्धि परमात्मा तत्त्व का अनुभव करती है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए श्री भगवान ने **बुद्धिग्राहयम्** शब्द कहा है। यह सुषुप्ति काल की ही तरह विलक्षण है। सुषुप्ति काल में बुद्धि अक्रिय रहकर भी सुषुप्ति काल का ग्रहण कर लेती है। वैसे ही बुद्धि की ग्रहण क्षमता के बाहर परमात्मा का तत्त्व होने से भी चित्त के एकाग्र होने पर बुद्धि परमात्म तत्त्व का आभास करती है यही बुद्धि ग्राहय सुख है।

12– परमात्मा तत्व का जानना क्या है ? (वेत्तियत्र) :–

परमात्मा तत्त्व आत्यंतिक है। अर्थात् उससे बढ़कर कोई सुख नहीं है। संसार के सुख से परमात्मा तत्त्व के सुख की तुलना नहीं की जा सकती है। इस कारण वह आत्यंतिक है। परमात्म तत्त्व इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत विषयों से सर्वथा पृथक् है इस कारण वह अतिन्द्रिय है तथा परमात्मा की अनुभूति चित्त के एकाग्र होने पर चित्त की उपरामतः में बुद्धि को होता हैं। इस कारण परमात्म तत्त्व बुद्धिग्राहय है। ध्यान योग के निरन्तर सेवन से जब निरूद्ध चित्त उपराम हो जाता है तब वह परमात्म तत्त्व की अनुभूति करता है। परमात्म तत्त्व की अनुभूति के बारे में यह तथ्य स्पष्ट समझना चाहिए कि जब संसार की अनुभूति का सर्वथा विनाश होता है तथा निरन्तर ध्यान योग का

सेवन होता है तब उस तत्त्व की अनुभूति साधक को होती है। यह अनुभूति क्रियात्मक है जिसे साधारणतयः साधक ही क्रियान्वित नहीं कर सकता है। जैसे हम जल को वायु को, आकाश को, पृथ्वी को, अग्नि को पृथक्–पृथक् जानते हैं तथा उसका अनुभव इन्द्रियों से करते हैं क्योंकि हम संसार में रहते है और इन्हीं तथ्यों के मिश्रण से यह शरीर भी बना है यह तत्त्व बाहर भीतर सर्वत्र है इस कारण हमें इसकी अनुभूति होती है। वैसे ही जब साधक परमात्मा के विषय में अनन्य चिंतन करता है तब उस परमात्मा के शरीर के अन्दर हृदय में रहने के कारण और बाहर सर्वत्र कण कण में रहने के कारण उसकी अनुभूति साधक को हो जाती है यह उस परमात्मा को जानना है। परमात्म तत्त्व की अनुभूति बहुत प्रयास से होती है। परन्तु उधर दृष्टि जाने से संसार से दृष्टि हटने से तत्काल हो जाती है। यह परमात्म तत्त्व जानने की विलक्षणता है। साधक के प्रयास से श्री भगवान की कृपा से परमात्म तत्त्व की अनुभूति हो जाती है। ऐसी अवस्था में बुद्धि उस तत्व को जानती है और उस आत्यंतिक और अतिन्द्रिय सुख का अनुभव करती है।

13– परमात्म तत्व में स्थित होना क्या है ? (स्थितः) :–

हम सभी संसार में स्थित रहते है, क्योंकि संसार में स्थित रहने से हमें सुख प्राप्त होता है अथवा सुख मिलने की आशा रहती है। यदि हमें संसार में सुख प्राप्त न हो और सुख मिलने की आशा न हो तो हम संसार में कदापि स्थित नहीं रहते। हमें सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों, पदार्थो में सुख का आभास होता है इस कारण उसमें स्थित रहते है। यद्यपि हमारी यह धारणा मिथ्या है कि हमें संसार में सुख प्राप्त होगा अथवा संसार में स्थित रहने से सुख की आशा रहेगी। संसार में सुख नहीं है और न ही उसमें हमें सुख मिल सकता है। जब ध्यान योग की साधना से साधक एकाग्र चित्त होकर परमात्म तत्त्व का आभास कर लेता है तो परमात्म तत्त्व के सुख का आभास करता है और उसमें स्थित रहता है। परमात्म तत्त्व का आभास साधक को अपने सुख का आभास करता है और उसमें स्थित रखता है। साधक जब परमात्म तत्त्व का आभास कर लेता है तब वह सुख की वास्तविक अनुभूति करता है तथा उसे जो सुख संसार से प्राप्त हुआ था और इन्द्रिय ग्राहय था उस सुख की तुलना में परमात्मा का सुख करोड़ों गुना अधिक होता है। जैसे हम संसार के कुछ सुख में स्थित हो जाते हैं तथा सुखानुभूति करते है वैसे ही परमात्म सुख की अनुभूति के उपरान्त उसी सुख का आभास करके उसमें स्थित रहते है यह परमात्म तत्व में स्थित रहना है।

14– परमात्मा तत्त्व की अनुभूति के पश्चात योगी तत्त्व से विचलित नहीं होता है (अयम् तत्त्वतः एवं न चलतिः) :–

संसार में जितने भी प्रकार के सुख हैं उन सब सुखों के लिए हम संसार में रहते है तथा संसार से विचलित नहीं होते है। किसी भी एक प्रकार के सुख की लत लग जाने पर हम निरन्तर उस सुख का आस्वादन करके उसमें अपना जीवन व्यतीत कर लेते हे। यह सांसारिक सुख की विडम्बना है कि सुख नहीं होता है और उसमें हमें सुख का मिथ्याभास होता है और उसी मिथ्याभास में हम स्थित भी रहते है और उससे विचलित नहीं हेाते है जैसे हम दर्पण में सूर्य को देखते है और यह जानते है कि दर्पण में सूर्य नहीं है। इसका प्रतिविम्ब है तो भी हम उसे सूर्य मानकर व्यवहार करे तो यह मूर्खतः ही होगी। इसी प्रकार इस जगत के सुख का आभास काल्पनिक है और मिथ्या है जगत में सुख दर्पण के सूर्य की तरह से भासताः है उसकी सत्ता नहीं है परन्तु उसमें हम स्थित रहते है तथा जीवन भर उससे विचलित नहीं होते है और यह मूर्खता ही कही जाएगी।

हम संसार की सुख की प्राप्ति में सुख का आभास करते हैं और उसकी प्राप्ति के प्रयास में लगे रहते है तथा उससे विचलित नहीं होते हैं। यदि हमें कोई यह समझाने का प्रयास करता है कि धन कमाना निर्रथक है तो हम सलाह देने वाले को मूर्ख मानते हैं और धन की प्राप्ति के प्रयास से विचलित नहीं होते है। कभी–कभी हमें धन की प्राप्ति के प्रयास में हानि भी होती है तो भी हम धन की प्राप्ति का प्रयास नहीं छोड़ते है और बिना विचलित हुए कार्य करते रहते है। पद प्राप्ति करने वालों को संसार में आपने प्रयास करते हुए देखा होगा। विशेष कर राजनीतिक क्षेत्रों में जो पद है उनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य बहुत प्रयास करता है यहां तक कि पूरी शक्ति से उसमें लगता रहता है। उसकी पद प्राप्ति का प्रयास देखकर यह लगता है कि वह इस कार्य के प्रति समर्पित है ऐसे लोग बिना विचलित हुए पद प्राप्ति का प्रयास करते है वह विचलित क्यों नहीं होते है क्योंकि उसमें उन्हें सुख का आभास होता है ? पद न तो लम्बे समय तक रह सकता है और न ही उसका कोई नियमित अस्तित्त्व है फिर भी हम पद प्राप्ति के प्रयास से विचलित नहीं होते है।

धन, पद, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, सम्पदा आदि जितनी भी सांसारिक वस्तुएं है इन वस्तुओं की प्राप्ति का हमारा प्रयास बहुत प्रबलता से होता है और यह जब अधिक मात्रा

में प्राप्त हो जाते है तो हमें बहुत सुख का आभास होता है और हम बिना विचलित हुए उक्त सभी की प्राप्ति का प्रयास करते हैं। सांसारिक वस्तुओं की तरह ही संसार के इन्द्रियजन्य सुख हैं इनकी प्राप्ति में हम सब निरन्तर संलग्न रहते हैं।

कोई मनुष्य किसी इन्द्रिय विषय में सुख का आभास करता है और उसमें संलग्न रहता है। जैसे कोई व्यक्ति सुस्वाद भोजन में सुख का आभास करता है और उसमें सुख के आभास के कारण सुस्वाद भोजन को बहुत प्रयत्न से प्राप्त करता है और उसमें विचलित नहीं होता है। कोई अन्य व्यक्ति मनोरम दृश्यों में सुख का आभास करता है और उसके सुख प्राप्ति में संलग्न रहता है विचलित नही होता है इसी प्रकार जितने भी इन्द्रिय जनित सुख है उसमें हम जीवनपर्यन्त सुख का आभास करते है, उससे विचलित नहीं होते है।

तामसी स्वभाव के पुरूष हिंसा, दुष्कर्मो, मांस मदिरा के सेवन में सुख का आभास करते है और जीवन पर्यन्त बिना विचलित हुए हिंसा आदि कर्म करते है तथा दुष्कर्मो का आश्रय लेते है। मांस आदि के सेवन, मदिरा के पान में उन्हें सुख की अनुभूति रहती है। एक विचारवान मनुष्य जिस कार्य को नहीं करना चाहता जिस भोजन को ग्रहण नहीं करना चाहता उस कर्म को तामसी मनुष्य स्वभावता करता है और उसमें सुख का आभास करता है। अधिकांश दुष्कर्मी मनुष्य इस प्रकार के कर्मो से विचलित नहीं होते है। यह जानकर भी यह अच्छा कर्म नहीं है फिर भी वे उसका आचरण करते है। यह दुष्कर्मो की प्रबलता है। सुख की नितान्त मिथ्या अनुभूति है। यह विस्मयकारी तथ्य है कि तामसी स्वभाव का मनुष्य इससे विचलित नहीं होता है।

परमात्मा की अनुभूति अत्यंतिक, अत्यिन्द्रिय है उससे बढकर कोई सुख नहीं है जब हम सभी सांसारिक तुच्छ सुखों में सुख का मिथ्याभास करते है तब परमात्मा की अनुभूति का तथा उसकी सान्निध्यता को ग्रहण करने के सुख का आभास हो जाने पर ध्यान योगी उससे कैसे विचलित हो सकता है ? नहीं हो सकता है ? जिस प्रकार एक आवास हमें रहने के लिए प्राप्त हो और किसी कारण से,प्रयत्न से एक भव्य महल प्राप्त हो जावे तो उस छोटे आवास के सुख से उस भव्य महल के सुख का आभास हजारों गुना होगा। हमें उसमें अर्थात् महल में सुख का विशिष्ट अनुभव होगा और हम उससे विचलित नहीं होना चाहेंगे। इस प्रकार परमात्मा की असीम सत्ता का, साम्राज्य का विलक्षण सुख हमें प्राप्त हो जावे तो हम अथवा प्राप्त करने वाला साधक कैसे उक्त सुख

से विचलित हो सकता है ? नहीं हो सकता है। परमात्मा की अनुभूति के पश्चात उसकी दिव्यता का आभास कर लेने से ध्यान योगी साधक उसमें रम जाता है और उसमें समाहित हो जाता है। हम जिस प्रकार संसार की कुछ विशिष्ट सम्पदा, पद, ऐश्वर्य आदि प्राप्त करके उससे अपने को विलग नहीं करना चाहते है उसी प्रकार परमात्मा की असीम विलक्षण सुख से ध्यान योगी कभी भी विचलित नहीं किया जा सकता है।

15– उस परमात्मा को प्राप्त करके (यं लब्ध्वा) :–

परमात्मा की सान्निध्यता को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को विचित्र प्रकार की अनुभूति होती है। उस विशिष्ट अनुभूति का वर्णन वाणी से नहीं हो सकता है। जैसे किसी भिखारी व्यक्ति को बहुत धन प्राप्त हो जावे तो जब वह उस धन की विशालता को उसके वृहद् मूल्य को देखता है और उसका आंकलन करता है तब वह बहुत प्रसन्न होता है। यह एक भाव है जो हमने प्रस्तुत किया है। परमात्मा की अनुभूति का विषय बहुत ही विलक्षण है और उसका वर्णन शब्दों से नहीं हो सकता है। इस कारण उसे अनिवर्चनीय कहा जाता है। परमात्मा की अनुभूति बहुत ही विस्मयकारी है जिसका आभास सिद्ध व्यक्ति करता है तो विचित्र स्थिति में पहुंच जाता है जैसे हम किसी भव्य भवन, महल को देखकर आश्चर्यजनक रूप से उसे देखते रहते है उसमें मोहित होकर उसे एक टक निहारते है यह उदाहरण है उस परमात्मा के दर्शन का। जिसे देखकर साधक की स्थिति तत्काल परिवर्तित हो जाती है। श्री भगवान ने **यं लबध्वा** जिसे प्राप्त होकर शब्द इसी भाव से कहे है। जिसे प्राप्त होकर क्या होता है ? इसे आगे बताते है।

16 – उससे अधिक लाभ नहीं मानता (चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः) :–

परमात्मा की अनुभूति होने पर मनुष्य को संसार की समस्त वस्तुएं निरर्थक प्रतीत होती हैं जैसे हमें विशाल साम्राज्य प्राप्त हो जावे तो एक छोटा सा गांव हमारे लिए निरर्थक प्रतीत होने लगता है वैसे उस परमात्मा की सत्ता का आभास होने पर जगत के जितने भी लाभ है वह सब तुच्छ प्रतीत होते हैं। अर्जुन ने श्री भगवान से विराट स्वरूप दिखाने की प्रार्थना की और यह कहा कि यदि विराट स्वरूप मेरे द्वारा देखा जाना संभव हो तो मुझे विराट स्वरूप का दर्शन कराइए। श्री भगवान ने कहा मैं तुझको दिव्य चक्षु दे रहा हूँ उससे तू मेरे विराट स्वरूप का अवलोकन कर और मेरे ईश्वरीय ऐश्वर्य को देख यह कहकर अर्जुन को विराट स्वरूप का दर्शन कराया। अर्जुन ने विराट स्वरूप का दर्शन किया और उसके स्वरूप को देखकर उसका वर्णन किया–

विराट स्वरूप के अनेख मुख, नेत्र हैं तथा वह दिव्य आभूषण एवं दिव्य शस्त्र धारण किये हुए है। गले में दिव्य मालाएं है तथा विराट स्वरूप अलौकिक वस्त्र धारण किए है जिस प्रकार आकाश में हजारों सूर्यो के एक साथ उदय होने पर तीव्र प्रकाश हो वैसा प्रकाश उस विराट स्वरूप का था। अर्जुन ने उस विराट स्वरूप में सम्पूर्ण जगत को और ब्रह्माण्ड को उपस्थित हुए देखा। विराट स्वरूप में समस्त देवगण, ब्रह्मा जी, भगवान शंकर को बहुत दिव्य सर्पो को समस्त जीवों के विशिष्ट समुदाय को तथा अनेक ऋषियों को देखा।

अर्जुन ने विराटस्वरूप का जो वर्णन प्रस्तुत किया है वह विशिष्ट है। वैसा स्वरूप जगत में नहीं देखा जा सकता है। यह विराटस्वरूप परमात्मा का ही स्वरूप है। शंख, चक्र, गदा, पदम धारण किये वे चतुर्भुज स्वरूप का भी अर्जुन ने आगे किया है। यह दोनों स्वरूप श्री भगवान के है। जिसका दर्शन सहजता से संभव नहीं है। विराट स्वरूप को तो देखा जाना संभव नहीं है और चतुर्भुज स्वरूप अनन्य भक्ति से देखा जाना संभव है। ऐसा श्री भगवान ने कहा। अर्जुन ने विराट स्वरूप का जो वर्णन किया है उससे श्री भगवान के अस्तित्त्व की स्थिति स्पष्ट होती है। विराट स्वरूप देखकर परमात्मा के अस्तित्त्व को समझ कर ही अर्जुन ने यह कहा कि मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी है।

उसी प्रकार ध्यान योगी के साधक को परमात्मा की जब अनुभूति हो जाती है तब वह इसे अपने जीवन का सर्वाधिक लाभ मानता है इस जगत में जो भी वस्तुएं है उन सबकी सीमा है। चाहें वह भौतिक वस्तु हो अथवा भौतिक सुख हो। भौतिक सुख की सीमाएं है। हमारी जो इन्द्रियां है उन इन्द्रियों से सुख का आभास मन के सहयोग से होता है। बुद्धि भी उस सुख का आभास करती है। हमें इन्द्रियों से सुख का जो अधिकतम आभास होता है उस अधिकतम आभास से भी परमात्मा का सुख असंख्य गुना अधिक है। परमात्मा की सान्निध्यता का लाभ और उसके सुख की तुलना में यह इन्द्रिय जनित सुख तुच्छ है उनका कोई अस्तित्त्व नहीं है। इस कारण साधक जब परमात्मा की अनुभूति कर लेता है तब वह परमात्मा की अनुभूति के सुख को अधिकतम मानता है और अधिकतम सुख मान कर उसे सर्वाधिक लाभ मानता है।

जगत में मनुष्य कोई भी कार्य हानि लाभ को दृष्टिगत् रखकर ही करता है। अमुक कार्य से हमें हानि होगी तथा अमुक कार्य से हमें लाभ होगा। लाभ की दृष्टि से

अधिक कार्य होता है। अधिकांशतः जो कार्य होता है उसमें पहले लाभ का ही भाव रहता है। यदि मनुष्य यह जान ले कि अमुक कार्य से हमें हानि होगी तो वह उस कार्य को कदापि नहीं करेगा। जो मनुष्य किसी कार्य के पूर्व यह जानते है कि इसमें हानि है फिर भी उसका आचरण करते है तो उन्हें ही मूर्ख कहा जाता है। मूर्ख की यही परिभाषा है कि जान बूझकर जो ऐसे कार्य करता है जिनसे हानि होती है। शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक हानि की संभावना रहने पर भी उस कार्य का आचरण यदि कोई करता है तो उसका निश्चित पतन हो जाता है।

मनुष्य जो कर्म करता है उसमें उसको जितना अधिकतम लाभ हो सकता है अथवा जीवनपर्यन्त जो कर्म करता है उससे मिलने वाला अधिकतम लाभ अर्थात् उससे प्राप्त होने वाला धन सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, परमात्म तत्व की प्राप्ति के लाभ की तुलना में निकृष्ट है और तुच्छ है। इस कारण श्री भगवान कहते है कि मनुष्य को समस्त संसार भी प्राप्त हो जावे तो भी परमात्म तत्व की अनुभूति के समक्ष वे लाभ निकृष्ट श्रेणी के हैं। तत्त्वदर्शी सिद्ध मनुष्य यह तथ्य जान लेता है और परमात्म तत्त्व से अधिक कोई लाभकारी तत्त्व नहीं मानता है। इस प्रकार परमात्मा तत्त्व सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। उसकी तुलना सांसारिक वस्तुओं से कदापि नहीं हो सकती है।

16– परमात्म तत्त्व में स्थित रहकर (यास्मिन्स्थितो) :–

परमात्म तत्त्व की अनुभूति के उपरान्त साधक की उसमें स्थिति हो जाती है और साधक उसमें रहना चाहता है जैसे एक साधरण व्यक्ति को किसी भव्य महल में रहने का अवसर प्राप्त हो जावे तो वह वहीं रहना चाहेगा। क्योंकि महल में उसे सुखद अनुभूति होती है। वहां की व्यवस्था देखकर वह आश्चर्य चकित और अचम्भित हो जाता है। वहां के विशिष्ट भोजन, रहन सहन की व्यवस्था देखकर उसका आनन्द प्राप्त करता है। इस कारण वह सुखद अनुभूति के साथ वहां रहना चाहता है अर्थात् स्थित होना चाहता है। वैसे ही परमात्मा की अनुभूति में कितना आनन्द है कि साधक योगी उसकी अनुभूति करने के पश्चात् उसमें स्थित रहना चाहता है।

सुस्वाद भोजन जब मनुष्य ग्रहण करता है तब वह उसके स्वाद में खो जाना चाहता है। कुछ क्षण के लिए उसकी स्थिति उस सुस्वाद भोजन में हो जाती है। मनोरम दृश्य देखकर, सुन्दर व्यक्ति का दर्शन करके मनुष्य कुछ क्षणों के लिए उसमें खोता है

और वह अपनी स्थिति को उसमें पाता है। वैसे ही परमात्मा की विलक्षण सान्निध्यता पाकर उसके रहस्यपूर्ण स्वरूप को देखकर साधक योगी उसमें खोता है और उसकी स्थिति उसमें हो जाती है। परमात्मा की सानिध्यता से कौन हटना चाहेगा ? चाहकर भी हम उससे विमुख नहीं हो सकते हैं।

17– परमात्म तत्त्व में स्थित साधक को भारी दुख भी विचलित नहीं कर सकते (न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते) :–

मनुष्य यदि वास्तविक स्थिति का आभास कर ले तो वह दुःखों की अनुभूति से पृथक् हो सकता है। हम सब इस जगत में जीवन ग्रहण करते हैं और मृत्यु के पश्चात् इस संसार से विदा हो जाते हैं। हम जो भी आयु लेकर आते हैं उतना जीवन जीते हैं। हमारा जन्म लेना परमात्मा के आश्रय से होता है। जीवन के पश्चात् मृत्यु भी उसकी व्यवस्था से ही होती है हम जो भी कर्म करते है उस कर्म का हमें परिणाम प्राप्त हो जाता है। यही जीवन का रहस्य है। जीवन मिलना, जीवन में कर्मानुसार फल की प्राप्ति और मृत्यु यह तीनों तथ्य परमात्मा के आश्रय में है। उन पर मनुष्य का अधिकार नहीं है। जब से सृष्टि हुई है तब से आज तक जीवन देना, कर्म फल देना तथा मृत्यु देना परमात्मा ने अपने अधीन रखा है और जब तक सृष्टि रहेगी तब तक यह व्यवस्था परमात्मा के अधीन ही रहेगी। अन्य कोई इस व्यवस्था को नहीं प्राप्त कर सकता है। यही मानव जीवन की वास्तविकता है।

मनुष्य के लिए भारी दुःख कई हैं। जैसे धन सम्पत्ति का सर्वप्रकारेण विनाश हो जाना, किसी परिजन तथा प्रिय व्यक्ति का वियोग अथवा मृत्यु हो जाना, अपनी आजीविका का विनाश हो जाना आदि आदि भारी दुख है। उन दुःखों की वास्तविकता जानने वाला तथा तत्त्वदर्शी इनसे विचलित नहीं होता है क्योंकि वह जीवन की वास्तविकता को जानता है। जन्म, कर्म फल और मृत्यु तीन ही तत्त्व हैं। इस कारण सम्पत्ति जो मिली है वह जा सकती है उसका विनाश हो सकता है। वह हमारे जन्म के पूर्व नहीं थी और जन्म के पश्चात् नहीं रहेगी। यदि जीवित रहते चली गयी तो इसमें दुख काहे का। प्रिय व्यक्ति का विक्षोह अथवा जब उसकी मृत्यु होती है तब यह विचार आता है कि हमारा संयोग इसी जन्म में हुआ था और जन्म तथा मृत्यु के पूर्व और पश्चात् में नहीं था। जो संयोग हमें प्राप्त हुआ था वह समाप्त हो गया। इस कारण यह कोई दुःख का विषय नहीं है। आजीविका अर्थात् भरण पोषण का साधन परमात्मा ही

देता है और वही ले लेता है और उससे अच्छी व्यवस्था कर देता है। इस कारण इसमें कोई दुख नहीं है। इस प्रकार जीवन की वास्तविकता को जानने वाला किसी भारी दुःख से दुःखी नहीं होता है।

तत्त्वदर्शी पुरूष भी भारी दुःख से विचलित नहीं होता है। वस्तुतः हमारा सम्बन्ध परमात्मा से सृष्टि के समय से ही है और सृष्टि के अन्त तक रहेगा। क्योंकि हम परमात्मा के अंश है। परमात्मा ने अपने अंश को देकर हमें चेतन किया है। यह तथ्य तत्त्वदर्शी जान लेता है तथा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है। साधारण मनुष्य यह तथ्य नहीं जानता है इस कारण वह इस जगत में अपना सम्बन्ध रखता है। यही हमारी भूल है। जगत के सम्पूर्ण सम्बन्ध मिथ्या हैं, झूठे हैं। उनका कोई वास्तविक अस्तित्त्व नहीं है वे समय के साथ समाप्त होने वाले हैं, जो सम्बन्ध जगत में स्थापित हो गये हैं उनके वियोग में हम दुःखी होते हैं और दुःख का आभास करते हैं। तत्त्वदर्शी जीवन के समस्त संयोगों चाहें वह वस्तु से हों अथवा व्यक्ति से हों, की वास्तविकता को जान जाता है। वह जानता है कि जो भी सम्बंध जीवन में बना है उसका विनाश होना भी निश्चित है और यह विनाश स्वतः ही हो जाएगा। इस कारण वस्तु का, व्यक्ति का सम्बन्ध समाप्त होता है तो हमें दुःखी नहीं होना चाहिए। इस तथ्य के आधार पर वह भारी दुख से चलायमान नहीं होता है। वरन वास्तविकता को जानकर उदासीनवत् भाव से व्यवहार करता है। श्री भगवान ने यह तथ्य कहा है कि ऐसा व्यक्ति भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता है यह तथ्य इसी भाव से कहा है।

अग्रिम श्लोक में श्री भगवान योग की विशिष्ट परिभाषा को विशिष्ट रूप से प्रस्तुत कर रहे है। श्री भगवान द्वारा प्रस्तुत योग की इस विशिष्ट व्याख्या का अवलोकन कीजिए।

योग क्या है ?

मूल श्लोक – 23

तं विद्याद् दुःख संयोग वियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।

पदच्छेद –

तम्, विद्यात्, दुःखसंयोगवियोगम्, योगसञ्ज्ञितम्,

सः, निश्चयेन, योक्तव्यः, योगः, अनिर्विण्णचेतसा।।

भावार्थ : उसे योग की संज्ञा से जानें, जहां दुखों के संयोग का वियोग हो उस योग का व्यवहार अचलायमान (सक्रिय) चित्त से निश्चित रूप से करना चाहिए।

व्याख्या : श्री भगवान ने योग की परिभाषा को व्याख्यापित किया है और यह कहा है जहां दुःख के संयोग का वियोग हो उसी को योग कहते हैं। उस योग का आचरण नितान्त सक्रिय चित्त से करना चाहिए। दुःख के संयोग के वियोग का अर्थ है समस्त प्रकार के दुःखों से निवृत है। दुःखों से निवृत्ति के दो उपाय होते हैं एक दुःख होने पर उसका आभास न करना और दूसरे सत्कर्मो से संचित पापों को विनिष्ट कर देना इन दोनों तथ्यों की व्याख्या के पूर्व दुःख के बारे में समझना आवश्यक है कि दुःख क्या है ? और दुःख के कितने प्रकार हैं ? तथ उसकी निवृत्ति के क्या साधन हैं ?

1– दुःख क्या है :–

संसार में मनुष्य की परिस्थितियां जब प्रतिकूल हो जाती हैं तो उससे मनुष्य के अंतःकरण में शोक की उत्पत्ति होती है। इस भाव को साधरणतयः दुःख कहा जाता है। दुख की अनुभूति सभी लोग करते हैं और उससे निवृत होने का प्रयास भी करते हैं। मुनष्य के अंतःकरण में दुःख की आशंका को लेकर बहुत से भाव रहते हैं। इस कारण वह दुःखी रहता है और उससे निवृत्ति का प्रयास करता है। मनुष्य की प्रवृत्ति है कि वह दुःख नहीं चाहता है और दुःख के संयोग की कल्पना से ही वह दुःखी हो जाता है। परन्तु दुःख का संयोग प्रत्येक व्यक्ति को होता है। दुःख के सम्बन्ध में एक तथ्य स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि दुःख हमारे पाप कर्मो का परिणाम हैं तथा प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार ही प्रतिकूलता से उत्पन्न हुआ है। इस स्थिति में भी हम दुःख का आभास करते हैं पहले दुःख के तीन प्रकारों का अवलोकन कीजिए–

(क) आध्यात्मिक दुःख :–

मनुष्य मन से दुःखों के बारे में विचार किया करता है कि हमारी प्रतिकूल स्थितियां हैं। हमारा धन का, पद का, ऐश्वर्य का सम्पदा का विनाश हो गया है और

हमारी परिस्थितियां बहुत प्रतिकूल हो गयी हैं। ऐसा विचार करके वह परिस्थितियों को देखकर मन ही मन दुःखी हुआ करता है। उक्त वस्तुओं के विनाश हो जाने पर मनुष्य दुःखी रहता है। उसका दुःखी होना स्वाभाविक भी है। मन जब अपनी प्रतिकूलताओं पर विचार करता है तो बुद्धि उस विचार का विनिश्चय करती है और दुःख के तथ्य को निश्चित करती है कि हां, ऐसा हुआ है। जिसके कारण चित्त तथा मानसिक उत्पीड़न का भाव उत्पन्न हो जाता है जिसे आध्यात्मिक दुःख कहते है।

(ख) अधिभौतिक दुखः –

मनुष्य शरीर में वात, पित्त, कफ, तत्त्वों की साम्यावस्था रहने पर मनुष्य शरीर स्वस्थ रहता है । जब कभी इन तत्त्वों में एक तत्त्व की असाम्यावस्था आती है अर्थात् घटती बढ़ती है तो मनुष्य अस्वस्थ हो जाता है। नाना प्रकार की शारीरिक व्याधियों से आवृत हो जाता है। शरीर में व्याधियां अनेक प्रकार की हैं जिनकी संख्या का विनिश्चय किया जाना असंभव है। मानव शरीर में व्याधियों के दो कारण माने जाते हैं। एक पाप कर्मो के परिणाम से शारीरिक व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं और दूसरे उचित आहार विहार का पालन न करने से व्याधियां उत्पन्न होती है जो व्याधियां पाप कर्मो के परिणाम से उत्पन्न होती है वह कष्ट देती है और उनमें औषधियां कार्य नहीं करती है। अर्थात् पापजनित व्याधियों का निवारण औषधि से नहीं होता है। वे कष्ट भोग कर पश्चात् स्वतः समाप्त हो जाती हैं। उचित आहार विहार न करने से, अनुचित भोजन से उत्पन्न व्याधियां औषधि से समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार शरीर में जो व्याधियां आती हैं जिनसे हम दुःख का आभास करते हैं वे सब की सब अधिभौतिक दुःख हैं।

शारीरिक व्याधियों के अतिरिक्त जब कोई मनुष्य हमें और हमारी सम्पर्कित वस्तुओं तथा व्यक्तियों को हानि पहुंचाता है तब हमें दुःख होता है। अथवा कीट पशु–पक्षी आदि भी शरीर तथा हमारे सम्पर्कित लोगों को कष्ट देते हैं तो भी दुःख होता है यह भी अधिभौतिक दुःख का प्रकार का है। इसके अतिरिक्त किसी कारण वश कोई व्यक्ति हमारी सम्पत्ति को नुकसान पहुंचाता है अथवा हमारे सम्पर्कित लोगों को कष्ट देता है तो भी हमें दुःख होता है। यह भी अधिभौतिक दुःख कहा जाता है। इन समस्त प्रकार के दुःखों का कारण हमारे अपने आशास्त्र संगत कर्म है।

(ग) अधिदैविक दुःख :– हम कभी–कभी दैवीय शक्तियों के प्रभाव से भी दुःखी होते है। क्योंकि दैवीय शक्तियां हमें और हमारी सम्पर्कित वस्तुओं और व्यक्तियों को नुकसान

पहुंचाती है। अधि दैवीय दुःखों में अतिवृष्टि, बाढ़ आदि से होने वाली हानियां, अग्निकाण्ड, भूकम्प, ओलावृष्टि, आदि से होने वाली हानियां सम्मिलित हैं। अधिदैविक दुःखों में दैवीय आपदा से सम्बंधित दुःखों का उल्लेख होता है।

2– दुःखों का संयोग क्या है ? (दुःख संयोग) :–

तीनों प्रकार के दुःखों में किसी एक प्रकार के दुःख का प्राप्त होना ही दुःखों का संयोग कहा जाता है। आध्यात्मिक दुःख, अधिभौतिक दुःख, अधिदैविक दुःख इन तीनों प्रकार के दुःखों की प्राप्ति जब हमें होती है तो इसे ही दुःखों का संयोग कहा जाता है। यह दुःखों का संयोग होने पर हम दुःखी हो जाते हैं। हमारे धन, पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, सम्पदा का विनाश होने पर शरीर में किसी प्रकार की व्याधि आने पर, किसी मनुष्य के द्वारा अथवा कीट पशु–पक्षी के द्वारा हानि पहुंचाने पर, चोरी, लूट, आदि से सम्पत्ति का नुकसान होने पर, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओलावृष्टि, भूकम्प आदि आने पर हमारी वस्तुओं की जो क्षति होती है अथवा हमारे परिजनों का जो विक्षोह होता है उस कारण हमें शोक हो जाता है। यह शोक ही दुःखों का संयोग कहा जाता है। यह सब परमात्मा की व्यवस्था के अधीन प्रकृति के द्वारा स्वतः स्वचालित रूप में किया जाता है। इसमें मनुष्य का कोई हस्तक्षेप नही है। हमें प्रतीत होता है कि अमुक के कारण हमें दुःखों की प्राप्ति हुई है परन्तु यह सब प्रकृति का कार्य है जो स्वतः ही स्वचालित हुआ करता है और प्रकृति इस प्रकार से गति करके सुख दुःख की व्यवस्था करती है।

3– दुःखों के संयोग का वियोग क्या है ? (दुःखसंयोगवियोगम) :–

दुःखों का संयोग ही न हो तो इसे दुःख के संयोग का वियोग कहते हैं। मानव शरीर में दुःखों का संयोग न हो यह संभव प्रतीत नहीं होता है। हम जिस संसार में है वह संसार ही दुःख रूप है। इस कारण हमें दुःख की प्रतीति होती है। समग्र जगत ही दुःख में जी रहा है। साधरणतयः जब हम किसी से बाते करते हैं तो वह अपने को दुःखी ही कहता है। वह किसी न किसी प्रकार से दुःखों से आवृत रहता है। संसार में कितना दुःख है ? लोग कितने दुःखी है ? यह तथ्य संसार की अनुभूति से हमें ज्ञात होता है।

कोई भोजन के लिए दुखी है तो कोई धन के अभाव में दुःखी है तो कोई ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, सम्मान के प्राप्त न होने से दुःखी है। दुःख ही दुःख सर्वत्र प्रतीत होता है। यही

दुःखों का संयोग है और दुःख न रहे ये दुःख के संयोग का वियोग है। यह वियोग कैसे होगा ? इस तथ्य को हमें समझना पड़ेगा। दुःखों का संयोग कैसे होता है ? क्यों होता है ? और उसकी निवृत्ति कैसे संभव है ? इन समस्त तथ्यों को हमें जानना पड़ेगा और उसका आचरण करना पड़ेगा। दुःखों के संयोग का वियोग होने के प्रमुख दो कारण है एक प्रतिकूलताः में दुःख की अनुभूति न करना तथा दो संचित पाप कर्मो के परिणाम का क्षय कर देना।

(क) प्रतिकूलता में दुःखों की अनुभूति न करना :–

प्रत्येक मनुष्य के समक्ष प्रतिकूल परिस्थितियां आती हैं। उन प्रतिकूल परिस्थितियों में मनुष्य यह विचार करता है कि हमारी क्या हानि हुई है ? और हानि के अनुमान का आंकलन करके वह दुःखी होता है। जैसे हमारा संचित धन था किसी व्यवसाय में निवेशित करने पर वह नष्ट हो गया तो हमें दुःख की प्रतीति होगी। क्योंकि धन को हमने अपना मान रखा है। उस माने हुए धन को जब हम अपना मानते है तो वैसा ही व्यवहार करते हैं और धन के खो जाने पर विनिष्ट हो जाने पर हम दुःखी होते हैं।

कोई सम्पदा हमारे पास है और हम उसके स्वामी हैं यदि वह सम्पदा नष्ट हो जावे अथवा हमारे स्वामित्व से पृथक् हो जाए तो हमें दुःख प्राप्त होता है। अर्थात् हमें दुःख का आभास होता है। कोई सम्पदा हमारे पास है तो उसके विनाश से दुःख होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार हमें जो पद प्राप्त है वह किसी कारण न रहे तो भी हमें दुःख होता है, क्योंकि उस पद से प्राप्त होने वाली सुख सुविधाओं का लाभ हमें नहीं प्राप्त हो रहा है। ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, सम्मान के क्षय हो जाने पर भी हमारी भावनाआ आहत होती हैं और हम दुःखी हो जाते हैं। मान सम्मान का विनाश होने पर भी हमें दुख होता है। हमारा कोई परिजन दुःखी हो, शारीरिक रूप से अथवा अन्य प्रकार से शोक ग्रस्त हो तो भी हमें दुख होता है। इसके अतिरिक्त किसी परिजन की मृत्यु हो जावे तो हमें अपार दुःख का आभास होता है, क्योंकि वह हमारे अत्यंत निकट था और उससे हमें बहुत सुख प्राप्त होता था। इस प्रकार परिजनों की मृत्यु से हम क्यों दुःखी होते है ? क्योंकि हमारी उनमें आसक्ति थी इस प्रकार जितनी भी प्रतिकूलताएं है उनमें हमें दुःख प्राप्त होता है।

धन सम्पत्ति, पद, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, सम्मान जो कुछ भी हमें प्राप्त हुआ है वह जगत से ही प्राप्त हुआ है। हमने जब जन्म लिया था तब वह हमारे साथ नहीं था।

मध्य में हमारे प्रयास से धन सम्पत्ति आदि का संयोग हो गया था। धन किसी कारण से हमें प्राप्त हुआ था सम्पत्ति भी कहीं से प्राप्त हुई थी। पद का लाभ भी हमें कुछ समय से हुआ था। ऐश्वर्य प्रतिष्ठा भी हमें समाज में कुछ कारणों से प्राप्त हुई थी। हमारे साथ सदैव रहने वाली नहीं है। सम्पत्ति समाप्त होने वाली है। एक साधारण व्यक्ति जिन्हें अपनी मानता है और ऐसा मानकर वह दुःखी रहता है, परन्तु उसका एक दिन वियोग अवश्य होता है।

एक योगी उक्त वस्तुओं और स्थितियों को अपना नहीं मानता है इस कारण उनके चले जाने पर वह दुःखी नहीं होता है। योगी यह मानकर चलता है और रहता है कि हमारे सम्पर्क में जो कुछ भी है चाहें वह वस्तु के रूप में अथवा मनुष्य के रूप में वह सबका सब संयोग प्राप्त हुआ है। उसका निश्चित अस्तित्त्व नही है। स्वप्न की तरह से वह हमारे जीवन में प्रकट हो गया है और जागृति होने पर वह स्वतः ही विलुप्त हो जाएगा। इसी जागृति का तथा सांसारिक वस्तुओं की विनाशशीलता का बोध हो जाने पर जो स्थिति प्राप्त होती है वह दुःखों में संयोग का वियोग है। अर्थात् दुःखों की अनुभूति का न होना है। इस प्रकार जब हम प्रतिकूलताओं में दुःख की अनुभूति नहीं करते है तब उस स्थिति को योग कहा जाता है और अनुभूति न करने वाले साधक को योगी कहा जाता है।

(ख) संचित पाप कर्मो का क्षय कर देने पर :–

हम सभी के आज से पूर्व हजारों लाखों जन्म हो चुके हैं तथा उन जन्मों में असंख्य कर्मो का सम्पादन हुआ है। उन कर्मो को संचित कर्म कहते हैं जो अभी तक हमें परिणाम नहीं दे पाये हैं। संचित कर्मो के आधार पर ही हमें यह जन्म प्राप्त हुआ है। अर्थात् हमारे जन्म में हमारे शरीर की स्थिति, परिवार का विनिश्चय, वर्ण, स्थान, देश, आदि का विनिश्चय भी हमारे कर्मो के आधार पर ही होता है। संचित पाप कर्मो के आधार पर हमें दुःखों की प्राप्ति होती है। संचित पाप कर्मो के दो प्रकार हैं एक पूर्व जन्मों के संचित पाप कर्म तथा दूसरे वर्तमान जन्म के संचित पाप कर्म। इन दोनों के कारण ही हमें दुःखों की प्राप्ति हो जाती है।

संचित पाप कर्मो के परिणाम हमें फल देने को उद्यत हो जाते है और वह निश्चित रूप से हमें परिणाम देकर दुःख देते है। यह तथ्य एक साधक जान जाता है। साधक यह तथ्य जानकर दो प्रकार से पाप कर्मो के क्षय का प्रयास करता है। एक

सत्कर्म करके पुण्य का अर्जन करता है और दूसरे श्री भगवान के निरन्तर स्मरण से पूर्ण लाभ प्राप्त कर लेता है तथा पाप कर्मो के परिणाम से उसे जो दुःख प्राप्त होता है वह बिना किसी प्रतिकार के सहता है। इस प्रकार जब उसके पाप कर्मो का क्षय हो जाता है तब उसे दुःख प्राप्त ही नहीं होता है। अर्थात दुःखों के संयोग का वियोग हो जाता है। यह किस प्रकार होता है इसका सैद्धान्ति आभास कीजिए–

1– सत्कर्मो के संचित पाप कर्मो का क्षय :–

जब मनुष्य कर्म, विकर्म के तथ्य को जान लेता है तब वह कर्तव्य कर्म के आचरण का प्रयास करता है। मनुष्य कर्तव्य कर्म दो प्रकार के होते हैं एक व्यक्तिगत तथा दूसरे सामूहिक या सामाजिक। मनुष्य जब अपने परिवार और सम्पर्कित लोगों के साथ अपने दायित्व का ठीक–ठीक निर्वहन करता है तब वह अपने व्यक्तिगत दायित्व को निभाता है और वह समाज के प्रति अपने कर्तव्य का सही सही उत्तर दायित्व निभाता है तो वह सत्कर्म करता है। अपने व्यक्तिगत उत्तर दायित्व के निर्वहन से मनुष्य को कोई विशेष लाभ नहीं प्राप्त होता है क्योंकि वह उसका कर्तव्य है परन्तु सामाजिक उत्तरदायित्व के निर्वहन से मनुष्य को सत्कर्मो का लाभ प्राप्त होता है और उसे पुण्यलाभ हो जाता है। यह पुण्यलाभ ही संचित पाप कर्मो का क्षय कर देता है।

संचित कर्मो के विनाश से मनुष्य के दुःखों का संयोग होना ही समाप्त होना है। इस तथ्य को हमें स्पष्ट समझना चाहिए कि हमें जो कुछ दुःख प्राप्त होता है वह हमारे दुष्कर्मो के परिणाम से प्राप्त होता है। इस कारण धीरे–धीरे जब हमारे संचित दुष्कर्म सत्कर्मो के सम्पादन से समाप्त हो जाते है तब हमें दुःखों का संयोग नहीं होता है और दुःखों के संयोग से रहित होकर सुख का आभास करते है। यह विशेष स्थिति है जो साधक को प्रयास पूर्वक स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। सत्कर्मी मनुष्य पर परमात्मा की कृपा निरन्तर बरसती है क्योंकि परमात्मा का सहधर्मी कर्ता हो जाता है।

2– श्री भगवान के निरन्तर स्मरण से पापो का क्षय :–

इस मनुष्य जीवन का उद्देश्य श्री भगवान के नाम का जप तथा उसका स्मरण करने का है। इस उद्देश्य से भटक कर उसे भूलकर हम सांसारिक विषयों का स्मरण करते है और सांसारिक क्रियाकलापों में संलग्न रहते हैं। यह संलग्नता हमसे नैतिक और अनैतिक कर्म करवाती है और इसके लिए प्रेरित करती है। एक साधक अर्थात्

योगी यह तथ्य जानता है। इस कारण निरन्तर ही श्री भगवान का स्मरण करता है। श्री भगवान के स्मरण से हमारे पापों का क्षय होता है और हमारे पुण्यों का भंडार भरता है। यह कहने में, सुनने में बहुत हास्यास्पद सा प्रतीत होता है परन्तु जो योगी श्री भगवान के स्मरण के महत्व को समझते हैं वह निरन्तर ही श्री भगवान का स्मरण किया करते है। श्री भगवान के निरन्तर स्मरण का कार्य हमें आसान प्रतीत होता है, परन्तु यह बहुत कठिन है।

सांसारिक क्रियाकलाप और आकर्षण हमें बलात् संसार की ओर खींचते हैं और इस कारण हम श्री भगवान का स्मरण नहीं करते हैं तथा नाम जप से विमुख रहते हैं। इस प्रकार जो लोग इसके महत्व को तथा इससे होने वाले लाभ को जान जानते है वे लोग श्री भगवान का निरन्तर स्मरण करते हैं और पापों का क्षय कर लेते हैं जिससे उनके दुःखों के संयोग का वियोग हो जाता है। अर्थात् दुःखों का संयोग होता ही नहीं है। इस विधि से हम समस्त पापों का क्षय कर सकते है और दुःखों के संयोग का वियोग कर सकते है।

4– युक्त योग का व्यवहार सक्रिय चित्त से करना चाहिए

(स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा) :–

योगी के समक्ष दोनों ही विकल्प हैं। एक–वह सांसारिक दुःखों का आभास संसार को दुःखरूप समझ कर न करें अथवा दो– अपने पापों को क्षय करके अपने दुःखों का विनाश कर ले। अनुभूति न करने, पापों के क्षय की दोनों क्रियाएं संभव है। संसार को दुःख रूप समझने की क्रिया भावानात्मक है तथा पापों को क्षय करने की क्रिया क्रियात्मक है। दोनों ही क्रियाओं के सम्पादन में सक्रियता लानी पडती है और सक्रिय चित्त से यह भावना तथा व्यवहार करना पडता है। इन क्रियाओं को पृथक्–पृथक् समझिए–

(क) संसार को दुःख रूप समझना :–

संसार को दुःख रूप समझ कर दुःख का आभास न करना यह स्थिति सहज नहीं है। हम सब दुःखों को देखकर उनका आंकलन करके स्वतः ही दुःखी हो जाते हैं। संसार तो दुःख रूप है, विनाशशील स्वभाव का है परन्तु दुःख रूप होने तथा विनाशशील

स्वभाव का होने को व्यवहार में लाना कठिन है। हम जानते है कि हमारे पास जो वस्तुएं है वे धीरे–धीरे स्वतः ही नष्ट हो रही है तथा जो परिजन है, सम्पर्कित सगे सम्बंधी हैं वे सब मृत्यु की ओर जा रहे हैं, परन्तु जब वस्तुएं और व्यक्ति विनिष्ट होते हैं तब हम रोते हैं और दुःखी होते है। इसमें दुःख रहित स्थिति प्राप्त कर लेना ही योग है और जो यह स्थिति प्राप्त कर लेते है वे प्रतिकूल परिस्थितियों में रोते नहीं है वही योगी कहलाते हैं। यह स्थिति सहजता से प्राप्त नहीं होती है। इस कारण श्री भगवान कह रहे हैं कि सक्रिय चित्त से अर्थात् बिना निष्क्रिय हुए हमे स्थिति प्राप्त कर लेनी है। दुःख तो आयेंगे पर वे अस्तित्त्व विहीन हैं। ऐसा समझ कर दुःख के अनुभव के प्रति उदासीन हो जाना ही योग है। दुःख आते रहें परन्तु हम दुःखी न हो सुख आये और चले जाए परन्तु हमें प्रसन्नता का आभास न हो यही योग है। इसे सक्रियता से करना हमारा कर्तव्य है। इस कार्य में इस भावना की अनुभूति में हमें सदैव सक्रिय रहना है। यह चिंतन करना है कि समस्त क्रियाएं प्रकृति के द्वारा चल रही हैं तथा निरन्तर ही प्रकृति ही समस्त वस्तुओं और जीवों को विनाश की ओर ले जा रही है इस भावना को दृढ़ करना है। इसमें चित्त का चिंतन करना है। दुख रूप समझ कर इस संसार में दुःखी न होना ही बिना अक्रिय हुए योग करना है।

(ख) सत्कर्मो का सम्पादन सक्रिय चित्त से करना :–

सत्कर्मो का सीधा अर्थ समाज की निःस्वार्थ सेवा से है। जब हम गरीब, असहायों, निर्बल, वर्ग के लोगों की सहायता करने का कार्य आरम्भ करते हैं तो यह कार्य किसी क्षेत्र में हो उसे सक्रियता से सम्पादित करना चाहिए अर्थात् करते रहना चाहिए। सत्कर्मो के सम्पादन में अनेक प्रकार की बाधाएं आती हैं परन्तु उन बाधाओं को पार करते हुए, हल करते हुए साधक को कार्य करना पडता है। यही सक्रिय चित्त से योग करना है। समाजसेवा के कर्मो में गरीबी का उन्मूलन, आवश्यकता वालों के लिए चिकित्सा सुविधा, शिक्षा की व्यवस्था तथा नैतिक उत्थान के कार्य सम्मिलित है। यह कार्य जब साधक आरम्भ करता है तब उसके समक्ष अनेक बाधाएं आती हैं परन्तु यदि बाधाओं को पार करके सक्रिय चित्त से कर्म करते रहोगे तो योगी कहलाओंगे और यह क्रिया योग

कहलायेगी। क्या समाज सेवा के उक्त कर्म हम बिना उकताऐ सक्रिय मन से कर सकते हैं ? यदि हां तो श्री भगवान के कथन के अनुसार हम योगी हैं और योग की परिभाषा का सही व्यवहार कर रहे हैं।

(ग) श्री भगवान का स्मरण सक्रिय चित्त से करना :–

श्री भगवान का स्मरण सक्रिय चित्त से करने पर दुःखों के संयोग का वियोग हो जाता है और उसकी निरन्तरता से हम योग क्रिया की पूर्णतः को प्राप्त कर योगी हो जाते हैं। हमारा चित्त आज तक संसार में रमता रहा है और चित्त की सांसारिक विषयों में उन्मुखता रही है अर्थात् चित्त का चिंतन संसारोन्मुखी रहा है। श्री भगवान की ओर जब हम उन्मुख होते हैं तब हम उसका चिंतन आरम्भ करते हैं और चिंतन में स्मरण रहता है। श्री भगवान के स्मरण में शीघ्र निरन्तरता नहीं आती हैं, क्योंकि संसार हमारे चित्त में बसा घुला है और चित्त में बसे हुए संसार को बाहर निकालना सहज नहीं है आसान नहीं है। जब तक हम चित्त में रह रहे संसार के स्वरूप को बाहर नहीं करेंगे तब तक संसार के चिंतन के साथ श्री भगवान का चिंतन रहेगा। यह अनिश्चितता है और अक्रिय कार्य है।

श्री भगवान कह रहे है कि हमारा चिंतन अर्थात् मुझमें चित्त अर्पित करने का कार्य चित्त से क्रियाशील होकर करना है। **अनिर्विण्णचेतसा** का यही अर्थ है। हम सक्रियता से अर्थात् बिना उकताहट का आभास किये श्री भगवान का चिंतन और स्मरण करें। श्री भगवान के बारे में ही विचारे तथा विचार कर उसमें निरन्तरता स्थापित कर लें। श्री भगवान के निरन्तर चिंतन से,उसके स्मरण से हमारे समग्र दुःखों का विनाश हो जाता है और हमें दुःखों का संयोग नहीं होता है। इस प्रकार योग उसे कहते हैं जिसमें दुःखों का आभास का अभाव हो जाए। हमें दुःखों का आभास न हो यही योग है। इसकी प्राप्ति साधक को तथा प्रत्येक मनुष्य को बहुत सक्रिय चित्त से बिना उकताऐ करनी चाहिए।

श्री भगवान अग्रिम तीन श्लोको में ध्यान की विशिष्ट प्रक्रिया का उल्लेख कर रहे हैं। यह वर्णन क्रमिक साधना का विषय है। श्री भगवान के द्वारा प्रस्तुत इस विशिष्ट भाव का अवलोकन कीजिए।

ध्यान की विशिष्ट क्रिया विधि का उल्लेख :–

मूल श्लोक – 24

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्तवा सर्वानशेषतः।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।

पदच्छेद –

संकल्पप्रभवान, कामान्, त्यक्त्वा, सर्वान्, अशेषतः,

मनसा, एव, इन्द्रियग्रामम्, विनियम्य, समन्ततः।।

मूल श्लोक – 25

शनैः शनेरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिज्दपि चिन्तयेत्।।

पदच्छेद –

शनैः, शनै, उपरमेत् बुद्ध्या, धृतिगहीतया,

आत्मसंस्थम्, मनः, कृत्वा, न किंचित्, अपि, चिन्तयेत्।।

मूल श्लोक – 26

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।

ततस्ततो नियम्येतदात्मनयेव वशं नयेत्।।

पदच्छेद –

यतः, यतः, निश्चरति, मनः, चञ्चलम्, अस्थिरम्,

ततः, ततः, नियम्य, एतत्, आत्मानि, एवं, वशम्, नयेत्।।

भावार्थ : संकल्प के द्वारा उत्पन्न समस्त कामनाओं का सम्पूर्णता से परित्याग करके मन से समस्त इन्द्रियों को सभी ओर से नियंत्रित करके, धैर्यवान बुद्धि से शैनः शनैः उपराम हो मन को आत्म तत्त्व में भली प्रकार से स्थापित करके अन्य कुछ भी चिंतन न करें। चलायमान और चंचल मन जिन जिन विषयों में भ्रमण करता है उन उन विषयों से नियंत्रित करके इसे आत्म तत्त्व में ही वश पूर्वक स्थापित करें।

व्याख्या : श्री भगवान ने ध्यान की विशिष्ट क्रियाविधि का वर्णन किया है। इस क्रिया विधि में निम्नांकित तथ्य प्रमुख हैं जो क्रमिक हैं–

1– संकल्प के द्वारा जो कामनाएं उत्पन्न होती है उनका प्रथमतः सम्पूर्णता से त्याग करें।

2– मन से समस्त इन्द्रियों को सभी ओर से नियंत्रित करें।

3– बुद्धि को धीरे–धीरे धैर्यता पूर्वक उपराम करें।

4– मन को आत्मतत्त्व में स्थापित करें।

5– जब मन आत्मतत्त्व में स्थापित हो जावे तो अन्य कुछ भी चिंतन न करें।

6– चंचल मन जहां–जहां घूमता है, भ्रमण करता है, उन विषयों से उसे हटायें।

7– मन को नियंत्रित करके आत्मतत्त्व में वशपूर्वक स्थापित करें।

उपरोक्त क्रियाओं का क्रमिक अवलोकन कीजिए तथा उनके सहज अर्थ को समझिए–

1– संकल्प क्या है ? :–

मन की वृत्ति अर्थात् कार्य को संकल्प कहते है। मन का कार्य संसार की वस्तुओं, विषयों के सम्बन्ध में विचार करना है। मन जो जो विचार करता है वह सबका सब संकल्प कहा जाता है। आप अपने मन के द्वारा विचारित विषयों को देखें और यह निरीक्षण करें कि आपका मन किन किन विषयों का विचारण कर रहा हैं। आपका मन जिन जिन विषयों का विचारण कर रहा है उन उन विषयों को संकल्प कहा जाता है। प्रत्येक मनुष्य पृथक्–पृथक् प्रकार के विषयों का विचारण करता है। अर्थात् हम सभी के

मन की क्रिया तो एक है परन्तु उसके द्वारा विचारित विषय पृथक्–पृथक् हैं। यह विशिष्टता है प्रत्येक मनुष्य का मन एक प्रकार का है। क्योंकि मन भगवान की अपरा प्रकृति का छठा तत्त्व है, परन्तु मन के एक होने के बावजूद भी उसके विचारण विषय पृथक्–पृथक् है।

प्रत्येक मनुष्य का मन उसकी प्रवृत्ति के अनुसार विचार करता है और यह प्रवृत्ति साधारणतयः तीन प्रकार की होती है जिसे सात्विक, राजस और तामस कहा जाता है। सात्विक मन के विचारण के विषय सात्विक होते हैं। राजसी प्रवृत्ति के मन के विचारण विषय राजसी होते हैं और तामसी मन के विचारण विषय तामसी होते हैं। पृथक्–पृथक् प्रकार के मनुष्य अर्थात् सात्विक, राजस और तामस प्रवृत्ति के व्यक्तियों के मन के द्वारा जो भी विचार किया जाता है वह सबका सब संकल्प कहा जाता है। संकल्प का स्पष्ट अर्थ है मन की विचारण वस्तु।

2– संकल्प के द्वारा उत्पन्न कामनाएं क्या है ? (संकल्पप्रभवानकामान्) :–

मन अपनी चंचल प्रवृत्ति के कारण ही अनेक प्रकार की विषय वस्तुओं का विचारण करता है तथा उसे ऐसा करने में अच्छेपन का आभास होता है। जिससे नये नये प्रकार की कामनाएं उत्पन्न हो जाती है। मन मुख्यतः अतीत में भोगे गए भोगों के बारे में विचार करता रहता है और वर्तमान विषयों के बारे में भी विचार करके कल्पना शील जगत में रहना पसंद करता है। अनेक काल्पनिक कामनाओं के बारे में मन विचार करके कामनाएं उत्पन्न कर लेता है। मन को कामनाओं के बारे में विचार करने से प्रियता की प्रतीति होती है। अर्थात् उसे अच्छा लगता है। इस कारण मन के विचारण से कामनाओं की सहज उत्पत्ति हो जाती है और वह निरन्तर हुआ करती हैं। हम उन कामनाओं के बारे में तथा उनकी प्राप्ति के उपायों के बारे में विचार करते रहते हैं। यह प्रक्रिया सहजता पूर्वक होती रहती है। मन में जितने विचार आते रहते हैं उन्हें संकल्प कहते है और उन संकल्पों के आते रहने से ही नयी कामनाओं का उद्भव होता रहता है। यह संकल्प कामनाओं का प्रभाव होना है। हमारा मन जितने अधिक संकल्प करता है उतनी अधिक कामनाएं हमारे मन में स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है इसके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है। यह सबका सब स्वचालित क्रिया है जो स्वतः ही गति करती है। संकल्प आते हैं और उनसे कामनाएं उत्पन्न होती है। यही संकल्प से कामनाओं का उत्पन्न होना है।

3– विषयों के ध्यान से भी कामनाएं उत्पन्न हो जाती हैं :–

विषयों के ध्यान से भी कामनाओ की उत्पत्ति होती है। संकल्प अर्थात् मन के विचार करने से कामनाओं की उत्पत्ति श्री भगवान द्वारा कही गई है। **संकल्पप्रभवान कामान्** कहकर इसका प्रस्तुतीकरण श्री भगवान ने किया था। संकल्पों से कामनाओं का प्रभव अर्थात् उत्पत्ति होती है यह उत्पत्ति स्वतः ही होती है। वैसे ही इन विषयों के ध्यान से कामनाओं की उत्पत्ति कही जाती है, जानी जाती है। विषयों का ध्यान जब मनुष्य करता है तब उन विषयों के प्रति उसकी आसक्ति हो जाती है और आसक्ति ही कामनाओं की उत्पत्ति में हेतु कही जाती है। इस प्रकार विषयों का ध्यान, विषयों के ध्यान से आसक्ति की उत्पत्ति और आसक्ति से कामना का प्रभव होता है। इस कारण विषयों के ध्यान से कामना की उत्पत्ति कही जाती है। कामना की उत्पत्ति का एक कारण संकल्प है तथा दूसरा कारण विषयों का ध्यान है। संकल्प से ही कामनाएं उत्पन्न हो जाती हैं तथा विषयों के ध्यान से भी कामनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। इसमें विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता है परन्तु गहनता पूर्वक विचार करने से अंतर रहता है। इस अंतर का अवलोकन कीजिए।

(क) संकल्प तथा विषयों के ध्यान में अन्तर :–

संकल्प मन की विचारण प्रक्रिया है जो साधारण रूप से चलती रहती है। इस विचारण प्रक्रिया में तरह–तरह के भाव उत्पन्न होते रहते हैं। मन की विचारण प्रक्रिया स्वतः ही चला करती है अर्थात् क्रियान्वित होती रहती है। मन निरन्तर विचार करता रहता है। बैठते उठते, चलते फिरते, लेटते सभी अवस्थाओं में निद्रा काल को छोडकर मन की विचारण प्रक्रिया चला करती है। मन जो भी विचार करता है वह अधिकांशतः कामनाओं के बारे में करता है। अतः उसकी पूर्ति के प्रयास के बारे में भी होता है। संकल्प विचार करने की सामान्य प्रक्रिया है जबकि विषयों का ध्यान मनुष्य करता है अर्थात् विषयों का ध्यान मनुष्य को करना पड़ता है। संकल्प में सामान्य रूप से विचारण चलता है और कामनाओं की उत्पत्ति हुआ करती है तथा ध्यान से मनुष्य कामनाओं का ध्यान करता है और उसमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है और आसक्ति से कामनाएं उत्पन्न होती है।

कामनाओं के स्वतः ही उपार्जित होने तथा करने में जो अन्तर होता है वह संकल्प से कामनाओं की उत्पत्ति में अतः ध्यान से कामनाओं की उत्पत्ति में होता है।

ध्यान प्रमुख रूप से भोगे गए विषयों के बारे में विशेष होता है परन्तु कल्पनाशील जगत में मन ध्यान करता है कि अमुक स्थान पर चलकर सुस्वाद भोजन करेंगे। यह दो कारण है जिन्हें हम ध्यान दे। हमने भूतकाल में जो भोग भोगे हैं उनकी स्मृति रहती है। अतः ध्यान करने पर स्मृति से यह भोग स्वतः प्रकट होने लगते हैं और हमें उनके ध्यान से आनन्द का आभास होता है। ध्यान से आनन्द की अनुभूति ही मनुष्य के विषयों के प्रति आसक्ति की उत्पत्ति करती है। आसक्ति का अभिप्राय है कि मन में उन भोगो के प्रति अच्छापन का लगना और स्नेह का उत्पन्न हो जाना। जिन भोगों में आसक्ति नहीं होगी तो उनको भोगने की इच्छा उत्पन्न नहीं होगी। इस प्रकार ध्यान से भी कामनाओं की उत्पत्ति होती है।

(ख) संकल्प से कामनाओं की उत्पत्ति विशेष है :–

मन निरन्तर विचार करता रहता है जब हम कहीं शान्तिपूर्वक बैठे होते हैं अथवा शान्तिपूर्वक विश्राम कर रहे होते हैं उस समय में भी मन की वृत्ति अर्थात् कार्य चला करता है, मन दौड़ा करता है, भागता रहता है। जब तक शरीर निद्रा के अधीन नहीं आता है तब तक मन निरन्तर गतिशील रहता है। यह गतिशीलता निद्रा में ही समाप्त होती है। मन के द्वारा विचार करने के कारण ही अनेक प्रकार की कामनाएं निरन्तर उत्पन्न हो जाती है। यह प्रक्रिया चला करती है। अर्थात् निरन्तर गतिशील रहती है। इस प्रकार अधिकांश कामनाएं संकल्प से उत्पन्न हो जाती है। यह कामनाओं के उत्पन्न होने की स्वतः स्वचालित प्रक्रिया है जो निरन्तर गतिशील रहती है। मन जितना अधिक गतिशील होगा उतनी ही अधिक कामनाएं उत्पन्न होगी। इस कारण श्री भगवान कहते हैं संकल्प से उत्पन्न होने वाली कामनाएं अर्थात् संकल्प रूपी प्रक्रिया से जितनी भी कामनाएं उत्पन्न हो रही है एक से लेकर अनन्त तक की सभी अर्थात् समस्त कामनाओं का क्या करना है ? इसका कथन श्री भगवान आगे कर रहे है–

4– सम्पूर्ण कामनाओं का सम्पूर्णता से त्याग करें (त्यक्त्वा सर्वानशेषतः) :–

मन की विचारण प्रक्रिया से जो भी कामनाएं उत्पन्न हो रही है उन सबका परित्याग करें। मन की विचारण प्रक्रिया से असंख्य कामनाएं उत्पन्न हो जाती हैं अर्थात् उनकी संख्या नहीं होती है। संकल्प से जो भी कामनाएं उत्पन्न होती हैं वह साधक को सिद्धि हेतु त्यागनी चाहिए। साधारणतयः संकल्प से उत्पन्न होने वाली कामनाओं का त्याग संभव नहीं है। उच्च स्थिति में अर्थात् साधना की उत्कृष्टता से कामनाओं पर

नियंत्रण हो जाता है, परन्तु साधारणतयः सम्पूर्णतः से उनका त्याग करना एक विलक्षण बात है। साधक जब श्री भगवान के स्मरण से अथवा ध्यान योग के निरन्तर सेवन से उच्च स्थिति प्राप्त करता है तो भी उसके मन में मान सम्मान, ख्याति, ऐश्वर्य का भाव रहता है तथा ज्ञान का अहंकार रहने के कारण सम्मान की भावना रह जाती है। तपस्वी, ध्यानी, योगी, भक्त जब तक इस प्रकार की भावना रखता है तब तक वह कामनाओं का सम्पूर्णतः से त्यागी नहीं होता है।

कामनाओं का समपूर्णता से त्याग करना भी एक विशिष्ट स्थिति है, जिन पर सभी साधकों को गहनता पूर्वक विचार करना चाहिए। साधक जिस स्थिति में हो उस स्थिति में यह विचार करें और गहनता पूर्वक निरीक्षण करे कि हमारे में क्या कामनाऐं है? क्या इच्छाऐं अवशेष है ? अच्छे भोजन की कामना, अच्छे वातावरण में रहने की कामना, लोग अनायास ही सम्मान करे ऐसी कामना यदि अवशेष है तो समझना चाहिए कि अभी श्री भगवान के उक्त वचनों का पालन नहीं हो रहा है। जो मिल जाए उसे खा लेना, जो मिल जाए उसे पहन लेना, जैसी स्थिति आ जाए उसमें रहना, सम्मान प्राप्त हो अथवा न हो हमें अपनी सत्य बात कहनी है। सत्याचरण करना है। यह भाव दृढ़ होना चाहिए। वैसे समस्त साधकों को यह समझना चाहिए कि श्री भगवान हमारे लिए उत्तम भोजन की, उत्तम स्थान में रहने की, मान सम्मान देने की स्वतः व्यवस्था कर देते हैं। वे अपने भक्तों को अपने से अधिक प्रिय समझते है श्री भगवान जिस स्थिति में रहते हैं वैसे ही स्थिति अपने भक्तों के लिए उत्पन्न कर देते हैं। उनकी योगमाया समस्त प्रकार की व्यवस्था करती रहती है। अव्यक्त और अदृश्य होकर भी वह शक्ति सभी तरह से भक्तों पर दृष्टि रखती है और अपनी कृपा से भक्तों को सराबोर कर देती है। इस कारण उच्च अवस्था में स्वतः ही कामनाओं का त्याग हो जाता है। परन्तु हमें भी अर्थात साधकों को भी इसके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। हमें यह चाहना रहे कि हम कामना नहीं करेंगे। जैसे हो वैसे श्री भगवान का स्मरण करेंगे। श्री भगवान का आश्रय ग्रहण कर लेने पर कामनाए तो शीघ्र ही समाप्त हो जाती है और उसमें दुःखों का आभास समाप्त हो जाता है।

5– समस्त इन्द्रियों को मन से हटाकर (मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य):–

पूर्व में कहा जा चुका है कि मानव शरीर में दस इन्द्रिया है तथा एक मन है। दस इन्द्रियों में पांच ज्ञानेन्द्रिया और पांच कर्मेन्द्रिया हैं। इन दस इन्द्रियों के समुच्चय

को इन्द्रियग्रामम कहा जाता है। जितनी भी इन्द्रियां हैं उन सबका मन नियंत्रण करता है। अर्थात् समस्त इन्द्रियों की क्रियाविधि मन के द्वारा संचालित होती है। यदि नेत्र देखता है तो उस देखने की क्रिया में मन का सहयोग रहता है। कान यदि ध्वनि ग्रहण करते हैं तो उसमें मन का सहयोग रहता है। त्वचा के द्वारा स्पर्श को जानने में मन का सहयोग रहता है। गंध ग्रहण करने में मन का सहयोग रहता है। जिह्वा रस ग्रहण करने में मन का सहयोग लेती है। वाणी जब शब्दों का उच्चारण करती है तब उसमें मन का सहयोग रहता है। हस्त और पाद गमन और आदान प्रदान की जब क्रिया करते है तो उसमें मन सहयोग करता है।

इसी प्रकार अन्य कर्मेन्द्रियों के द्वारा जो जो क्रियाएं होती है वे सभी मन के सहयोग से संचालित होती हैं। मन के सहयोग से जब इन्द्रियों की समस्त क्रियाएं संचालित होती है तब यदि मन इन्द्रियों की क्रियाओं में अपना सहयोग समाप्त कर दें तो क्रियाएं स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी अर्थात् क्रियाएं नहीं हो सकेंगी। कथन का अभिप्राय यह है कि नेत्र यदि किसी किन्हीं मनोरम दृश्यों में फंसना चाहता है तो यदि मन उसमें सहयोग न करें तो नेत्र मनोरम दृश्यों को देखने की क्रिया से मुक्त रहेगा, क्योंकि मन के सहयोग से ही मनोरम दृश्यों को देखा जा सकता है। कान यदि मधुर संगीत को ग्रहण करने में आसक्त हो रहा है तो मन उसका सहयोग न करें तो न कर्ण की मधुर संगीत ग्रहण करने की क्षमता नहीं रहेगी और इस कारण मधुर संगीत में हम आसक्त नहीं होंगे।

त्वचा यदि कोमल स्पर्श में फंस रही है तब यदि मन सहयोग न करें तो त्वचा अकेले मन के स्पर्श के बिना कोमलता का आनन्द नहीं प्राप्त कर सकती है। सुस्वाद भोजन के रस को जिह्वा जानती है, परन्तु यदि मन सहयोग न करें तो जिह्वा सुस्वाद भोजन के रस की आसक्ति से बच जाएगी। जैसे जब हम किसी भयंकर आपदा में होते है तब मन आशंका से ग्रस्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में चाहें जितना सुस्वाद भोजन हो वह हमें अच्छा नहीं लगता है। इस प्रकार इन्द्रियों की अनेक गुणों में आसक्ति मन के सहयोग से रहती है।

श्री भगवान का उपर्युक्त पदों में **(मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य)** ये कथन है कि इन्द्रियां अपने गुणों के अनुसार जो भी विषयों का सेवन करके फंसती हैं उसका मन को सहयोग नहीं करना चाहिए जिससे हम इन्द्रिय विषयों से मुक्त हो सकेंगे। इन्द्रियों के समुच्चय में मन का सहयोग रहता है तभी हम इन्द्रिय विषयों में आसक्त होकर विषयों का सेवन करते हैं। ध्यान में जब मन को एकाग्र करते है तब इन्द्रियों के विभिन्न विषय

ही उसे अपने–अपने विषयों की ओर आकर्षित करते हैं और फिर मन विभिन्न इन्द्रिय विषयों में घूमता है और ध्यान की क्रिया संपादित नहीं हो पाती है। इस कारण समस्त इन्द्रियों को मन से नियंत्रित करना चाहिए।

6– इन्द्रियों को हठपूर्वक रोककर मन से विषयों का चिंतन करने वाला मिथ्याचारी है–

समस्त इन्द्रियों का नियंत्रण मन से होता है, इस कारण मन को समस्त इन्द्रियों का स्वामी कहा जाता है। इन्द्रिय, कोई भी इन्द्रिय अथवा इन्द्रियों के समूह अकेले किसी भी विषय का अर्थात् अपने विषय का आनंद नहीं ले सकती है जब तक मन का सहयोग न हो परंतु मन अकेले ही समस्त इन्द्रियों के विषयों को चिंतन के द्वारा उपभोग कर सकता है। यह मन की विशिष्ट शक्ति है। कथन का अभिप्राय यह है कि मन अक्सर एकांत में किसी भी इन्द्रिय विषय को कल्पना के सहारे भोग सकता है। वह सुस्वाद भोजन के रस को जानता है। मधुर संगीत को ग्रहण कर सकता है तथा कल्पना के सहारे मनोरम दृश्यों को देख सकता है, कोमल स्पर्श का आनंद ले सकता है। इस प्रकार मन अपनी विशिष्ट शक्ति से विषयों को भोगता है। जो मन इन्द्रियों को विषयों से रोककर स्वयं भी अकेले चिंतन के द्वारा विषयों को भोगता है वह मिथ्याचारी कहा जाता है। इस प्रकार के साधक का आचरण मिथ्या है। वह मन को संयमित नहीं कर सकता है। उसके प्रतिकूल जो साधक मन से इन्द्रियों को संयमित करता हैं तथा मन को आत्मतत्त्व में लगाता है। वह विशिष्ट है।

7– मन को सब ओर से रोककर (समन्ततः)–

बरसात के मौसम में घर में पानी न आवे इसके लिए सभी ओर से पानी को रोकने की व्यवस्था की जाती है। छत में कोई छिद्र हो जावे तो उसे बंद कर देते हैं। दीवारों में, खिड़कियों में बरसात के पानी को रोकने के लिए उचित प्रबंध करते हैं। वैसे ही सर्दी के मौसम में हम ठंडी वायु के प्रकोप से बचाव के लिए विभिन्न प्रकार की व्यवस्था करते हैं। वायु और जल से सब ओर से बचाव करने के लिए बरसात और ठंड के प्रकोप से हम बच सकते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों में मनुष्य प्रवृत्त हो जाता है और विषयों में प्रवृत्त होने के कारण उसका पतन होता है। प्रत्येक इन्द्रिय चारों ओर से विषयों का सेवन करती है। जैसे नेत्र के समक्ष हजारों प्रकार के मनोरम दृश्य हैं। जिह्वा के समक्ष अनेक प्रकार के रस हैं। त्वचा के लिए कोमलताओं की सीमा नहीं है। सुगंधों की भी भरमार है। एक दृश्य में यदि नेत्र मोहित नहीं हो रहे है ंतब माया उसके लिए दूसरे दृश्यों को उपस्थित कर देती है।

ऐसे समस्त इन्द्रियों के एक विषय सैकड़ों रूप ले लेते हैं। इन्हीं सैकड़ों रूपों में मनुष्य की इन्द्रियां किसी न किसी रूप में अवश्य फंस जाती हैं। श्री भगवान ने ध्यान योग की प्रक्रिया में इन्द्रिय विषयों को मन से नियंत्रित करके समस्त ओर से रोकने के लिए कहा है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों को उनके विषय से सभी ओर से रोककर ध्यान का आचरण करना चाहिए जिससे ध्यान योग की सिद्धि संभव है।

इन्द्रियों को उनके विषयों को जब मन के द्वारा रोका जाता है तब वे इन्द्रियां विषय ग्रहण करने में अक्षम हो जाती हैं। यदि इन्द्रियां अपने विषय को ग्रहण भी कर लेती है ंतो मन के पूर्ण असहयोग से वह विषय स्वतः ही निवृत्त हो जाता है। मन की विशेष शक्ति है कि वह इन्द्रियों को सब ओर से विषयों में प्रवृत्त होने से रोक दे। जैसे नाव में एक छिद्र हो जाता है तो नाव के डूबने की आशंका रहती है वैसे ही मन इन्द्रिय विषयों के छिद्रों को जानता है और उन्हें रोक सकता है। इस प्रकार श्री भगवान ने सब ओर से विषयों को रोकने के लिए कहा है और उसमें इन्द्रिय समूह को मन से नियंत्रित करने के लिए निर्देशित किया है। जब तक सब ओर से विषय नियंत्रित नहीं किए जाते तब तक मन एकाग्र नहीं होता और हम ध्यान की क्रिया में पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाते।

8–बुद्धि क्या है?– बुद्धि के संबंध में पूर्व में भी अनेक प्रकरणों में वर्णन हुआ है। परंतु इस स्थल पर वर्णन विशेष की आवश्यकता है इसलिए बुद्धि के संबंध में कुछ विशिष्ट तथ्य प्रकरण के भाव को दृष्टिगत रखकर प्रस्तुत किया जा रहा है। बुद्धि श्री भगवान की अपरा प्रकृति का सातवां तत्त्व है। अपरा प्रकृति में आठ तत्त्व हैं। पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। मानव शरीर में बुद्धि सर्वश्रेष्ठ तत्व है। इसकी वृत्ति को अर्थात् कार्य को विकल्प कहा जाता है। बुद्धि का विशिष्ट कार्य है विनिश्चय करना। यह इन्द्रियों तथा मन को आदेशित करती हैं और शरीर पर नियंत्रण रखती है। मन की चंचलता को, उसकी गति को यह जानती है और मन की गति को नियंत्रित कर सकती है। मन जो जो क्रियाएं करता है जहां जहां पर विचरता है बुद्धि मन को देखती रहती है और उसकी विचारण क्रिया को रोक सकने में समर्थ है। अहंकार के प्रभाव को भी बुद्धि जान सकती है तथा उससे शरीर को मुक्त करने हेतु सक्रिय भूमिका निभा सकती है। बुद्धि जो जो आदेश देती है वैसा वैसा ही कार्य शरीर, इन्द्रियां और मन करते रहते हैं। इस प्रकार बुद्धि एक विनिश्चयात्मक, नियंत्रणात्मक और आदेशात्मक शक्ति है। इसकी शक्ति को विवेक कहा जाता है। विभिन्न प्रकार के पुरूषों में विभिन्न

प्रकार की बुद्धि पृथक्–पृथक् होती है और यह बुद्धि के प्रकार पर आधारित है। साधारणतयः बुद्धि गुणों के आधार पर तीन प्रकार की होती है।

क– सात्विक बुद्धि– जिस बुद्धि को इस तथ्य का बोध रहता है कि किस कार्य में प्रवृत्त होना है और किस कार्य से निवृत्त होना है ऐसे ज्ञान विशेष वाली बुद्धि को सात्विक बुद्धि कहा जाता है। कार्य में प्रवृत्त होने और निवृत्त होने को जानने के कारण सात्विक बुद्धि को धर्म और अधर्म, कर्म, अकर्म, विकर्म, नैतिकता, अनैतिकता, कर्तव्य, अकर्तव्य का विशेष ज्ञान होता है। इसी प्रकार सात्विक बुद्धि ये जान जाती है कि शरीर का बंधन तथा मोक्ष अर्थात् मुक्ति किस प्रकार हो सकती है? सात्विक बुद्धि सत्व गुण प्रधान पुरूषों में रहती है जिससे वे समाज में विशिष्ट स्थान बना पाने में सक्षम होते हैं परंतु जब इसमें रज और तम गुण का प्रभाव आने लगता हैं तो वह दूषित होकर असंगत कार्य का विनिश्चय करने लगती है। शुद्ध कार्य करना ही सात्विक बुद्धि का लक्षण है।

ख–राजसी बुद्धि– राजसी बुद्धि संशय ग्रस्त और संदेहयुक्त बुद्धि है। उस बुद्धि के द्वारा धर्म का, अधर्म का विनिश्चय सम्यक् प्रकार से नहीं हो पाता है। अर्थात् राजसी बुद्धि धर्म क्या है? अधर्म क्या है? इस तथ्य को नहीं जानती है। और न ही धर्म और अधर्म में सम्यक् अंतर स्थापित कर पाती है। इसी कारण क्या करना है ? क्या नहीं करना है ? इस तथ्य से अपरचित रहती है। क्या करना चाहिए ? और क्या नहीं करना चाहिए ? यह विनिश्चय न कर पाना ही राजसी बुद्धि का प्रमुख लक्षण है। संसार में प्रत्येक मनुष्य कर्म करता है परंतु यदि यह तथ्य ज्ञात न हो कि क्या करना उचित है? क्या करना उचित नहीं है? इस ज्ञान के अभाव में हमारे कर्मों की प्रवृत्ति, क्रियान्वयन अधिकांशतः असमाजिक तथा अनैतिक हो जाता है। इस प्रकार राजसी गुणों से युक्त मनुष्य कर्म का सही सही विनिश्चय न कर पाने के कारण संशय युक्त कर्म करता है। यही राजसी बुद्धि का लक्षण है।

ग– तामसी बुद्धि– तामसी बुद्धि अज्ञानता से आवृत रहती है। तामसी बुद्धि अधर्म को धर्म मान लेती है और शुभ कर्मों को अशुभ मानती है। इस प्रकार वह अशुभ और अधार्मिक कर्मों का संपादन करती रहती है। तामसी बुद्धि का प्रमुख लक्षण है कि वह प्रत्येक तथ्य का, विषय का उल्टा, प्रतिकूल, विपरीत अर्थ निकालती है जिससे अज्ञान और मोह की उत्पत्ति हो जाती है। प्रतिकूलता ही तामसी बुद्धि का विशिष्ट अवगुण है। तमोगुण प्रधान पुरूषों में इस प्रकार की तामसी बुद्धि स्थित रहती है।

9– धैर्यवान बुद्धि क्या है? (धृतिगृहीतया बुद्धया)– साधना पथ बहुत ही लंबा पथ है जिस पर साधक को चलना पड़ता है। ध्यान योग के साधन में जिस प्रक्रिया का वर्णन श्री भगवान कर रहे हैं वह प्रक्रिया साधन विशेष है, श्रम विशेष है। आकार रहित और ब्रह्म विशेष है। आत्मस्वरूप में बोध विशेष है। अव्यक्त वस्तु अथवा तथ्य के बारे में व्यक्त भाव से उपासना करना कठिन है। इस उपासना में क्लेश अधिक है। इस कारण साधक को सफलता प्राप्त होने में कठिनता का आभास होता है। जो अव्यक्त पथ बिना निर्देशन के तय किया जाता है उसमें अज्ञानता के कारण श्रम विशेष करना पड़ता है। क्योंकि सही पथ होने के बारे में संदेह रहता है। इस प्रकार साधना पथ में जिस ध्यान प्रक्रिया का वर्णन श्री भगवान कर रहे हैं वह अव्यक्त तत्त्व विशेष है। उसमें निर्देशन की आवश्यकता तो रहती है साथ ही धैर्य की आवश्यकता भी रहती है। अव्यक्त पथ पर धैर्य के अभाव में मनुष्य यात्रा आरंभ करके संदेह के कारण, वांछित सफलता न मिलने के कारण प्रयास ही समाप्त कर देता है। धैर्य नामक तत्त्व इस कार्य में सफलता हेतु विशेष लाभप्रद है। धैर्य को समाप्त करने से सफलता निश्चित नहीं मिलती हैं और संपूर्ण प्रयास ही व्यर्थ हो जाता है।

धैर्यवान बुद्धि वह बुद्धि है जो साधना पथ पर साधक को साहसी बनाए रखती है। साधना पथ पर अर्थात् ध्यान के साधन में पूर्व में श्री भगवान ने ध्यान की सिद्धि के लिए अनेक निर्देश दिए थे। युक्त आहार, युक्त विहार, कर्मों में युक्त चेष्ठा आदि का वर्णन किया था तथा आसन एवं एकाग्रता के कई निर्देश दिए थे। यह निर्देश साधक को पालन करने पड़ते हैं। इन निर्देशों के पालन के साथ यदि साधक ध्यान की क्रिया करता है तो उसे सफलता प्राप्त होने की संभावना रहती है। परंतु जैसा ध्यान योगी सफलता चाहता है वैसी अपेक्षित सफलता मिले यह निश्चित नहीं है। जैसे हम किसी व्यवसाय में धन का निवेश करते है ंतो हमें क्या लाभ मिलेगा? और कितना लाभ मिलेगा? यह जानना असंभव है। इसी प्रकार कितनी मात्रा में हम ध्यान का सेवन करते हैं? यह तथ्य हमारी सफलता का आधार है। सफलता कितनी मिलती है? यह विनिश्चित नहीं किया जा सकता है। धैर्यवान बुद्धि ध्यान की प्रक्रिया को निरंतर करती है तथा वो उक्ताहट, अक्रियता के बिना अपने साधन में लगी रहती है। सफलता उसे मिले अथवा न मिले यह तथ्य नहीं होता है। वरन् ध्यान की क्रिया संपन्न हो लक्ष्य होता है। सफलता तो अवश्य ही मिलती है यह विचार दृढ रहता है।

इस विचार को धैर्यवान बुद्धि ही दृढ़ रख सकती है। यदि बुद्धि धैर्यवान नहीं है तो वह ध्यान की क्रिया में अपेक्षित सफलता की आशा रखती है और अपेक्षित सफलता न मिलने पर उक्ताहट की स्थिति अवश्य आती है परंतु धैर्यवान बुद्धि का यह गुण नहीं है। वह धैर्यपूर्वक समस्त क्रियाओं को करती है तथा ध्यान में संलग्न रहती है। धैर्यवान बुद्धि का उचित रूप से ध्यान की क्रियाओं का संपादन कराना ही सफलता का मंत्र है। इस प्रकार धर्यवान बुद्धि वह बुद्धि है जो ध्यान योग के साधन में सक्रिय रहकर निरंतर क्रियाशील रहती है और अपने धैर्यवान गुण के कारण सफलता प्राप्त करती है। श्री भगवान का **(धृति गृहीतयाबुद्धया)** का यही अर्थ है। इसे साधक को समझकर इसका पालन करना अपेक्षित है।

10–शनैः शनैः उपराम होना क्या है? (शनैः शनैरुपरमेत्) :–

इन्द्रियों में, मन में तथा बुद्धि में संसार के विषय भरे हुए हैं। इन समस्त विषयों से निवृत होना इतना सहज नहीं है, क्योंकि हम जिस संसार में रह रहे हैं उस संसार में सर्वत्र विषय ही विषय हैं। चारों ओर विषयों की सत्ता प्रतीत होती है। एक से बढ़कर एक आकर्षक लुभावनी वस्तुएं इस जगत में हैं, जो साधक के चित्त को अपनी ओर जबरदस्ती खींच लेती हैं। मनुष्य न चाहकर भी उनमें फंस जाता है। जैसे जल में हम जब डुबकी लगाते है ंतो हमारे शरीर में जल सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। जल से बाहर आकर जब जल को सूखे वस्त्र से पोछते है ंतब शरीर से जल का गीलापन समाप्त होता है। वैसे ही संसार में हम सब विषयों में डूबे रहते हैं और विषय हमारी इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि को गीला करते रहते हैं तथा अपने में समेट लेते हैं, इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि विषयों के आकर्षण में फंसे रहते हैं। इस कारण इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि विषयों से उपराम नहीं हो पाते हैं। श्री भगवान इस कारण शनैः शनैः अर्थात् धीमी गति से अथवा क्रमशः विषयों से उपराम होने की बात कह रहे हैं। इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि विषयों से कैसे उपराम होंगे? यह तथ्य हम सभी साधकों को समझना चाहिए–

क–इन्द्रियों का विषयों से उपराम होना : –

इन्द्रियों का समुच्चय विषयों में भ्रमण करता रहता है। नेत्र सुंदर वस्तु और व्यक्ति को देखते हैं तो वह सुंदर दृश्य की ओर आकर्षित हो जाते है। यह क्रिया स्वाभाविक होती है। हमारे कान मधुर स्वरों की ओर आकर्षित हो जाते हैं और नाना प्रकार के कल्पनाएं करने को बाध्य करते हैं। इसी प्रकार त्वचा कोमल स्पर्श के प्रति आकर्षित होती है और उसमें फंसी रहती है। नासिका सुगंध के प्रति आकर्षित होती है

और सुगंध के आकर्षण में फंस जाती है। जिह्वा सुस्वाद व्यंजनों के रस में फंसती है और निरंतर उसका उपभोग करना चाहती है।

ज्ञानेन्द्रियों की तरह हमारे कर्मेन्द्रियों का समूह भी संसार के आकर्षण में फंसता है। जब इन्द्रियां अपने विषय की ओर आकर्षित हो उस इन्द्रिय को उसके विषय से निकालना चाहिए। नेत्र जिस प्रकार के सुंदर दृश्यों में आकर्षित हो रहे हों उन सुंदर दृश्यों को पुनः पुनः देखने की इच्छा कर रहे हो तो नेत्रों को वहां से हटाने का प्रयास करना चाहिए। यह विचार करें कि जो भी सुंदर दृश्य है वह विनाशशील है और समय के साथ विनिष्ट होने वाला है। यह विचार दृढ करें धीरे–धीरे अर्थात् शनैः शनैः इस आकर्षण को समाप्त करें। समस्त इन्द्रियों के जो विषय हैं और उनमें जो आकर्षण हैं जिसके कारण हम फंसते हैं उनसे धीरे धीरे अपने को विलग करना चाहिए हटाना चाहिए। यह क्रिया क्रमशः' की जा सकती है। शनैः शनैः का अर्थ है धीरे धीरे क्रमशः इन्द्रिय विषयों का आकर्षण समाप्त करना। यही समस्त इन्द्रियों का अपने अपने विषयों में उपराम होना है।

ख– मन का उपराम होना : समस्त इन्द्रिय विषयों को भोगने में मन साथ रहता है अर्थात् मन के सहयोग से ही इन्द्रियां विषयों को भोगती हैं। यह तथ्य पूर्व में भी कहा जा चुका है। जैसे नेत्र किसी सुंदर दृश्य को देखता है तो मन भी उस दृश्य पर जाता है। यदि मन इस दृश्य को देखने से मना कर दे तो नेत्रों को भी उस दृश्य से हटना पड़ेगा। जितने भी इन्द्रिय भोग है, उन सबको मनुष्य मन के सहयोग से ही भोग सकता है। इस कारण विषयों के भोगने में मन का पूर्ण सहयोग रहता है। इसके अतिरिक्त मन अकेले भी स्मृति में संचित भोगों को निकाल कर विचार के द्वारा उन्हें भोग सकता है। मन को यदि शनैः शनैः शांत किया जाए और विषयों के विचार को रोका जाए तो यही मन के विषयों से उपराम होने की क्रिया कही जाएगी। धीरे–धीरे साधक मन को शांत करता है क्रमिक हटाता है तो विषय मन से उपराम होते जाते हैं। समाप्त होते जाते हैं। मन का समस्त प्रकार से विषयों से हट जाना, इन्द्रियों का विषय भोग में सहयोग न करना तथा स्वयं भी विषय भोग के बारे में चिंतन न करना मन का उपराम होना कहा जाता है। पूर्ण शांत मन पूर्ण उपराम अवस्था में आ जाता है।

ग– बुद्धि का उपराम होना : – बुद्धि की वृत्ति विनिश्चय है जिसे विकल्प भी कहा जाता है। बुद्धि विषय भोगों को ग्रहण करने, उनको भोगने तथा उनमें नित्य रहने का आदेश देती है। इसके अतिरिक्त बुद्धि विषयों से निवृत होने का विनिश्चय भी कर

सकती है। बुद्धि जो आदेश देती है उससे ही विषय भोगो को भोगा जाता है और उसके आदेश से ही निवृत हुआ जाता है। इन्द्रियां अगर मन के सहयोग से भोगों में प्रवृत्त होती है तब बुद्धि इस भोग क्रिया का विनिश्चय करती हैं। यदि बुद्धि विनिश्चय समाप्त कर दे तो भोग क्रिया से निवृत्त हुआ जा सकता है। इस प्रकार बुद्धि का जो कार्य है वह बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि बुद्धि विषय भोगों में प्रवृत्त होने की स्वीकृति प्रदान करती है। इसलिए यदि बुद्धि शनैः शनैः भोगों को छोड़ने का विनिश्चय कर ले तो बुद्धि की उपरामता से विषय भोगों से शीघ्र निवृत्ति हो सकती है। श्री भगवान ने धैर्य युक्त बुद्धि से ध्यान की क्रिया को संपादित करने का आदेश दिया है। धैर्ययुक्त बुद्धि यदि विषय भोगो का विनिश्चय समाप्त कर दे तो यह बुद्धि की उपरामता होगी।

कामनाओं का संजाल बहुत वृहद् है वह इन्द्रियों को, मन को, अपनी ओर आकृष्ट करके मनुष्य को अपने में लिप्त रखता है। मनुष्य इसी में फंसा हुआ अनेक प्रकार से विषयों में प्रवृत्त होता है। विषयों में उपरामता इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के संयमन से संभव है। यह सब क्रमिक है। मनुष्य यदि चाहें तो धीरे–धीरे विषयों से निवृत्त हो सकता है और प्रवृत्त भी हो सकता है। बुद्धि इसमें बड़ी भूमिका निभाती है। यदि बुद्धि यह विनिश्चय कर ले कि हमें धीरे–धीरे विषयों से मुक्त होकर आत्मज्ञान के दर्शन की ओर प्रवृत्त होना है तो वह धीरे–धीरे ऐसा कर सकती है। इस कारण उपरामता में बुद्धि का विशिष्ट योगदान है।

(घ) कुछ भी चिंतन न करे (न किञ्चिदपि चिन्तयेत्) :–

चित्त की वृत्ति चिंतन है। श्री भगवान ने कुछ भी चिंतन न करने का निर्देश दिया है। चित्त के विषय में पूर्व में भी पर्याप्त वर्णन किया जा चुका है। इस प्रसंग में चित्त के द्वारा कुछ भी चिंतन न करने को कहा गया है। मनुष्य अपने चित्त से विभिन्न प्रकार के विषयों का चिंतन किया करता है। जब तक यह चिंतन रहता है तब तक चित्त संसार में माना जाता है क्योंकि चित्त सांसारिक विषयों का ही चिंतन करता है। चित्त एक दिन में हजारों विषयों के बारे में चिंतन कर डालता है। उसका उपराम होना, रूकना इसी कारण कठिन होता है क्योंकि वह निरन्तर गतिशील रहता है, जो चित्त निरन्तर गति करता है अर्थात् कुछ न कुछ चिंतन किया करता है उस चित्त का एक दम चिंतन क्रिया से पृथक् हो जाना इतना सहज नहीं है। इस कारण श्री भगवान उसे शनैः शनैः उपराम होने को कहते हैं। चित्त की वृत्ति चिंतन को शनैः शनैः ही रोका जा

सकता है। चित्त की चंचलता के कारण ऐसा कहा जाता है। यदि चित्त कुछ भी चिंतन न करे तो यह चित्त की पूर्ण उपराम अवस्था होगी।

चित्त बहुत कुछ चिंतन करता है और कुछ भी चिंतन न करे यह स्थिति सहज प्रतीत नहीं होती है। सहज कैसे हो सकती है ? संसार में कितने विषय ? और जिन जिन विषयों के सम्पर्क चित्त आता है उन उन के बारे में वह चिंतन करने लगता है। संसार तथा संसार के विषय असीमित हैं इस कारण उसके चिंतन के विषय भी असीमित हैं। चिंतन जब असीमित विषयों का होता है और यह एक दम समाप्त हो जावे तो अति विशिष्ट स्थित कही जावेगी। श्री भगवान ने इस स्थित को शनैःशनैः प्राप्त करने को कहा है। क्योंकि कुछ भी चिंतन न करने की स्थिति एक बार में प्राप्त नहीं की जा सकती है।

असीमित विषयों का चिंतन चित्त एक बार में भी नहीं रोक सकता है और न ही इसे रोका जा सकता है। जैसे जल के तेज प्रवाह को एक बार में नहीं रोका जा सकता। उसके लिए प्रयास धीरे–धीरे करना पड़ता है। इस कारण साधक को धैर्य पूर्वक धीरे–धीरे चित्त को उपराम करना चाहिए। चित्त जब उपराम हो जाएगा तो सांसारिक विषयों की चिंतन की क्रिया ही समाप्त हो जाएगी। कुछ भी चिंतन न करने का अभिप्राय एकदम स्पष्ट है कि संसार के जो भी विषय हैं उनका चिंतन एक दम समाप्त हो जाना चाहिए। चिंतन नहीं रहना चाहिए। चिंतन की क्रिया में शून्यता आ जानी चाहिए। चिंतन न रहने के लिए श्री भगवान साधन का निरूपण करते है अर्थात् चित्त एकदम शान्त हो जावे इसके लिए श्री भगवान मन को आत्मतत्त्व में स्थापित करने का निर्देश देते हैं। चिंतन संसार से हटने के पश्चात कहां रहेगा ? इस उपाय का निरूपण श्री भगवान ने आगे किया है।

12– मन को आत्मतत्त्व में स्थापित करें (आत्मसंस्थं मनः कृत्वा) :–

मन समस्त इन्द्रियों का स्वामी है तथा इन्द्रियां मन के सहयोग से भी विषयों का आनन्द लेती है। इस कारण इन्द्रियों के द्वारा जो विषयों में संलिप्तता है वह मन के सहयोग से ही है। मन स्वयं ही अकेले ही विषय भोगों का चिंतन कर लेता है तथा मन विषयों के चिंतन काल में चित्त का स्वरूप ग्रहण करके विषयों का चिंतन गहनता से करता है और मन के द्वारा किये गए संकल्पों का विनिश्चय बुद्धि करती है। इन समस्त

तथ्यों को दृष्टिगत, रखते हुए मन विशिष्ट है तथा विषयों में इसके भ्रमण करने का तथ्य भी विशिष्ट है। इस कारण मन के द्वारा ही यदि आत्मतत्त्व विषयक चिंतन हो तो सर्वप्रकारेण सिद्धि शीघ्र ही प्राप्त हो सकती है। मन ही विशिष्ट और उभयनिष्ठ है इसलिए श्री भगवान ने मन को आत्मतत्त्व में स्थापित करने का तथ्य कहा है।

मन ही परमात्मा के बारे में विचार कर सकता है तब वह सांसारिक विषयों से निवृत्त होता है। परमात्मा की असीम सत्ता के बारे में मन का विचारण चित्त का चिंतन, बुद्धि का विनिश्चय जब होता है तब धीरे–धीरे मन परमात्मा की ओर उन्मुख होता जाता है। ऐसी स्थिति में वह संसार की उपेक्षा करता है। परमात्मा के विषय में जब मन स्थापित हो जाता है तब वह संसार के विषय से हट जाता है। यह तथ्य निश्चित है संसार में हमें प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और इसका हम आभास भी कर सकते है। संसार में रहकर हमें संसार का बोध इसी कारण होता रहता है। परमात्मा हमें दिखता नहीं, अव्यक्त है, प्रत्यक्ष नहीं होता। इस कारण उससे हमारा व्यवहार नहीं होता है। तभी हम परमात्मा की ओर उन्मुख नहीं हो पाते है। हमारा मन परमात्मा में रमें इसके लिए हमें मन से सांसारिक विषयों को हटाकर परमात्मा के विषयों में स्थापित करना पडता है। **आत्मसंस्थं मनः कृत्वा** का यही अर्थ है जिस मन से संसार का विचारण होता है उसका धीरे–धीरे उपराम करके उसे परमात्मा के स्वरूप में लगाये। जब मन धीरे–धीरे परमात्मा के स्वरूप में लग जाता है तब वह संसार से उपराम हुआ समझा जाता है। परमात्मा में मन किस प्रकार समाहित होगा ? तथा विषयों से किस प्रकार हटेगा ? इसके लिए श्री भगवान उपाय का निरूपण कर रहे है।

13– जिन जिन विषयों में अस्थिर और चंचल मन रमण करता है (यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्) :–

साधक को यह निरीक्षण करना चाहिए कि हमारा मन किन किन विषयों में रमण कर रहा है। अर्थात् विचर रहा है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति तथा गुणों में आवृत्ति पृथक्–पृथक् प्रकार से होती है। इस कारण उसके मन के विचारण विषय भी पृथक्–पृथक् होते हैं। साधन काल में मन की गति को आप देखें तथा यह देखें कि हमारा मन किन किन विषयों में रम रहा है ? मन के विषय अनन्त हैं क्योंकि सांसारिक कामनाएं अनन्त है। इस कारण मन के विचारण विषयों को साधक ही जान पाता है कि

हमारा मन कहां–कहां जा रहा है ? क्या–क्या विचार कर रहा है ? जब तक साधक इस पर निरीक्षण नहीं करता है तब तब वह मन के अनेक विषयों में विचरने की अनुमति देता है। मन के विचारण के प्रमुख तीन विषय है।

(क) स्मृति में संचित घटनाओं के बारे में विचार करना : जो घटनाएं हमारी स्मृति में संचित है वे पूर्व की अर्थात् अतीत की घटनाएं है। वे घटनाएं अनायास ही साधनकाल में अर्थात् ध्यान के समय विचार में आ जाती है तथा हमको अर्थात् साधन करते हुए साधक को साथ ले जाती हैं। हमारा मन अतीत की उन घटनाओं में घूमने लगता है। साधक परमात्मा के बारे में ध्यान करने का प्रयास करता है परन्तु स्मृति में संचित घटनाएं अनायास ही प्रकट होकर साधक का ध्यान भंग करती हैं जो जो घटनाएं पूर्व में हुई थी वे ध्यान में स्वतः ही आती है मन उनको स्मृति से निकाल कर ध्यान के समय हमारे में विचारों में प्रकट कर देता है। इसी के लिए यह कहा जा रहा है अस्थिर और चंचल मन जिन जिन विषयों में रमण करता है विचरता है।

(ख) वर्तमान समस्याओं के विषय में विचार करता है : जो समस्याएं साधक के समक्ष होती है उन समस्याओं के बारे में साधक बहुधा विचार करता है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के समक्ष अनेक प्रकार की समस्याएं रहती हैं और उन समयाओं के बारे में तथा उनके निराकरण के बारे में साधक साधन काल में भी विचार कर लेता है। समस्याएं हमारे विचारों में स्वतः ही प्रकट हो जाती है क्योंकि दैनिक समस्याएं मनुष्य के लिए बहुत कष्टदायी होती है। साधारण मनुष्य समस्याओं में कठिनता का आभास करता है। कठिनता में, प्रतिकूलता में मनुष्य का मन शान्त नहीं रह सकता है। यह एक निश्चित तथ्य है इस कारण मन में समस्याओं के बारे में ही विचार आते रहते है और मन उन पर विचारण करता है। इसी के लिए यह कहा जा रहा है कि मन जिन जिन विषयों में रमण करता है।

(ग) भविष्य की संभावनाओं के बार में विचार करता है : प्रत्येक मनुष्य का उसकी इच्छाओं के अनुकूल विकास की कामना रहती है। एक साधारण मनुष्य अपने भविष्य के विषय में बहुत विचार करता है। यह साधक मनुष्यों में भी प्राचीन स्तर पर रहता है। साधक साधन काल में इस पर अनायास ही विचार करता है कि हम भविष्य में वर्तमान से अधिक अच्छी स्थिति में जीवन यापन करें। इस कारण वह भविष्य की सम्भावनाओं की ओर अनायास ही उन्मुख हो जाता है। भविष्य की संभावनाएं भी साधन काल में

साधक के विचारों में स्वतः ही प्रकट होती है और साधक के मन को दूर तक बहा ले जाती है। इस प्रकार भी मन अनेक विषयों में घूमता है। इसी के लिए यह कहा जा रहा है कि मन जिन जिन विषयों में रमण करता है।

उपरोक्त तीन कारणों के अतिरिक्त असंख्य कारण अन्य भी है जिससे मनुष्य का मन विभिन्न विषयों में रमण करता रहता है। यह साधक ही जानता है कि हमारा मन किन किन विषयों में विचर रहा है ? तथा क्यों विचरता है ? उसके कारण को भी जानता है। कारण तथा विचारण विषय दोनों का ही ध्यान मनुष्य को रखना चाहिए। मन का विभिन्न विषयों में विचरण अनायास नहीं होता है। इसका कारण अवश्य होता है। कारण से कारण बनते जाते हैं और क्रमवार यह सब चलता रहता है। जैसे नदी में जल का प्रवाह चलता रहता है उसी प्रकार से साधक में विचार बहते रहते हैं। यह विचारों का भाव साधनकाल में हम रोकने का प्रयास करते हैं परन्तु फिर भी अनायास ही वे विचार मन में आ जाते है और हमें परमात्मा के चिंतन से हटा देते है।

14– उन–उन विषयों से नियंत्रित करें (ततस्ततो नियम्य) :–

जिन जिन विषयों में मन जाता है उन उन विषयों को जानकर उनसे मन को हटाना चाहिए। ध्यान की क्रिया में यह तथ्य स्पष्ट है कि साधक जब लक्ष्य पर ध्यान की स्थापना करना चाहता है तब तब संसार के विषय ही उसे विचलित कर देते हैं। उसका मन लक्ष्य से हटकर अन्यत्र विषयों में भागता है। श्री भगवान ने कहा कि उन विषयों को मन से हटाये। इस कथन का अभिप्राय यह है कि साधक ध्यान के समय जब लक्ष्य पर ध्यान की स्थापना करे तो उस समय यदि उसके ध्यान में सांसारिक विषय आ रहे हों तो उन उन विषयों से साधक को मन से हटाना चाहिए और श्री भगवान में अपने मन की स्थापना करनी चाहिए तथा निम्नांकित विचार दृढ़ रखने चाहिए–

(क) परमात्मा सर्वत्र है वह हमारे अन्दर विराजमान है तथा चारो ओर सर्वत्र उपस्थित है। साधकों को परमात्मा की उपस्थिति का आभास करते रहना चाहिए।

(ख) वह परमात्मा हमारे बाहर भी विराजमान है तथा साधन काल में वह हमारे निकट बैठकर हमारी साधना की क्रिया को देख रहा है तथा उसमें पूर्ण सहयोग कर रहा है।

(ग) परमात्मा की दृष्टि हम पर निरन्तर हैं और वह हम पर अपनी कृपा पूर्ण दृष्टि से हमें निरन्तर देख रहा है। हमें उसकी दृष्टि का आभास करना चाहिए और यह विचार करना चाहिए कि उस सर्वशक्तिमान सत्ता की कृपा हम पर बरस रही है।

(घ) साधनकाल में, ध्यान के समय जब भी कोई सांसारिक विषय प्रकट हो जाए तो उसे परमात्मा को ही समर्पित कर देना चाहिए। ध्यान में सांसारिक विचारों के आने पर कुछ समय पश्चात ही उसका ज्ञान साधक को हो जाता है। ज्ञान होते ही साधक को उन विचारों को तत्काल परमात्मा को समर्पित कर देना चाहिए।

(ङ) ध्यान काल में विचार जिस प्रकार का हो उस प्रकार के विचार का तत्काल समाधान कर लेना चाहिए। अतीत की स्मृतियों से सम्बंधित विचारों के आने पर साधक को अतीत की स्मृतियों को अस्तित्त्वविहीन मान कर उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। अतीत में जो घटनाएं हुई थी उन घटनाओं का वर्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही समस्याओं के बारे में विचार आने पर परमात्मा को ही समस्त समस्याओं का हल करना है। ऐसा दृढ़ भाव कर लेना चाहिए वे स्वतः ही परमात्मा की कृपा से हल हो जायेंगी। भविष्य की संभावनाओं पर विचार आने पर साधक को भविष्य के बारे में आसक्त रहना चाहिए, क्योंकि श्री भगवान हम साधकों का योग क्षेम स्वयं उपलब्ध करा देते हैं।

(च) ध्यान में जिन जिन विषयों का विचारण होता है जो जो विषय प्रकट हो जाते है। वे साधक को तत्काल समाप्त कर लेने चाहिए। स्वतः ही उनका निराकरण शीघ्र हो जाता है। जैसे हम स्नान करते समय अपने अंगों से मल अर्थात गंदगी को धोकर समस्त अंगों को स्वच्छ कर लेते है वैसे ही हमें ध्यान काल में समस्त विचारों को स्वतः ही समाप्त कर देना चाहिए।

15– ध्यान को एक मात्र परमात्मा में लगाना (आत्मन्येव वशं नयेत्) :–

मन की विचारण क्षमता में जितनी भी कामनाएं उत्पन्न होती है वे सब की सब साधक को समाप्त कर देनी चाहिए। यहां तक कि साधना की उत्कृष्ट स्थिति में पहुंच कर धन, सम्मान, ऐश्वर्य, ख्याति आदि की जो सूक्ष्म कामनाएं रहती हैं उन सब का ध्यान की पूर्णतः के लिए हमें समापन कर देना चाहिए। जब तक कामनाएं रहती हैं अर्थात् जब तक कामनाएं अवशेष है तब तक साधक को पूर्णतः प्राप्त करने में समस्याएं रहती है। इस कारण कामनाओं का परित्याग परमात्मा में ध्यान हेतु प्राथमिक तथ्य है।

इन्द्रियों के विषयों का त्याग साधक को मन से करना चाहिए। मन से जब इन्द्रिय विषय नियंत्रित हो जाते है तब इन्द्रियां अपने विषयों में नहीं जा पाती है पूर्व में भी यह कहा जा चुका है कि मन से इन्द्रियों का नियंत्रण होता हैं इस कारण मन से इन्द्रियों को नियंत्रित करें तथा नियंत्रित मन को परमात्मा में लगा दें। चित्त जब तक अन्य विषयों का चिंतन करता है तथा सांसारिक विषयों को ग्रहण करके उनके बारे में सोंचता है तब तब परमात्मा में ध्यान का लगना कठिन होता है। चूंकि हम सब संसार में रहे है और वर्तमान में भी रह रहे है। इस कारण मन और बुद्धि में संसार ही भरा हुआ है उसे हटाने के लिए धीरे–धीरे धैर्य युक्त बुद्धि को उपराम करना चाहिए। बुद्धि चूंकि नियंत्रणात्मक सत्ता है इस कारण बुद्धि जब धीरतापूर्वक परमात्मा में ही अपना विनिश्चय करने लगती है तब ध्यान की क्रिया में हमें सफलता प्राप्त हो जाती है।

हम जन्म से पूर्व परमात्मा के साथ थे उसकी सत्ता की सान्निध्यता में थे और मृत्यु के पश्चात् भी उसी की ओर जाना है। यह जीवन जो प्राप्त हुआ है वह भी जन्म से पूर्व तथा मृत्यु के पश्चात् भी परमात्मा की सान्निध्यता की अनुभूति हेतु हमें मिला हुआ है। यह तथ्य हम विस्मृत कर देते है। संसार में हम कुछ भी करें जीवन भर जैसा चाहें वैसा करें परन्तु हम अपनी मनमानी से जो कुछ भी कर सकते हैं वह सबका सब अंततः छूटने वाला ही है। इस कारण अंततः यह सब कुछ जो कुछ हमारे पास है जिससे हम सम्पर्क बनाये हुए है। वह यथार्थता में हमारा नहीं है इस कारण एक मात्र परमात्मा की सत्ता का आभास हमें करना चाहिए। हम अधिकांशतः अपनी वस्तुओं तथा सम्पर्कित वस्तुओं के कारण ही ध्यान से विमुख होते है। उस सत्ता को जब हम स्वप्नवत् मान लेते है तो भी एक मात्र परमात्मा ही अवशेष रह जाता है और उस एक मात्र परमात्मा की सत्ता में हम खो जाते हैं।

हमारा ध्यान उसमें लगता है तथा अंततः हमें पूर्णता प्राप्त हो जाती है। हम जो भी हैं, जैसे भी हैं जिस स्थिति में हैं अंततः हमें मृत्यु के पश्चात् उस परमात्मा से ही मिलना है दूसरा कोई विकल्प नहीं है तो हमें जीवन काल में उसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। यह प्रयास तभी संभव होगा जब हम संसार के प्रति आसक्ति का परित्याग करे और उस आसक्ति का विनाश करके एक मात्र परमात्मा में संलग्न हो जाए। जब तक सांसारिक आसक्ति रहेगी तब तक हम उस परमात्मा का ध्यान नहीं कर सकेंगे। संसार के प्रति आसक्ति और संसार के प्रति हमारी सान्निध्यता हमारे ध्यान में

बाधक है। इस बाधा को हमें समाप्त करना चाहिए और एक मात्र परमात्मा में ही ध्यान लगाना चाहिए। यही श्री भगवान के **आत्मन्यैव वशं नयेत्** का अभिप्राय है।

ध्यान की क्रिया के सम्पादन में साधक को क्या प्राप्त होता है ? तथा उसे किस प्रकार की अनुभूति होती है ? इस तथ्य का वर्णन श्री भगवान अग्रिम दो श्लोको में कर रहे है –

ध्यान योग की विशिष्ट क्रिया का परिणाम :–

मूल श्लोक – 27

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।

पदच्छेद

प्रशान्तमनसमम्, हि, एनम्, योगिनम्, सुखम्, उत्तमम्
उपैति, शान्तरजसम, ब्रह्मभूतम्, अकल्मषम्।।

मूल श्लोक – 28

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषाः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।

पदच्छेद –

युञ्जन्, एवम्, सदा, आत्मानम्, योगी, विगतकल्मषः,
सुखेन्, ब्रह्मसंस्पर्शम्, अत्यन्तम्, सुखम्, अश्नुते।।

भावार्थ : (पूर्वोक्त प्रकार की योग साधना से) जो पाप रहित हो चुका है जिसके रजोगुण का शमन हो गया है। जिस मन भली प्रकार शान्त हो गया है इस ब्रह्मस्वरूप योगी को निसंदेह ही उत्तम सुख उपलब्ध होता है। ऐसे स्वयं को निरन्तर श्री भगवान में स्थापित करता हुआ पाप से विगत योगी सुख से ब्रह्म के स्पर्शरूपी अत्यंत सुख का आभास करता है।

व्याख्या : ध्यान योग के साधन से, सम्पादन से लाभ प्राप्त होता है। सामान्य लोगों को जगत में अनेक प्रकार की चेष्टाओं, क्रियाकलापों से लाभ होता है, क्योंकि चेष्टाओं और क्रियाकलापों में जो भी कार्य होता है, व्यवसाय होता है, वह लाभ के लिए किया जाता है। कभी–कभी लाभ के लिए किये जाने वाले व्यवसाय में हानि भी हो जाती है क्योंकि लाभ होना अनिवार्य नहीं है। परन्तु ध्यान के साधन से जो लाभ होता है वह निश्चित ही होता है। श्री भगवान ने अपने कथन में साधन से तीन लाभ कहे है। 1– मन का भली प्रकार शान्त हो जाना। 2– साधक के पापों का क्षय हो जाना। 3– रजो गुण का भली प्रकार शमन हो जाना। इन तीनों प्रकार के लाभों का वर्णन पहले किया जा रहा है और तीनों स्थितियों को प्राप्त करने से जो अनुभूति होती है उसका वर्णन पश्चात् में किया जाएगा–

1– ध्यान योगी शान्त मन वाला हो जाता है (प्रशान्तमनसम्):–

ध्यान योग के आचरण से मन शान्त हो जाता है। आसन पर बैठकर ध्यान हो अथवा अन्य स्थितियों में अर्थात् उठते बैठते, चलते फिरते ध्यान हों, प्रत्येक स्थिति में ध्यान मन की शान्ति का कारण होता है। ध्यान चाहें बैठकर हो अथवा प्रत्येक समय परमात्मा के स्मरण, चिंतन से हो प्रत्येक प्रकार के ध्यान से साधक का मन शान्त हो जाता है, परन्तु परमात्मा के सर्वकालिक स्मरण से साधक का मन बहुत शान्त हो जाता है, जिसे पूर्ण शान्त कहना चाहिए। क्योकि पूर्णकालिक ध्यान योगी संसार का चिंतन ही नहीं करता है और एक मात्र परमात्मा में स्थित रहता है। संसार के ध्यान से अशान्ति प्राप्त होती है और परमात्मा के ध्यान से शान्ति सहजता से मिलती है और पूर्णकालिक ध्यान से पूर्णशान्ति प्राप्त हो जाती है। ध्यान का अर्थ ही चिंतन और स्मरण से सम्बंध रखता है। ध्यान की पूर्णता और अपूर्णता की दो स्थितियां है। ध्यान की पूर्णतः परमात्मा का सर्वकालिक चिंतन है और अपूर्णता परमात्मा का तथा संसार का साथ–साथ चिंतन है। संसार का तथा परमात्मा का दोनों का क्रम से जब तक चिंतन होता रहता है तब तक न तो ध्यान की सिद्धि होती है और न ही मन की पूर्ण शान्ति की स्थिति प्राप्त होती है। श्री भगवान ने इस स्थान पर **प्रशान्तमनसम्** शब्द कहे हैं, उनका संकेत उस ध्यान योगी की ओर है जो परमात्मा के स्मरण चिंतन में डूब जाता है और जिसने अपना मन पूर्ण रूप से परमात्मा में समाहित कर दिया है। ऐसा साधक शान्त हो जाता है और सांसारिक चेष्टाओं को समग्रता से विराम दे देता है।

2– प्रशान्त मन वाले ध्यान योगी के लक्षण :–

प्रशान्त मन वाला ध्यान योगी विशिष्ट गुणों से युक्त हो जाता और उसमें विशिष्ट लक्षणों का स्वतः ही प्रादुर्भाव होता है। ऐसा ध्यान योगी सांसारिक चेष्टाओं से पूर्ण मुक्त रहता है। प्रशान्त मन वाले ध्यान योगी के कुछ प्रमुख लक्षणों का आप अवलोकन कीजिए–

(क) प्रशान्त मन वाला ध्यान योगी कोई भी सांसारिक कामना नहीं करता है उसे जो कुछ भी सहजता से प्राप्त हो जाता है वह उसे ग्रहण कर लेता है तथा शान्त भाव से स्थित रहता है।

(ख) सुख दुःख, मान–अपमान, हानि–लाभ को एक समान भाव से देखता है। अर्थात् अनुकूलता और प्रतिकूलता में अपमान और सम्मान में, कुछ सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति में तथा खो जाने में भी एक समान रहता है।

(ग) प्रशान्त मन वाला योगी अपने हित और कल्याण की आकांक्षा का ही त्याग कर देता हैं और निःस्वार्थ तथा निष्काम भाव से समाज की सेवा को प्रमुख मानता हुआ उसी में संलग्न रहता है।

(घ) ईर्ष्या, द्वेष आदि द्वंद्वों से मुक्त हो जाता है। इस कारण वह किसी भी प्राणी के अहित अथवा अकल्याण की बात पर कदापि विचार नहीं करता है।

(ङ) मन के शान्त हो जाने से अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाओं का स्वतः ही विनाश हो जाता है। कामनाओं के विनाश होने पर कामनाओं की पूर्ति हेतु जो भी प्रयास रहता है वह उसे पूरी तरह से समाप्त कर देता है।

(च) सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के प्रति चेष्टा विहीन हो जाता है। इस कारण वह संसार में रहकर भी आवश्यक और अनावश्यक चेष्टा नहीं करता है।

(छ) समस्त मनुष्यों के प्रति उदासीनवत् भाव से व्यवहार करता है। उसका न तो कोई प्रिय होता है और न अप्रिय होता है। इसलिए वह संसार में किसी से किंचित मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं रखता है। **(ज)** प्रशान्त मन वाला साधक परमात्मा की सान्निध्यता का आभास कर लेता है तथा परमात्मा की निकटता का आभास कर लेने के कारण वह जगत में सबका प्रेमी और हित साधक हो जाता है।

(झ) क्रोध का परित्याग कर देने से वह कटुवचनों को सम्पूर्णता से त्याग देता है। प्रतिकूलताओं और स्वयं का अहित करने वाले मनुष्य के प्रति भी मृदुभाषी रहता है और सदैव प्रसन्न रहकर सबके साथ मृदभाषी आचरण करता है।

(ञ) संसार की सत्यता को जान लेने के कारण वह संसार से अपनी मोह और ममता का समापन कर देता है तथा संसार के प्रति उसमें स्नेह का भाव नहीं रह जाता है और वह स्नेह के प्रति उपेक्षा भाव रखकर अपना जीवन यापन करता है।

(ट) प्रशान्त मन वाले योगी का एक प्रमुख लक्षण है अहंकार से पूरी तरह निव्रृत्त हो जाना। ऐसा अहंकार रहित योगी अपने अस्तित्त्व का आभास नहीं करता है।

3– ध्यान योगी का रजोगुण पूरी तरह शान्त हो जाता है (शान्तरजसम्) :–

प्रकृति के द्वारा उत्पन्न तीन गुणों का वर्णन अनेक प्रकरणों में पहले भी हो चुका है। यह गुण सत्व, रज, और तम कहलाते है। सात्विक गुण, मल रहित, विकार रहित तथा प्रकाशक है। रजो गुण की उत्पत्ति तृष्णा और आसक्ति से होने के कारण उसका स्वरूप राग युक्त है। तमोगुण की उत्पत्ति अज्ञान से होती है इस कारण तमो गुण अंधकारयुक्त है। ध्यान योगी का रजोगुण पूरी तरह से शान्त हो जाता है तथा वह शुद्ध सत्वगुण अर्थात् जहां पर सुख और ज्ञान की आसक्ति नहीं है उसमें स्थित हो जाता है। ऐसा ध्यान योगी रजो गुण से पूरी तरह निवृत हो जाने के कारण **शान्तरजसम** कहा जाता है। ध्यान योगी किस प्रकार से रजो गुण से निवृत्त होकर शान्त हो जाता है इसका अवलोकन कीजिए–

(क) रजोगुण का स्वरूप :–

रजोगुण राग स्वरूप हैं, इस कारण जब मनुष्य रजोगुण से आवृत हो जाता है तब उसमें सांसारिक वस्तुओं, विषय भोगों में अच्छे पन का स्वतः ही आभास होता है। ऐसा व्यक्ति सासांरिक भोगों को प्राप्त करने की इच्छा करता है। राग का स्पष्ट अर्थ है कि हमें संसार में जो प्रियता की प्रतीति होती है वह रजोगुण के कारण होती है। यदि रजोगुण न हो तो संसार में हम सभी विषय भोगों में अच्छापन का आभास न करें तथा विषय भोगों की ओर कदापि आकृष्ट न हो। इस कारण रजो गुण के स्वरूप के कारण ही मनुष्य संसार में आसक्त रहता है और नाना प्रकार के भोगों को भोगने की इच्छा रखता है। ध्यान योगी का रजोगुण पूर्ण शान्त हो जाता है इस कारण उसमें सांसारिक भोगों को भोगने की इच्छा का अभाव हो जाता है। सांसारिक भोगों के प्रति उसकी प्रवृत्ति शान्त हो जाती है और ऐसा व्यक्ति संसार में प्रवृत नहीं होना चाहता।

(ख) रजोगुण की उत्पत्ति :–

रजोगुण की उत्पत्ति तृष्णा तथा संग अर्थात् आसक्ति से होती है। मनुष्य की प्रकृति तृष्णायुक्त है। जैसे भूख, प्यास भी एक प्रकार की तृष्णा है जो भोजन और जल के ग्रहण कर लेने के पश्चात् शान्त हो जाती है। इसी प्रकार शरीर में जितनी इन्द्रियां है उन सबमें विषय भोगों के प्रति प्रवृत्ति रहती है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने गुणों के अनुसार तृष्णा रखती है। तृष्णा की विशेषता है कि सांसारिक भोगों के प्रति कमी का अर्थात् अभाव का आभास कराना। भोजन करने से भूख समाप्त हो जाती है परन्तु तृष्णा के कारण वह पुनः प्रकट हो जाती है। हम जब सांसारिक विषयों को देखते है तो उनके प्रति हमे आसक्ति उत्पन्न हो जाती हैं सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति तथा तृष्णा रजोगुण की उत्पत्ति का कारण है। ध्यान योगी की सांसारिक वस्तुओं के प्रति तृष्णा और असक्ति समाप्त हो जाती है। तृष्णा और आसक्ति के समापन के कारण रजोगुण शान्त हो जाता है। वह राग उत्पन्न करने की स्थिति में नहीं रहता।

(ग) रजोगुण की वृत्तियां :–

रजोगुण की प्रमुख पांच वृत्तियां है जिन्हे 1– लोभ 2– प्रवृत्ति 3– कर्मो का आरम्भ 4– अशान्ति तथा 5– स्पृहा कहा जाता है। प्रत्येक मनुष्य को परमात्मा ने जीवन निर्वाह की वस्तुएं उसकी आवश्यकता के आधार पर उपलब्ध करा दी है। जब मनुष्य परमात्मा के द्वारा उपलब्ध करायी गई वस्तुओं से संतुष्ट न रहकर अधिक से अधिक वस्तुओं की आकांक्षा करता है और उन आकाक्षाओं को बढाता जाता है तो इसे लोभ कहते है। मनुष्य की विभिन्न प्रकार की संसारिक कर्मो की ओर स्वतः ही उन्मुखता रहती है। यह उन्मुखतः राजसी गुणों के कारण होती है। इसी उन्मुखता को प्रवृत्ति कहा जाता है। यदि सांसारिक कर्मो की ओर उन्मुखता न हो तो मनुष्य अपने को अनिवार्य कर्मो तक ही अपने को सीमित कर लेगा।

राजसी गुण के प्रभाव से ही मनुष्य नये नये सांसारिक कर्मो का आरम्भ कर देता है। रजो गुण मनुष्य को अनेक नवीन कर्मो की प्रेरणा देता रहता है, जिससे उसे धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति होती है। लोभ प्रवृत्ति तथा नवीन कर्मो के आरम्भ के कारण ही मनुष्य में अशान्ति का स्वतः प्रादुर्भाव हो जाता है तथा जीवन में अनेक वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीति होने लगती है। इसी को स्पृहा कहा जाता है। ध्यान योगी का रजोगुण पूर्ण शान्त हो जाता है। इस कारण उसमें लोभ, प्रवृत्ति,

कर्मो का आरम्भ करना तथा स्पृहा का अन्त हो जाता है। रजोगुणी की समस्त वस्तुओं का अभाव हो जाने से ध्यान योगी पूर्ण शान्त हो जाता है।

श्री भगवान ने रजोगुण के शान्त होने का तथ्य कहा है उसका अर्थ है कि ध्यान योगी जब पूर्णतः को प्राप्त कर लेता है तब उसमें रजोगुण का सर्वथा अभाव हो जाता है। सात्विक गुण की प्रवृत्ति सुख और ज्ञान की आसक्ति भी समाप्त हो जाती है। चूंकि ध्यान की पूर्णतः की प्राप्ति में रजोगुण की वृत्तियां विशेष बाधक है, इस कारण श्री भगवान ने रजोगुण की पूर्ण शान्ति का तथ्य वर्णित किया है। वस्तुतः ध्यानयोगी समस्त कामनाओं से निवृत होकर पूर्ण शान्त हो जाता है। कामनाओं के समापन से रजोगुण की निवृत्ति विशेष है। जब कामनाएं ही नहीं रहेगी तो उसके लिए लोभ, अशान्ति, स्पृहा, प्रवृत्ति और नवीन कर्मो का स्वतः ही समापन हो जाएगा।

4– ध्यान योगी समस्त पापों से मुक्त हो जाता है (अकल्मषम्)।

ध्यान योगी समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। पाप दो प्रकार के होते है एक पूर्व जन्म के अशास्त्र संगत कर्मो के परिणाम के रूप में तथा दूसरे इस वर्तमान जन्म के दुष्कर्मो के परिणाम के रूप में। ध्यानयोगी दोनों प्रकार के पापो से मुक्त हो जाता है। पापों से उन्मोचित होने का एक सिद्धान्त है। नये दुष्कर्मो का सम्पादन न करना तथा पूर्व के संचित कर्मो का ज्ञान के द्वारा नष्ट कर देना। ध्यान योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है जिससे वह नवीन दुष्कर्मो से तो सर्वथा विलग हो जाता है और संचित पापों का विनाश कर देता है। अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही समस्त प्रकार के दुष्कर्मो से विनाश का श्रेष्ठ उपाय है। ध्यान योगी स्वस्वरूप में स्थित होकर अपने पापों का क्षय कर देता है और सर्वथा पाप मुक्त हो जाता है।

पापों का क्षय अथवा उन्मोचन सहज नहीं है। मनुष्य पूजा, जप तथा यज्ञादिक कर्मो से पापों का सम्पूर्णता से क्षय नहीं कर सकता है। जब तक उसकी स्वस्वरूप में स्थिति नहीं होती है तब तक पापों का क्षय कदापि नहीं होता है और संचित कर्म हमें परिणाम देते रहते है। हम परिणामों के चलते नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेते है। स्वस्वरूप में स्थिति होने पर ध्यान योगी के सम्पूर्ण संचित कर्म स्वतः ही विनिष्ट हो जाते हैं। इसी कारण श्री भगवान ने ध्यान योगी की पूर्णतः की स्थिति के प्रकरण में यह तथ्य कहा है कि ध्यान योगी समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। वस्तुतः पूर्णतः प्राप्त होते ही ध्यान योगी समस्त पाप कर्मो से स्वतः ही अवमुक्त हो जाता है।

5– ब्रह्म स्वरूप योगी क्या है? (ब्रह्मभूतमकल्मषम्)

मनुष्य को सिद्धि प्राप्त करने में तीन तथ्व प्रमुख रूप से बाधक है। 1– मन का अशान्त रहना 2– रजोगुण में प्रवृत्ति रहना तथा 3– संचित पापों का प्रभाव रहना। इन तथ्यों के रहते हुए मनुष्य को सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। यह तीन तत्त्व इस प्रकार बाधक है इसका अवलोकन कीजिए।

(क) मन का अशान्त रहना :–मन जब किसी भी कारणवश अशान्त रहता है तब भी तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। तत्त्व प्राप्ति के लिए मन का पूर्ण शान्त होना अनिवार्य है। मन किस कारण से अशान्त रहता है ? जब तक उसका कारण नहीं जाना जाता, तब तक उसका निवारण भी संभव नहीं होता। यह तो साधक ही जानता है किन किन कारणों से मन अशान्त है ? मन जिस कारण से अथवा जिन कारणों से अशान्त होता है उन कारणों से समाप्त किया जाना सांसारिक उपाय है। उन कारणों की आवश्यकता को समाप्त करना आध्यात्मिक उपाय है। हम मन की अशान्ति के कारणों को आध्यात्मिक उपायों द्वारा समाप्त कर सकते हैं जब तक ऐसा नही करते हैं तब तक मन अशान्त रहेगा और हमें तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकेगी।

(ख) रजोगुण में प्रवृत्ति रहना :–जब तक साधक की रजोगुण में प्रवृत्ति रहती है तब तक वह रजोगुण के कार्य रूप लोभ, प्रवृत्ति, कर्मो के आरम्भ, स्पृहा तथा अशान्ति से आवृत रहता है। सांसारिक कामनाओं में संलग्न हो जाता है। लोभ से भी कामनाओं में भी प्रवृत्ति रहती है और अनेक प्रकार के कर्मो से भी कामनाओं की पूर्ति की जाती है तथा अनेक सांसारिक वस्तुओं की कमी का आभास भी मनुष्य को रजोगुण में प्रवृत्त रखता है। कुल मिलाकर कामनाएं ही रजोगुण का प्रतिरूप जिनके रहते साधक को सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती है। साधक कोई भी सांसारिक कामना करता है तो यह सिद्धि में प्रत्यक्ष रूप से बाधक है। निस्वार्थ सेवा, नैतिक उत्थान के उपाय रूपी कर्म इसमें नहीं आते है। इसके अतिरिक्त जितनी भी कामनाएं है वे रजोगुण का प्रतिरूप होने से साधक की सिद्धि में बाधा उत्पन्न करती है।

(ग) संचित पाप कर्मो के रहने तक :– जब तक पाप कर्मो का संचय रहता है अर्थात् मनुष्य के संचित पाप कर्म रहते हैं तब तक साधना की सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती है और मनुष्य उन्हीं के परिणाम में उलझा रहता है, क्योंकि संचित पाप परिणाम देने को उन्मुख रहते है और उनका प्रभाव मनुष्य पर रहता है। संचित पाप कर्मो के प्रभाव से

मनुष्य के मार्ग में निरन्तर प्रतिकूलताएं आती रहती है, जिससे उसका मन उद्विग्न हो जाता है और सिद्धि से विमुख होता है। उद्विग्न साधक की साधना निश्चित रूप से बाधक हो जाती है क्योंकि उद्विग्नता साधन में बहुत बाधक है। संचित पाप कर्मो का क्षय, पूर्ण विनाश ज्ञान से ही होता है। ज्ञान से साधक के समस्त संचित कर्म ही भस्म हो सकते हैं। इस कारण संचित पाप कर्मो के रहने तक सिद्धि प्राप्त नहीं होती है।

मन को पूर्ण शान्त करके, रजोगुण को पूर्ण शान्त करके तथा संचित पाप कर्मो का पूर्ण क्षय करके ही साधक तत्त्वदर्शी हो जाता है। तत्त्वदर्शी साधक को ब्रह्मस्वरूप कहा जाता है। ब्रह्मस्वरूप साधक आत्मा और परमात्मा की एकरूपता के तत्त्व को जान जाता है और उसका आभास करता है। ब्रह्म के मुख्य गुण है, निःस्वार्थ सेवा तथा सासांरिक संलिप्ता से पृथक् रहना। वैसे ही ब्रह्मस्वरूप साधक भी संसार से निर्लिप्त रहकर निष्काम भाव से संसार की सेवा करता है और स्वार्थ रहित होकर परमात्मा की अनुभूति का नित्य आस्वादन करता है।

6– ब्रह्मस्वरूप योगी उत्तम सुख प्राप्त करता है (सुखमुत्तमं उपैति) :–

ब्रह्मस्वरूप सुख अनिर्वचनीय कहा जाता है। अनिर्वचनीय का अर्थ है कि वाणी उस सुख का वर्णन करने में सक्षम और समर्थ नहीं होती है। ब्रह्म सुख का अनुभव और आभास किया जाता है। श्री भगवान ने ब्रह्मस्वरूप योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है ऐसा कहा है। जगत में जितने प्रकार के सुख हैं उन सबसे ब्रह्मसुख उत्कृष्ट और अति उत्तम है। संसार के सुखों का आभास इन्द्रिय, मन बुद्धि से होता है। परन्तु ब्रह्मसुख का आभास इन्द्रिय, मन, बुद्धि से नहीं होता है। यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। ब्रह्मसुख के आधार को इन्द्रिय, मन, बुद्धि नहीं जानती और न ही उसे ग्रहण ही कर सकती है। वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती है। इस कारण ही उसे अनिर्वचनीय कहा जाता हैं। वाणी द्वारा जब ब्रह्मसुख वर्णन के योग्य नहीं है तो उसकी व्याख्या भी संभव नहीं है परन्तु उसके अनुभव की व्याख्या संभव है। इस क्रम में पहले सुखों की व्याख्या तत्पश्चात् उनका तुलनात्मक भाव प्रस्तुत किया जा रहा है जो ब्रह्मसुख को संकेत रूप से प्रकट करने हेतु ही है।

सांसारिक सुखों के तीन प्रकार हैं जिनका आभास 1– इन्द्रियों द्वारा 2– मन के द्वारा 3– बुद्धि के द्वारा किया जाता है। उन तीनों प्रकारों के सुखों के आभास का पृथक्–पृथक् अवलोकन कीजिए, तत्पश्चात् ब्रह्मसुख की ग्राह्यता का तथ्य भी देखिए।

(क) इन्द्रियों द्वारा आभास किये जाने वाले सुख :–

हमारी इन्द्रियां सांसारिक सुखों को ग्रहण करती हैं और इस ग्रहण करने में मन का सहयोग रहता है। अकेले इन्द्रिय किसी भी प्रकार के सुख को ग्रहण नहीं कर सकती है। हमारी इन्द्रियां मन के सहयोग से अपने अपने विषयों का सुख प्राप्त करती हैं वह सुख इन्द्रिय ग्राह्यसुख कहा जाता है। नेत्र मनोरम दृश्यों को, सुन्दर वस्तुओं और मनुष्यों को देखने में सुख का आभास करता है और नेत्र को इससे सुख प्राप्त होता है। यह तथ्य हम सभी जानते हैं कि यदि कोई सुन्दर वस्तु, दृश्य, व्यक्ति हमें प्रतीत होता है तो हम अचानक उसकी ओर आकर्षित हो जाते है, क्योंकि उस दृश्य को नेत्रों के द्वारा ग्रहण किया जा रहा है। यह सुख नेत्रों का सुख है। हमारे कान जब कोई मधुर गीत संगीत, स्वर, शब्द सुनते हैं तो हम उसकी ओर अनायास ही आकर्षित होते हैं क्योंकि उस उस शब्द की मधुरता को कान ने ग्रहण किया है और उस ध्वनि के सुख का आनन्द का आभास हम कानों द्वारा करते हैं। इसी प्रकार शरीर में जितनी भी इन्द्रियां है वे सब अपने विषयों और गुणों के अनुसार सुख को ग्रहण करती हैं। यह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले सुख को इन्द्रिय सुख कह सकते हैं।

(ख) मानसिक सुख :–

जिस सुख का आभास इन्द्रियों से नहीं वरन् मनुष्य होता है उस सुख को मानसिक सुख कहते हैं। जैसे कोई प्रसन्नता की सूचना प्राप्त हो, किसी व्यवस्था से हमें धन प्राप्त हो जाने तथा प्रतिकूल और उलझाव पूर्ण कार्यो को सुलझने की सूचना प्राप्त हो। वैसे ही किसी प्रकार की अन्य सांसारिक सफलता, किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होना, पुत्र आदि का जन्म होना आदि हर्षजनित कार्यो की सूचना जब हमें प्राप्त हो जाती है तो हम अनायास ही सुख का आभास करते हैं। इसी प्रकार यदि कोई बहुत बड़ा लाभ हो जाए, किसी प्रकरण में हमें विजय प्राप्त हो जाए कोई महत्वपूर्ण पद प्राप्त हो जाए आदि आदि ऐसी सूचनाएं है जिनकों प्राप्त करके हम मानसिक सुख का आभास करते हैं। इस प्रकार का सुख इन्द्रियों द्वारा अनुभव में नहीं आता है। मानसिक सुख का सम्बन्ध मन से होता है और वह सांसारिक सुख अनुभव किया जाता है, जिससे हम मानसिक सुख का आभास करते हैं।

(ग) बुद्धिग्राह्य सुख :–समस्त प्रकार के मानसिक सुखों का विनिश्चय बुद्धि के द्वारा होता है। पहले मन उस सुख का आभास करता है तब बुद्धि भी उस सुख की अनुभूति करती

है और अकेले मन ही मानसिक सुख का आभास नहीं करता है। जैसे हमें कोई शुभ सूचना जब प्राप्त होती है तो उस शुभ सूचना का ग्रहण मन के द्वारा होता है और उसका विनिश्चय बुद्धि के द्वारा होता है। इसलिए सभी मानसिक सुखों को बुद्धि ग्राह्य भी कहा जाता है। बुद्धि सुखों के अन्तर को स्पष्ट करती है तथा उसे संचित भी रखती है। इन्द्रिय ग्राह्य सुखों के अन्तर को भी बुद्धि के द्वारा जाना जाता है कि अमुक सुख इससे या उससे अलग प्रकार का है।

जैसे हमें दो प्रकार के भोजन पृथक्–पृथक् मिलते हैं और दोनों ही विशिष्ट व्यंजन हों तो बुद्धि यह विनिश्चय कर लेती है कि कौन सा व्यंजन श्रेष्ठ था? अर्थात् उत्तम श्रेणी का था। इस प्रकार प्रत्येक सुख के बारे में बुद्धि का विनिश्चय रहता है। समस्त प्रकार के सुखों का विनिश्चय बुद्धि के द्वारा होता है। इसलिए सबके सब बुद्धिग्राह्य होते है।

(घ) ब्रह्मसुख की ग्राह्यता :–

सामान्य मनुष्य संसार के सुखों को ग्रहण करता है और तत्त्वदर्शी मनुष्य ब्रह्मसुख का आभास करता है। यह शरीर और उसमें उपस्थित अवयव ही सुखों को ग्रहण करने का आधार हैं। संसार का सुख शरीर तथा उसके अवयवों अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि से ग्रहण किया जाता है परन्तु ब्रह्मसुख विशिष्ट सुख है जिसका मात्र आभास होता है तथा यह स्पष्ट हो जाता है कि जितने भी प्रकार के सांसारिक सुख हैं उनकी तुलना ब्रह्मसुख से नहीं हो सकती है। यह विनिश्चय बुद्धि कर लेती है। यह विशिष्ट तथ्य है कि ब्रह्मसुख का आभास बुद्धि से नहीं हो सकता है, क्योंकि वह बुद्धिग्राह्य नहीं है, परन्तु अन्तर का आभास होता है। बुद्धि संसार के सुख तथा ब्रह्मसुख के अन्तर का आभास कर लेती है और उसे जानती है। यही ब्रह्मसुख की ग्राह्यता है।

7– बह्म स्पर्श रूपी अत्यंत सुख का अनुभव (ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते) :–

ब्रह्मसुख की अनुभूति के लिए श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक में एक तथ्य स्पष्ट किया है कि ब्रह्मसुख सिद्ध पुरूष ब्रह्म के स्पर्शरूपी अत्यंत सुख का आभास करता है। तत्त्वदर्शी मनुष्य को ब्रह्म की अनुभूति तथा इसका स्पर्श होता है। यह मात्र प्रयोगात्मक और अनुभव का विषय है। ब्रह्म स्वरूप संसार के अन्य स्पर्शो से अर्थात् संसार की समस्त स्पर्शो से विगत हो जाता है। ऐसा होने के कारण ही उसे ब्रह्म का स्पर्श होने

लगता है। परमात्मा इस जगत में सर्वत्र है और कण–कण में उसकी उपस्थिति का तथ्य कहा जाता है। परमात्मा हमारे अंदर भी है और बाहर भी है। हमारे अन्दर और बाहर होने पर भी हम उसका आभास नहीं कर पा रहे हैं। ऐसा किन कारणों से होता है।

हम परमात्मा का आभास उसके सर्वत्र रहने के पश्चात भी इस कारण नहीं कर पा रहे हैं, क्योंकि हम संसार का स्पर्श कर रहे हैं। संसार में रह रहे हैं। इस कारण उसके आभास और स्पर्श से वंचित है। जिस प्रकार हम संसार की वस्तुओं का आभास करते हैं उसी प्रकार परमात्मा का हमें आभास हो सकता है। उसका स्पर्श हो सकता है, परन्तु इसके लिए संसार के स्पर्श और आभास का पूर्ण परित्याग करना पड़ता है जब तक हम संसार का आभास करते हैं तब तक ब्रह्म हमारे आभास से पृथक् रहता है। हम उसका रंचमात्र भी आभास नहीं कर सकते हैं। संसार के आभास को समाप्त करते ही हम उस परमात्मा का आभास करने लगते हैं। संसार के आभास से पृथक् आत्यंतिक सुख का आभास ब्रह्मवेत्ता को होता है। ब्रह्म का स्पर्श कैसे होता है ? और उससे कैसे सुख प्राप्त होता है? इस तथ्य को स्पष्ट करना आवश्यक है। इन दोनों तथ्यों का अवलोकन कीजिए–

8– ब्रह्म का संस्पर्श कैसे होता है? सुख कैसे मिलता है? :–

सिद्धावस्था में संसार का विचारण, चिंतन और विनिश्चय समाप्त हो जाता है तथा परमात्मा का विचारण, चितन, विनिश्चय अवशेष रहता है। उसका आभास सिद्ध कर सकता है और करता है। यह चिंतन, विचारण, विनिश्चय हमें परमात्मा में स्थापित कर देता है। यह घटना कुछ इस प्रकार की है कि हम कहीं एकान्त में किन्हीं मधुर स्मृतियों में जब खो जाते हैं तो हमारे और मधुर स्मृतियों के बीच केवल पूर्व की घटनाएं होती हैं। हमें लगता है जहां पर अर्थात् जिस स्थान पर मधुर स्मृतियों की घटनाएं घटित हुईं थीं, वहीं पर हम हैं, परन्तु वस्तुतः हम अन्यत्र होते हैं। वे मधुर स्मृतियों के सहारे हम अन्यत्र होते हुए भी उनका उसी स्थल पर आभास करते हैं जहां पर वे घटित हुई थीं। वे मधुर स्मृतियां ही हमें खोने को बाध्य करती हैं।

सिद्धावस्था में मनुष्य भी कुछ ऐसी ही परिस्थितियों, वातावरण, विचारण, चिंतन और विनिश्चय के द्वारा परमात्मा में स्थित हो जाता है तथा स्थित रहता है। यह स्थिति सिद्ध को ब्रह्म का स्पर्श कराती है जैसे शिशु अवस्था में आपने शिशु को मुस्कुराते हुए देखा होगा। एक शिशु संसार को नहीं जानता है परन्तु वह कभी–कभी मुस्कुराता है

इसका अर्थ है कि वह कुछ विशिष्ट अनुभव कर रहा है। यदि वह विशिष्ट अनुभव न करता तो मुस्कुराता नहीं। वैसे ही सिद्धावस्था में भी परमात्मा की अनुभूति रहती है। उसका स्पर्श होता हुआ आभासित होता है और दिखता है। इस कारण सुख स्पर्श से सिद्ध प्रसन्न रहता है। उसके मुख पर विशिष्ट प्रकार की प्रसन्नता का प्रकटीकरण रहता है। यह स्पष्ट देखा जा सकता है।

संसार का कोई सुख हमें प्राप्त होता है अर्थात् संसार के सुख के संयोग से हमें सुख का आभास होता है और मुख पर प्रसन्नता का प्रकटीकरण होता है। यह सुख क्यों मिला है? क्योंकि किसी सांसारिक सुख का आभास हमें हुआ। अपने प्रिय व्यक्ति का मिलन आदि होना, हमें अन्दर से कितना प्रसन्न करता है? इसका हम आभास सहजता से कर सकते है। हम जब अपने प्रिय व्यक्ति से मिलते हैं तो हम कितने सुखी होते हैं? जब उस प्रिय व्यक्ति का सम्बन्ध बहुत कम समय के लिए ही है। उस परमात्मा का और हमारा सम्बन्ध आदिकाल से है। सृष्टि के आरम्भ से है, लाखों वर्षों पुराना है, यदि उसका स्पर्श हो जाए तो हमें अपार और असीम आनन्द व सुख का आभास होता है।

इस आनन्द और सुख का वर्णन संभव नहीं है। ब्रह्म की अनुभूति शरीर से, मन से, बुद्धि से होती है। सिद्ध के प्रतिदिन के व्यवहार में उसका आभास रहता है। वह परमात्मा की अनुभूति विभिन्न प्रकार से कर लेता है। शरीर अनुभूति करता है, मन आभास करता है और बुद्धि उस अनुभूति और आभास का विनिश्चय कर लेती है। ऐसी घटनाएं होती हैं, होती रहती हैं। उसे परमात्मा की सत्ता की स्पष्ट अनुभूति होती है। यह सामान्य व्यक्ति नहीं करता है और न ही साधन की प्राथमिक स्थिति में ऐसा होता है। यह सिद्धावस्था की अनुभूति है, जिसका आभास सिद्ध को हो सकता है। प्रकृति सिद्ध का आदेश मानती है क्योंकि ब्रह्मस्वरूप ब्रह्म की निकटता प्राप्त कर लेता है। उसकी निकटता का सुख विलक्षण है जिसका आभास सिद्धावस्था में होता है। ब्रम्ह की निकटता, सान्निध्यता स्पर्श अनुभव का विषय है, जिसे वर्णन से अधिक आभासित किया जाता है।

9– पापों से विगत हुआ ध्यान योगी स्वयं को तत्वों में संलग्न रखता है (युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः) :–

जब तक मनुष्य पाप युक्त रहता है तब तक परमात्मा में पूर्ण समाहित नहीं हो सकता है। पाप रहित हो जाने पर उत्कृष्ट साधक की स्थिति आ जाती है और वह

तत्त्व के निकट आ जाता है। संसार में रहने की इच्छा का अभाव हो जाता है तथा तत्त्व में रहने की इच्छा प्रबल हो जाती है। यह पापों से निवृत्ति होने के कारण होता है। पाप युक्त मनुष्य को पापों का परिणाम अर्थात् फल साधना में बाधा पहुंचाते रहते हैं। पाप रहित मनुष्य का चित्त सिद्ध हो जाता है।

इस कारण वह अपने को तत्त्व प्राप्ति की ओर उन्मुख कर लेता है। ध्यान योगी प्रयास से अपने को तत्त्व में स्थापित करने हेतु उद्यत रहता है उसका सांसारिक प्रयास शून्य हो जाता है वह संसार को नहीं पाना चाहता है। केवल तत्त्व को पाना चाहता है और उसी के लिए प्रयास करता रहता है इस कारण ऐसा पाप रहित ध्यान योगी अपने को तत्त्व में संलग्न रखता है।

परमात्मा में संलग्न होने से संसार स्वतः ही विलग हो जाता है। यह परमात्मतत्त्व की ओर उन्मुख होने की विशेषता है। जब तक हम परमात्मा की ओर उन्मुख नहीं होते है तब तक हमें संसार में प्रियता का आभास रहता है। इसी कारण हम संसार में लगे रहते हैं। श्री भगवान ने **युञ्जन** शब्द का प्रयोग करके यह तथ्य स्पष्ट किया है कि ध्यान योगी साधक परमात्मा की ओर अर्थात् तत्त्वदर्शन की ओर लग जाता है। वह साधक संसार का त्याग स्वतः करने लगता है।

सुखेन् अर्थात् सुखपूर्वक वह संसार को छोडकर और तत्त्व की ओर चल देता है। संसार से छूटना प्रयास से तत्त्व की ओर उन्मुख होने का भी यही अभिप्राय है। साधक इसी में लगता है और उसमें अच्छापन का आभास होता है। संसार में भी लगने का कारण है कि हमें संसार में अच्छेपन का आभास होता है। साधन में सुखपूर्वक परमात्मा की ओर मुड जाना और मुड़ने के पश्चात् ब्रह्म की अनुभूति करना और ऐसा कर लेने के पश्चात् पुनः पुनः संसार में मन नहीं टिकता है। इसलिए साधक तत्त्व में लगा रहता है। तत्त्व का आभास धीरे–धीरे कर लेता है। ऐसा साधक **विगतकल्मषः** अर्थात् पापरहित हो जाता है। परमात्मा की अनुभूति इस ध्यान क्रिया का परिणाम है जिसकी व्याख्या हेतु श्रीभगवान ने उपर्युक्त श्लोक कहे थे।

साधन में साधक को कैसी अनुभूति होती है? इस अनुभूति का वर्णन श्रीभगवान अग्रिम दो श्लोकों में कर रहे है–

योगी की अनुभूति और स्थिति :–

मूल श्लोक – 29

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः।।

पदच्छेद –

सर्वभूतस्थम्, आत्मानम्, सर्वभूतानि, च, आत्मनि,

ईक्षते, योगयुक्तात्मा, सर्वत्र, समदर्शनः।।

मूल श्लोक – 30

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

पदच्छेद –

यः माम्, पश्यति, सर्वत्र, सर्वम्, च, मयि, पश्यति

तस्य, अहम्, न प्रणश्यामि, सः, च, मे, न, प्रणश्यति।।

भावार्थ : ध्यान योगी साधक सर्वत्र समदर्शी स्वस्वरूप को समस्त भूत प्राणियों में स्थित देखता है तथा समस्त भूत प्राणियों को अपने में देखता है। इस प्रकार जो साधक सर्वत्र मेरे को देखता है तथा मुझमें सभी को देखता है उस साधक के लिए मैं प्रत्यक्ष रहता हूँ और वह मेरे लिए प्रत्यक्ष रहता है।

व्याख्या : उपरोक्त दोनों श्लोकों में समस्त भूत प्राणियों में आत्मदर्शन एवं परमात्मा दर्शन तथा आत्मा में समस्त प्राणियों में देखना तथा परमात्मा में समस्त प्राणियों को देखने के भाव विशिष्ट हैं। दोनों श्लोकों के भावार्थ में एकरूपता सी है। जिसे स्पष्ट समझ सकते हैं। सर्वत्र अपने स्वरूप को देखना = सर्वत्र परमात्मा को देखना। अपने

स्वरूप को समस्त प्राणियों में देखना = परमात्मा को समस्त प्राणियों में देखना। इन भावों की विशिष्टता सी लगती है। भगवान ने दोनों श्लोकों में विशिष्ट भावों को भरा है। प्रकट किया है। इन समस्त भावों का पृथक्–पृथक् क्रमशः भावपूर्ण अवलोकन कीजिए–

1– सर्वत्र स्वस्वरूप को देखना क्या है ? (सर्वत्र समदर्शनः) :–

परमात्मा के अंश जीवात्मा से समस्त प्राणी चेतन हैं। अर्थात् समस्त प्राणियों में जो चेतना है वह जीवात्मा के कारण है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है, इसे शरीरी और देही आदि नामों से भी कहा जाता है। जीवात्मा को परमात्मा की पराप्रकृति भी कहते हैं। जीवात्मा के परिमाण के बारे में शास्त्रों में उल्लेख है कि जीवात्मा परिमाण में बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के बराबर है। इसके परिमाण के बारे में अनुमान लगाकर यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि जीवात्मा अति सूक्ष्म से सूक्ष्मतम् है। समस्त जीवों को जीवात्मा ही जीवित किये हुए है। एक विशाल हाथी में उतनी ही बड़ी जीवात्मा है और एक छोटी चींटी में भी उतने ही परिमाण की अति सूक्ष्म जीवात्मा हाथी को भी क्रियाशील बनाए है और चींटी को भी क्रियाशील बनाए हुए है। यह तथ्य अतिविशिष्ट, विलक्षण और आश्चर्यजनक तथ्य है कि एक हाथी जैसा विशालकाय जीव उस अतिसूक्ष्म जीवात्मा से संचालित होता है, चेष्टा करता है और उतनी ही सूक्ष्म जीवात्मा एक चींटी को की गतिशील रखती है और उससे नाना प्रकार की चेष्टाएं करवाती है। जब तक हाथी जीवित रहता है तब तक वही अति सूक्ष्म जीवात्मा उसके विशालकाय शरीर को चलाती रहती है। चींटी भी अपने जीवनकाल में उस अति सूक्ष्म जीवात्मा से चेतन रहती है और छोटे–छोटे पैरों की सहायता से तेजी से भागती है यह सब परमात्मा के अंश की विलक्षणता है।

एक हाथी और चींटी में जो जीवात्मा है वह समस्त मनुष्यों में भी है। वह परमात्मा का अंश है जो चींटी में है, वही हाथी में है, वही समग्र प्राणियों में है। उसमें अंतर नहीं है। संसार के अनेक जीवों के आकारों में अन्तर है परन्तु जीवों की चेतनता का जो आधार है उसमें अंतर नहीं है। समस्त जीव मृत्यु को निश्चित प्राप्त होंगे। मृत्यु के उपरान्त शरीर जो भी है जैसा भी है विनिष्ट होने वाला है। रहने वाला नहीं है। मात्र जीवात्मा ही अवशेष रहेगी। उसका अस्तित्त्व रहेगा । वह जीवात्मा एक जैसी है। यह तथ्य गहनता से ग्रहण करने योग्य है और समझने योग्य है। साधारणतया हम अनेक प्रकार के जीवों में विविधता का आभास करते हैं, जबकि जीवन का आधारभूत तत्त्व

समस्त जीवों में एक ही है। इस तथ्य को जो साधक समझ जाता है वह सबके प्रति सम हो जाता है। अपने शरीर में जो जीवात्मा स्थित है उसी प्रकार अन्य शरीरों में है ऐसा वह सर्वत्र देखता है। समस्त जीवों में तथा अपने शरीर में स्थित जीवात्मा को एक समान देखना ही सर्वत्र स्वस्वरूप को देखना है और समदर्शी होना है।

2– अपने स्वरूप को समस्त प्राणियों में देखना (सर्वभूतस्थमात्मानं ईक्षते) :–

जीवात्मा के अनेक गुण हैं। सभी विशिष्ट हैं क्योंकि वह जीवात्मा परमात्मा का अंश है। जीवात्मा के विशिष्ट गुण जानकर ही उसकी विशेषता का आभास किया जा सकता है। जब तक किसी व्यक्ति के विशिष्ट गुण हमें ज्ञात नहीं होते हैं, तब तक उसकी स्थिति का, उसकी विशिष्टता का आभास हमें नहीं होता है। इस कारण जीवात्मा के विशिष्ट गुणों का अवलोकन कीजिए–

(क) अविनाशी : जीवात्मा अविनाशी है। क्योंकि उसका किसी काल में विनाश नहीं होता है। जीवात्मा जैसे सृष्टि के आदिकाल में थी वैसे ही आज भी हमारे शरीर में स्थित है। यह मात्र उसके अविनाशी गुण के कारण ही है। यदि जीवात्मा विनाशशील होती तो वह वैसी नहीं होती जैसी सृष्टि के आदिकाल में थी। अविनाशी होने के कारण ही उसकी स्थिति विनाशशील तत्त्वों से पृथक् है।

(ख) अप्रमेय : जिस प्रकार से हम संसार की वस्तुओं को देखकर, छूकर व्यवहार कर लेते है, अनुभव कर लेते है, वैसे जीवात्मा का अनुभव किया जाना संभव नहीं है। उसे जाना जा पाना भी वैसा संभव नहीं है जैसा जगत की वस्तुओं का है। क्योंकि जगत की वस्तुओं को हम इन्द्रियों, मन और बुद्धि से जान लेते हैं वैसे जीवात्मा को मन, बुद्धि और इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता। जीवात्मा के इसी गुणों को अप्रमेय कहा जाता है।

(ग) नित्य : सृष्टि के आरम्भ में जीवात्मा थी और करोड़ों वर्षो के बीतने पर भी वह आज उपस्थित है और अनेक रूपों में है। शरीरों में परिवर्तन के पश्चात् भी उसकी स्थिति में अंतर नहीं है। प्राणियों के शरीर अनित्य हैं सदैव रहने वाले नहीं है परन्तु जीवात्मा सदैव रहने के कारण नित्यस्वरूप हैं। सदा सर्वदा रहना, विनिष्ट न होना ही जीवात्मा के गुण की पुष्टि करता है।

(घ) अजन्मा : समस्त प्राणियों का जन्म पुनः पुनः होता है। एक जीवात्मा विभिन्न शरीरों में घूमा करती है, परन्तु शरीर का जन्म तो होता है और वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता हैं

लेकिन जीवात्मा का जन्म नहीं होता न ही वह मृत्यु को प्राप्त होती है। जन्म न लेने के कारण उसकी मृत्यु नहीं होती है। इसी गुण के कारण उसे अजन्मा कहा जाता है।

(ङ) शाश्वत : हम सभी का शरीर अवस्था के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। शिशु अवस्था, बाल्यावस्था, कौमारावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था तथा वृद्धावस्था में शरीर की स्थितियों में परिवर्तन हुआ करता है। जैसा शरीर बाल्यावस्था में था वैसा वृद्धावस्था में नहीं रहता, परन्तु जीवात्मा जैसी बाल्यावस्था में थी वैसी ही वृद्धावस्था में रहती है। जीवात्मा का यह गुण शाश्वत कहा जाता है।

(च) पुरातन : मनुष्य का जब भी जन्म होता है तब उसका शरीर नया होता है। वैसे ही कोई वस्तु जब संसार में निर्मित होती है तब वह नवीन होती है। समय बीतने पर वह पुरानी हो जाती है और एक न एक दिन उसका पुरानापन बढ़ता जाता है। जैसे हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति 60 वर्ष का है इसका अर्थ है कि वह 60 वर्ष पुराना है। कोई 100 वर्ष पहले का है तो वह 100 वर्ष पुराना है। इस प्रकार व्यक्ति, वस्तु की आयु की गणना समय से होती है। जीवात्मा करोड़ों वर्ष पुरानी है। जीवात्मा का यह गुण पुरातन कहा जाता है।

(छ) अव्यव : व्यय शब्द का प्रतिकूल अर्थ वाला अव्यव शब्द है। जैसे हमारे पास धन है और हम उसे व्यय करते है तो वह खर्च होता जाता है ओर अंततः समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार किसी वस्तु के उपभोग से वह व्यय होती है। इसी कारण जितनी मात्रा में कल वह थी उतनी आज नहीं रहती है। परन्तु जीवात्मा में गुण नहीं है वह व्यय नहीं होती। जितनी थी उतनी ही है इस कारण उसे अव्यव कहा जाता है।

(ज) अच्छेद्य : संसार की प्रत्येक वस्तु को जीव को शस्त्रों से काटा जा सकता है तथा उसको अनेक भागों में परिवर्तित किया जा सकता है परन्तु जीवात्मा को काटने के लिए कोई शस्त्र आज उपलब्ध नहीं है न पूर्व था न भविष्य में होगा। जीवात्मा को काटा नहीं जा सकता है। जीवात्मा के इस गुण अच्छेद्य कहा जाता है।

(झ) अदाह्य : अग्नि संसार की वस्तुओं को जलाकर राख कर देती है और उसके स्वरूप को विकृत कर देती है। यह गुण अग्नि में है। अग्नि के तेज में प्रत्येक वस्तु जलती है झुलसती है और अपना रूप परिवर्तित कर लेती है। परन्तु जीवात्मा को अग्नि के द्वारा नहीं जलाया जा सकता है। अग्नि में जीवात्मा को जलाने की शक्ति नहीं है। इस कारण जीवात्मा के इस गुण को अदाह्य कहा जाता है।

(ञ) अक्लेद्य : जल संसार की प्रत्येक वस्तु को गीला कर देता है। अर्थात् जब भी कोई वस्तु जल के संपर्क में आती है तो वह गीली हो जाती है पर जीवात्मा को जल गीला नहीं कर सकता है। इस कारण जीवात्मा के इस गुण को अक्लेद्यः कहा जाता है। जल में जीवात्मा को गीला करने और भिगोने की शक्ति प्राप्त नहीं हैं।

(ट) अशोष्य : संसार की वस्तुओं को जल गीला कर देता है और वायु उसे सुखाती है। इस प्रकार वायु में वस्तुओं को सुखाने की शक्ति है जैसे जब वस्त्र जल के सम्पर्क से गीले हो जाते हैं, तब वे वायु के सम्पर्क से सूखते हैं, परन्तु जीवात्मा को वायु नहीं सुखा सकती है। इस कारण जीवात्मा के इस गुण को अशोष्य कहा जाता है।

(ठ) नित्य : जीवात्मा पूर्व में अर्थात् भूतकाल में थी। वर्तमान में है और तीनों कालों में स्थित रहेगी। जीवात्मा के इस गुण को नित्य कहा जाता है। संसार की प्रत्येक वस्तुएं अनित्य है क्योंकि वे काल के साथ समाप्त होने वाली है परन्तु जीवात्मा सर्वकालिक है और वह सदैव रहती है तथा उसका अस्तित्त्व सदा सर्वदा रहता है। जीवात्मा के इस गुण को नित्य कहते हैं।

(ड) सर्वगत : जीवात्मा सर्वत्र रहता है। इस समग्र विश्व में जीवात्मा समग्र जीवों में है। एक देश, एक स्थान में नहीं है। सर्वत्र रहना, एक देश में न रहना ही जीवात्मा का सर्वगत गुण कहा जाता है। जीवात्मा सर्वगत गुण के कारण ही सर्वत्र रहती है। यह जीवात्मा का विशिष्ट गुण है जो एकदेशीय नहीं है।

(ढ) अचल : सर्वगत का शाब्दिक अभिप्राय सब जगह जाने से है। सर्वत्र गुण होने के साथ जीवात्मा में चलने की क्रिया नहीं होती है। जितने भी गुण परमात्मा में हैं वे सब जीवात्मा में भी है। जैसे परमात्मा बिना पैरों के चलता है तथा बिना कान के सुनता है वैसे ही जीवात्मा सर्वत्र है और अचल है।

(ण) स्थाणु : जीवात्मा स्थित गुण वाला है। स्थिर रहने वाली वस्तु में हिलने डुलने की क्रिया नहीं होती है। जीवात्मा हिलती डुलती नहीं है इस कारण वह स्थिर समझी जाती है, मानी जाती है। इस प्रकार जीवात्मा में हिलने डुलने की क्रिया नहीं है अर्थात् वह स्थिर है। इसलिए इसे स्थाणु कहा जाता है।

(त) सनातन : जब से यह सृष्टि हुई है तब से जीवात्मा का अस्तित्त्व है। इस कारण जीवात्मा को सनातन कहते हैं। सृष्टि के आरम्भ काल में जब जीवों की उत्पत्ति आरम्भ

हुई तब भी जीवात्मा का अस्तित्त्व था, वह आज भी है। जीवात्मा अनादि है। सृष्टि के आरम्भ में थी, अन्त तक रहने वाली है। जीवात्मा के इस गुण सनातन कहा जाता है।

(थ) अव्यक्त : परमात्मा व्यक्त नहीं है, प्रत्यक्ष नहीं है इसलिए हमें साधारणतया प्रतीत नहीं होता है। उसकी इस प्रकार प्रतीत न होना ही उसे अव्यक्त रखती है। उस परमात्मा का अंश होने के कारण जीवात्मा भी अव्यक्त है व्यक्त नहीं है। प्रतीत नहीं होती है। परमात्मा के प्रत्यक्ष न होने के कारण ही उसे अव्यक्त कहा जाता है।

(द) अचिन्त्य : संसार के समस्त विषयों का चिंतन मन और बुद्धि से होता है। मन, बुद्धि ही संसार के समस्त विषयों के बारे में विचार और विनिश्चय करते हैं परन्तु आत्मा के बारे में, स्वरूप के बारे में, मन और बुद्धि से विचार और विनिश्चय नहीं किया जा सकता है। इस कारण जीवात्मा के उस गुण को अचिन्त्य कहा जाता है।

(ध) अविकारी : परमात्मा विकार रहित है। अर्थात् उसमें कोई विकार नहीं है। संसार की प्रत्येक वस्तुएं विकारी है, क्योंकि उनमें परिवर्तन हुआ करता है। जीवात्मा परिवर्तन से रहित है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता हैं इस कारण वह अविकारी है। जीवात्मा के इस गुण को अविकारी कहा जाता है।

जीवात्मा के इन गुणों का वर्णन उपरोक्त प्रकार से हुआ। वे समस्त जीवों की जीवात्मा में एक समान रहते हैं। मनुष्य में जो जीवात्मा है उसमें भी वही गुण है जो कुत्ता, गधा, हाथी आदि पशुओं में है। जीवात्मा ही हमारे जीवन का आधार है तथा समस्त जीवों के जीवन का आधारभूत तत्त्व है जो जीवन का आधार है उसके गुणों में एकरूपता है। इस आधार पर जो ज्ञानी पुरूष हैं वह जीवात्मा की सहधर्मिता के आधार पर अपने और समस्त जीवों में विभेद नहीं करते हैं और एक ही समझते हैं। इस प्रकार मनुष्य का जो स्वरूप है वहीं सम्पूर्ण जीवों का स्वरूप है। इस भाव से श्री भगवान ने यह कहा है कि ध्यान योगी जब **युक्तात्मा** हो जाता है अर्थात् ध्यान के साधन की पराकाष्ठा पर जाकर युक्त हो जाता है तब वह अपने स्वरूप को समस्त प्राणियों में स्थित देखता है।

3– समस्त प्राणियों को अपने में देखता है (सर्वभूतानि चात्मनि ईक्षते) :–

ध्यान योगी समस्त जीवों में अपने स्वरूप को जीवात्मा की एकरूपता के आधार पर देखता है। इस प्रकार वह अपने को समस्त जीवों में स्थित देखता हैं। परमात्मा ने

अपने अंश को समस्त जीवों को प्रदान किया है। इस आधार पर समस्त भूतप्राणी एक जैसे ही हैं। यह तथ्य साधारण रूप से समझ में नहीं आता है। परन्तु साधना की पराकाष्ठा में स्थित हो जाने पर आ जाता है। जैसे जल और बर्फ एक समान ही है तथा जल और बर्फ में एकरूपता है। केवल रूप में परिवर्तन है। जल ही बर्फ बन गया है और बर्फ ही जल बन जाता है। जल तथा बर्फ एक ही है। उनमें अंतर नहीं है। वैसे ही हमारे में जो जीवात्मा है वह सभी में है इस भाव से हमारी स्थिति सभी में है और उनकी स्थिति हमारे में है। जल में बर्फ है और बर्फ में जल है। इसी भाव से श्री भगवान यह तथ्य कह रहे हैं कि जीवात्मा के गुणों तथा उसकी स्थिति और व्यापकता का तथ्य समझ लेने के उपरान्त ध्यान योगी अपने को समस्त जीवों में तथा समस्त जीवों को अपने में स्थित देखता है। इसमें एक तथ्य और भी है कि हम सभी जीव जन्तु थे और जीव जन्तु कभी हमारे अर्थात् मनुष्य रूप में थे। इस भाव से भी हमारी समस्त भूतप्राणियों में स्थिति है और समस्त भूतप्राणी हमारे में स्थित हैं।

4– जो साधक परमात्मा को सर्वत्र देखता है (यो मां पश्यति सर्वत्र) :–

परमात्मा को सर्वत्र देखना एक विशिष्ट स्थिति है जो बड़े प्रयत्न से प्राप्त हो सकती है। इस जगत में जो कुछ भी है वह सबका सब परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वह परमात्मा ही इस सम्पूर्ण जगत में सूत्र अर्थात धागे में माला की मणियों की तरह से गुथा हुआ है। जब जगत में परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नही है तो वह हमें सर्वत्र ही प्रतीत होना चाहिए। परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है परन्तु वह हमें प्रतीत नहीं होता है उसका हमें आभास नहीं होता है। उसका एक ही कारण है कि हम सब संसार में तथा उसके भोगों में इतना अधिक डूब चुके हैं कि सर्वत्र व्याप्त परमात्मा हमें दिखाई ही नहीं पड़ता है। हमारी सांसारिक विषय वाशनाओं में लिप्त आंखे उसे देख नहीं पा रही है। जब साधक संसार में विषय भोगों को ही समाप्त करता है और परमात्मा को सर्वत्र देखने का प्रयास करता है। साधना इसी का नाम है कि हमें सर्वत्र परमात्मा का आभास होने लगे। हम संसार में परमात्मा का दर्शन कैसे करेंगे ? किन रूपों में करेंगे ? इस भाव का अवलोकन कीजिए।

(क) जन्म के कारण के रूप में :–

मनुष्य माता के गर्भ में प्रकट होता है और जन्म होते ही प्रत्यक्ष हो जाता है। अव्यक्त से व्यक्त हो जाता है। माता के गर्भ में जीव कहां से आया ? किस लोक से आया ? किस प्रकार प्रविष्ट हो गया ? उसके पूर्व कहां था ? यह समस्त तथ्य हम नहीं जानते है। माता के गर्भ में आश्चर्यजनक रूप से जीव आता है और वह प्रकट होकर

शनैः शनैः बढ़ने लगता है यह क्रिया कौन कराता है ? कौन इसकी व्यवस्था करता है। यह विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि वह परमात्मा ही माता के गर्भ में जीव को प्रवेश कराता है और उसे जन्म देता है तथा उसकी वृद्धि की व्यवस्था करता है। परमात्मा हमें मनुष्य के जन्म के कारण के रूप में दीखता है। उसने हमारी सभी की, संसार के असंख्य मनुष्यों की उत्पत्ति की है। जन्म दिया है और प्रकटीकरण की व्यवस्था की है। इस कारण वह परमात्मा हमें जन्म के कारण के रूप में दिखता है।

(ख) मृत्यु के कारण के रूप में :–

मनुष्य शिशु के रूप में प्रकट होता है और बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था तथा वृद्धावस्था तक होता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यह अवस्थाओं का परिवर्तन एक अनिवार्य क्रिया है जो अनिवार्य रूप से होती है। वर्तमान के पूर्व असंख्य लोग इस स्थिति को प्राप्त हो चुके है। असंख्य वर्षो से यह क्रिया स्वतः सम्पादित हो रही है। असंख्य लोग जन्म ग्रहण करके मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। मृत्यु अव्श्यसम्भावी है और समय से आती है। उसका रोका जा पाना असंभव है। मृत्यु आना एक क्रिया है जो स्वतः ही परमात्मा के पूर्ण नियंत्रण में चल रही है। जब तक यह सृष्टि है तब तक वह चलती रहेगी। निर्वाध गति से गतिशील रहेगी। इस प्रकार मृत्यु के कारण के रूप में परमात्मा का हमें दर्शन होता है और हम चाहकर भी मृत्यु को रोक नहीं पाते हैं।

(ग) सूर्य, चन्द्रमा आदि की गति के रूप में :–

सूर्य प्रातः निकलता है और सायंकाल समय से अस्त हो जाता है। सूर्य के उदय के समय ही रात्रि का समापन हो जाता है। सूर्य निकलता है अंधकार समाप्त होकर दिन का उद्‌भव हो जाता है। यह क्रिया सृष्टि के आदिकाल से निरन्तर चल रही है। निर्बाध रूप से चलती जा रही है। इस सूर्य के उदय और समय से अस्त होने की क्रिया को कौन करवा रहा है? कौन इस प्रकार से नियत समय पर रात्रि लाता है? और सूर्य को प्रकट करके दिन को लाता है। रात्रि में हमें चन्द्रमा अपने समयानुसार दिखता है। चन्द्रमा और सूर्य की गति को कौन चला रहा है ? उसका नियंत्रण किसके हाथ में है ? यह विचाराधीन तथ्य है। सूर्य चन्द्रमा की गति को देखकर हमें उस परमात्मा के अस्तित्त्व को स्वीकार करना पड़ता है और उसकी गति के रूप में हमें उस परमात्मा का दर्शन होता है।

(घ) मनुष्य शरीर की जटिलतम रचना और क्रियाओं के रूप में :–मनुष्य शरीर की क्रियाविधि पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट होता है कि यह मनुष्य शरीर जटिल रचनाओं

का संग्रह है। इसमें जो अंग है वे बाह्य और आन्तरिक रूप से कार्य करते हैं। शरीर की पाचन, श्वसन, मल उत्सर्जन आदि की क्रियाएं स्वतः ही चला करती है। हमारा मन स्वतः ही अनेक प्रकार के विचार किया करता है और बुद्धि मन के द्वारा विचारित समग्र विषय तथ्यों का विनिश्चय किया करती हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां स्वतः ही क्रियाशील रहती हैं। यह सबका सब स्वतः और स्वाभाविक रूप से चला करता है। शरीर की रचना जटिलतम है और उसकी प्रक्रिया और भी अधिक जटिल है। आज तक इसकी जटिल संरचना तथा जीवन के अनेक रहस्यों को सम्पूर्णता से नहीं जाना जा सका है। मनुष्य शरीर की जटिल संरचना, क्रियाओं का संचालन कौन कर रहा है ? वह परमात्मा शरीर की क्रियाओं का निर्माण करता है, उसको चेष्टा देता है इस कारण वह परमात्मा मानव शरीर की जटिल संरचनाओं और क्रियाओं के रूप में प्रतीत होता है।

(ङ) विविध वनस्पतियों के रूप में :–

हमारी दृष्टि जहां कहीं जाती है वहां पर विविध प्रकार की असंख्य वनस्पतियां प्रतीत होती हैं। यह सब वनस्पतियां कौन उगाता है? संसार में कितनी वनस्पतियां है ? उनका अनुमान लगा पाना अंसभव ही है ? वे सब स्वतः उत्पन्न होती है और समय के साथ स्वतः ही विनिष्ट हो जाती है। वनस्पतियां कितने प्रकार की हैं ? कितने रंग रूप और आकार वाली हैं ? इसकी गणना किया जा पाना लगभग असंभव है। एक वनस्पति अनेक प्रकार से प्रकट हो जाती है। परमात्मा की विचित्र शक्ति का सत्ता का इन वनस्पतियों के रूप में स्पष्ट प्रकटीकरण होता है। अनेक आकारों वाली वनस्पतियों को देखकर हमें परमात्मा की सत्ता का आभास होता है तथा उसकी प्रत्यक्षता का वनस्पतियों के रूप में उसके प्रकटीकरण को स्पष्ट देखा जा सकता है। इस प्रकार हमें विविध प्रकार की वनस्पतियों के रूप में परमात्मा की सत्ता की प्रतीति होती है।

(च) पृथ्वी की विशाल रचनाओं के रूप में :–

समुद्र, पहाड़, वन, नदी, मरूस्थल आदि पृथ्वी की विशाल संरचनाऐं हैं, जिन्हें देखकर लगता है कि उस परमात्मा ने विशाल शक्ति से इन वस्तुओं का निर्माण किया होगा। इनकी विशालता को देखकर उस सर्वशक्तिमान सत्ता का सहज अनुमान हो जाता है। हमें परमात्मा की सत्ता का स्पष्ट आभास होता है। समुद्र विशालतम जल का भंडार है। जल कहां–कहां से आया होगा ? कैसे और किस प्रकार उसकी रचना संभव हुई होगी ? यह रहस्य ही है। उसमें आज ऐसी वस्तुएं और खनिज हैं जिनका उपयोग

है। उनका उपयोग मानव जाती लाखों वर्षो से कर रही है और असीमित समय तक करती रहेगी। वैसे ही पहाड़ आदि रचनाएं इतनी विशाल हैं जिनका समापन नहीं हो सकता है। वनों की असीमित श्रृंखलाएं आज सम्पूर्ण पृथ्वी पर उपलब्ध हैं तथा अनगिनत नदियां भी पृथ्वी पर बह रही हैं। पृथ्वी पर उपलब्ध विशाल रचनाओं में भी परमात्मा के अस्तित्त्व की पुष्टि होती है और उनमें हमें परमात्मा दीखता है।

(छ) पुष्पों की विविध सुगन्धों और रंग–रूपों में :–

पुष्पों की विविधता उसके रंगों तथा सुगन्धों में उस परमात्मा की प्रतीति होती है। संसार में कितने प्रकार के पुष्प है ? इसका सहज अनुमान लगा पाना असंभव है। अनेक प्रकार के पुष्पों के रंगों को देखकर यह लगता है कि परमात्मा उन्हीं रंगों के रूप में साकार रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। पुष्पों की सुगन्धों में उस परमात्मा के हमें दर्शन होते हैं। मोहक रंग तथा आकर्षित करने वाली सुगन्धों को देखकर लगता है कि उस परमात्मा ने अपने स्वरूप को इन रंगों में भर दिया है। वह स्वयं भी प्रकट हो गया है। उसकी मुस्कान फूलों में उभर रही है। पुष्पों की कलियां और उसकी मनमोहक रचना देखकर हमें परमात्मा की स्पष्ट प्रतीति होती है। जब हमारी दृष्टि पुष्पों की महक पर उसकी मोहकता पर और उसके रंग रूप पर जाती है तो उससे हमें परमात्मा का आभास सहज ही होता है। साधक फूलों की सुन्दरता, रंगों और सुगन्धों में परमात्मा का दर्शन कर लेता है।

(ज) पक्षियों की उड़ान के रूप में :–

विभिन्न प्रकार के पक्षी आकाश में उड़ते रहते हैं परमात्मा ने उन्हें आकाश में स्वच्छंद रूप से उड़ने की शक्ति प्रदान की है। यह शक्ति साधारणतयः मनुष्य को प्राप्त नहीं है। परमात्मा ने पक्षियों का निर्माण किया और उनमें पंख लगाकर उन्हें उड़ने की गति प्रदान की है, जिससे वह आकाश में विविध प्रकार से उड़ते रहते है। अनेक पक्षियों की उड़ने की क्षमता विशिष्ट है तथा उनकी उडान के रूप में परमात्मा की शक्ति का दर्शन होता है। हम अपने को देखते है और उसकी तुलना पक्षियों से करते हैं तो लगता है कि परमात्मा ने ही उन्हें उडने की विशिष्ट शक्ति दी है, परन्तु हमें नहीं दी है। उसने ऐसा क्यों किया यह तो वह सर्वशक्तिमान परमात्मा ही जाने परन्तु वह परमात्मा पक्षियों के उड़ान के रूप में हमें प्रतीत होता है और उसका हम आभास कर लेते है।

(झ) सूक्ष्म कीड़ों की गति के रूप में :–

सूक्ष्म कीड़े अपने अनुसार गति करते हैं। चींटी, मक्खी, मच्छर, प्रत्येक में गतिशीलता है। परमात्मा ने एक छोटी सी चींटी में अनेक पैर लगा दिए हैं तथा उन अतिसूक्ष्म पैरों को गति प्रदान कर दी है, जिससे चींटी बहुत तेजी से भागती है। इस प्रकार एक मक्खी एक स्थान पर बैठकर तत्काल ही अपने स्थान उड़ सकती है वैसे ही प्रत्येक छोटे जीव में गति रहती है। कीड़ों में स्वाभाविक स्वतः ही गति हुआ करती है। एक अति सूक्ष्म तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म जीव गति करता है। इस प्रकार कीड़ों की सूक्ष्म गति के रूप में हम परमात्मा की शक्ति और अस्तित्त्व का बोध करते हैं और उसके बारे में विचार करते हैं कि वह परमात्मा सर्वत्र है और जीवों की गति के रूप में प्रकट होता है। समस्त वस्तुओं में उसे हम देखते हैं समस्त जीवों को देखकर हमें उसकी प्रतीति होती है। विशेषकर सूक्ष्मतम कीड़ों की गति के रूप में उसका आभास होता है।

(ञ) ब्रह्माण्ड के ग्रहों के रूप में :–

ब्रह्माण्ड में अनेक ग्रह ओर उपग्रह है। सूर्य के चारों ओर जो खगोलीय पिंड घूमते है वह ग्रह कहलाते हैं और जो ग्रहों के चारों ओर खगोलीय पिंड घूमते हैं उन्हें उपग्रह कहा जाता है। अंतरिक्ष में ग्रहों की संख्या 8 है जिन्हें बृहस्पति, शनि, अरूण, वरूण, पृथ्वी, शुक्र, मंगल और बुद्ध कहा जाता है। चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाता है इस कारण उपग्रह है। इस अंतरिक्ष में अनेक ग्रहों, उपग्रहों को तथा तारा मंडल को देखकर हमें परमात्मा का सहज ही स्मरण होता है और उसके अस्तित्त्व की अनुभूति होती है। ग्रह और उपग्रह इस ब्रह्माण्ड की विशेष रचनाएं है जिन्हें देखकर हमें आश्चर्य होता है पृथ्वी पर जो रचनाएं है वे अद्‌भुत है परन्तु अंतरिक्ष में अनेक ग्रहों उपग्रहों की रचनाएं है यह अति विशिष्ट है। जिससे हमें परमात्मा के अस्तित्त्व की अनुभूति सहजता से होती है।

एक सामान्य व्यक्ति संसार की विविध वस्तुओं को देखता है और उनसे व्यवहार करता है तथा उसे संसार की वस्तुओं में कुछ विशिष्ट अनुभूति होती है परन्तु एक विशिष्ट साधक संसार की प्रत्येक वस्तु में, घटना में, क्रिया में, जीव में, प्राणी में, मनुष्य में यहां तक कि सभी में परमात्मा की अनुभूति करता है, क्योंकि सभी परमात्मा का प्रतिरूप हैं। परमात्मा ने इस जगत को उत्पन्न किया। परमात्मा इस जगत का निमित्त और उपादान कारण दोनों ही है। साधक इस तथ्य की अनुभूति कर लेता है।

साधारणतयः यह अनुभूति नहीं होती है। साधक की दृष्टि जहां तक जाती है, विचार जहां तक जाते है, बुद्धि जहां तक जाती है वह समग्रता से परमात्मा के बारे में विचार रखता है। उसकी दृष्टि में सभी सीयराममय ही है। यह दृष्टि उत्कृष्ट है। साधक की परख है। जगत में उसके सम्पर्क में जो कुछ भी आता है वह उसमें परमात्मा का दर्शन करने लगता है। चाहें वह कोई वस्तु हो, व्यक्ति हो, परिस्थिति हो, घटना हो, क्रिया हो यही परमात्मा का सर्वत्र देखना है।

परमात्मा का सर्वत्र देखना तथा उसका सर्वत्र आभास करना एक भावपूर्ण तथ्य है। परन्तु ऐसी स्थिति शीघ्र नहीं आती है। जब यह भाव आ जाता है तो मिटता नहीं है। यह आधारभूत तथ्य है। जिसे भाव में लाकर हम उस परमात्मा का सर्वत्र दर्शन कर सकते हैं। हमारी यह दृष्टि हमें साधक से सिद्ध बना देती है। **यो मां पश्यति सर्वत्र** साधारण दृष्टि नहीं है, सामान्य भाव नहीं है, विशिष्ट भाव है। सबमें सब जगह परमात्मा को देखना सहज नहीं है परन्तु जब भाव दृढ हो जाता है तो परमात्मा की सर्वत्र अनुभूति हो जाती है।

5– जो साधक परमात्मा को सर्वत्र देखता है (सर्वं च मयि पश्यति) :–

परमात्मा ने समग्र सृष्टि की रचना की है। इस भाव से समग्र सृष्टि परमात्मा में स्थित है। सृष्टि का समस्त प्राकट्य उस परमात्मा से होने के कारण ही साधक परमात्मा में सभी को देखता है। हमारी दृष्टि जहां तक जाती है वह सबका सब सृष्टि का अंश है। परन्तु हमारी दृष्टि के इतर भी अर्थात् अतिरिक्त भी सृष्टि है जिसका हमें साधारणतयः ज्ञान नहीं है परन्तु वह सबका सब सृष्टि का ही रूप है। साधक उस सृष्टि के प्रकार को भी जानता है तथा उनमें भी परमात्मा को स्थित देखता है। इस प्रकार सभी को परमात्मा में स्थिति का तथ्य स्पष्ट होता है। इस जगत की सृष्टि दस प्रकार की है। दस प्रकार की सृष्टि का वर्णन ब्रह्माण्ड और सृष्टि रचना नामक पुस्तक में विस्तार से किया गया है। वहां से उसका अध्ययन कर लेना चाहिए।

दस प्रकार की जो सृष्टि है जिसका वर्णन उक्त पुस्तक में हुआ है। सृष्टि का उद्भव परमात्मा ने ही किया है। इस कारण समस्त सृष्टि उसमें ही स्थित है। परमात्मा ने समस्त सृष्टि की रचना की साधक इस तथ्य को जानता है। इसलिए वह समग्र सृष्टि को उस एक मात्र परमात्मा में ही स्थित देखता है। सभी परमात्मा से उत्पन्न होने

के कारण उस परमात्मा में ही स्थित हैं। जैसे एक वृक्ष से कुछ फल उत्पन्न होते हैं तो फलों की स्थिति उस वृक्ष में रहती है। यदि स्थिति न होती तो फलों की उत्पत्ति वृक्ष से नहीं होती। यह समग्र जगत परमात्मा में स्थित है। इसी कारण फल की तरह से उस परमात्मा में स्थित है। यह तथ्य साधक आभास कर लेता है। श्री भगवान के कथन का यही भाव है कि जो साधक सर्वत्र परमात्मा को स्थित देखता है। वही सबमें परमात्मा की स्थिति भी देखता है। यह भाव रखने वाला विशिष्ट है जो इस भाव को दृढ़ कर लेता है तो उसकी स्थिति का वर्णन श्री भगवान इस श्लोक के उत्तरार्ध भाग में कर रहे है–

6– उस साधक हेतु मैं (परमात्मा) प्रकट रहता है (तस्याहं न प्रणश्यामि) :–

जब साधन की पराकाष्ठा पर पहुंच मनुष्य सर्वत्र, सभी वस्तुओं, जीवों तथा समग्र क्रियाओं में एक मात्र परमात्मा को ही देखता है तो उसे समग्र वस्तुऐं जीव और क्रियाओं में परमात्मा की प्रतीति होने लगती है। परमात्मा के अतिरिक्त इस जगत में कुछ भी नहीं है। यह भाव व्यवहार में दीखता है, जिससे परमात्मा की अनुभूति होने लगती है। स्वतः ही परमात्मा दीखता है उसका आभास होता है और वह दिखाई पडता है। इस तथ्य के दो भाव है जिनका आप क्रमशः अवलोकन कीजिए।

(क) सबके रूप में परमात्मा दीखता है :–

जब साधक सब में परमात्मा का दर्शन करता है तो उसे समस्त जीवों, क्रियाओं में परमात्मा का दर्शन होने लगता है। जगत की जितनी भी वस्तुऐं हैं वह परमात्मा के स्वरूप में हैं। जगत में जितने भी जीव हैं वे भी सब परमात्मा के रूप में हैं। इस प्रकार चराचर जगत में परमात्मा ही व्याप्त हो रहा है, प्रकट हो रहा है, प्रतीत हो रहा है, प्रत्यक्ष हो रहा है। जिस प्रकार अंधेरे में अंधेरा दीखता है और उजाले में अर्थात् प्रकाश में प्रकाश का ही दर्शन होता है वैसे ही परमात्मा का सर्वत्र दर्शन करने से परमात्मा का हमें सहजता से आभास होता है।

अच्छी वस्तु हो अथवा खराब वस्तु हो, पवित्र वस्तु अथवा अपवित्र हो, ठोस हो, द्रव हो जैसी भी वस्तु हो वैसी परमात्मा के रूप में है, क्योंकि परमात्मा सर्वत्र है। वैसे ही छोटा जीव हो, बड़ा जीव हो, पक्षी हो, पशु, जलचर हो, नभचर हो या अन्य कोई जीव हो वह सबका सब परमात्मा के ही रूप में है। मनुष्य काला हो, गोरा हो, सत्कर्मी

हो, दुष्कर्मी हो, किसी देश का हो, किसी अवस्था का हो, किसी वर्ण का हो, किसी जाति का हो, किसी सम्प्रदाय का हो, किसी धर्म का हो वह सबका सब परमात्मा के स्वरूप में ही है। यह भाव दृढ हो जाने पर परमात्मा सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। जैसे श्रावण मास में चारों ओर हरियाली ही हरियाली दिखाई देती है। ग्रीष्म काल में सर्वत्र प्रचण्ड धूप दीखती है। वर्षा ऋतु में जल ही जल दीखता है वैसे ही परमात्मा भी सर्वत्र दीखता है, सर्वत्र उसका दर्शन होता है। ऐसे साधक के लिए परमात्मा प्रकट रहता है, प्रत्यक्ष रहता है और प्रत्यक्ष प्रकट हो जाता है।

(ख) परमात्मा वस्तुतः दीखता है :–

सर्वत्र परमात्मा का दर्शन करने वालों को परमात्मा का नित्य सहयोग रहता है। यह स्थिति अत्यंत विलक्षण है। जब साधक इस स्थिति में अर्थात् परमात्मा को सर्वत्र देखने की स्थिति को दृढ़ कर लेता है तो उसे परमात्मा का दर्शन होने लगता है। जिस प्रकार हम जागृत अवस्था में किसी विशेष व्यक्ति अथवा क्रिया के बारे में बहुत विचार करते हैं तो वह वस्तु व्यक्ति क्रिया हमें स्वप्न में प्रत्यक्ष दीखती है और उसका हमें दर्शन होता है। वैसे ही विचारण में जब सर्वत्र परमात्मा दीखता है तब वह परमात्मा हमारी मन बुद्धि में भर जाता है और भरा हुआ संसार लुप्त हो जाता है। संसार के लुप्त होते ही परमात्मा का दृश्य संसार के स्थान पर भर जाता है, आ जाता है। संसार को संसार के भाव से देखते रहने पर संसार मन बुद्धि में भर जाता है। संसार को परमात्मा के भाव से देखने पर परमात्मा ही सर्वत्र दीखता है और वह साधक को प्रत्यक्ष प्रतीत होता है तब साधक उसका प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है।

7– वह मेरे लिए प्रकट रहता है (स च मे न प्रणश्यति) :–

जो परमात्मा को सर्वत्र देखता है तो परमात्मा की दृष्टि उस पर निरन्तर रहती है। परमात्मा उस पर से दृष्टि हटाता नहीं है। यह उत्कृष्ट भक्ति की स्थिति है। जगत में हम जिस किसी के अधिक सम्पर्क में रहते हैं और जिनका सहयोग करते हैं उनसे अनायास ही स्नेह हो जाता है। वैसे ही जब हम परमात्मा के सम्पर्क में नित्य रहने का प्रयास करते हैं नित्य रहते हैं तथा उसका सर्वत्र दर्शन करते हैं तब उसका स्मरण रहता है। परमात्मा साधक के इस स्मरण को जानता है। परमात्मा हमारे द्वारा किये जा रहे स्वविषयक चिंतन को अपने संज्ञान में रखता है क्योंकि उसका निवास हमारे हृदय में है। परमात्मा हमारे हृदय में है और बाहर भी है वह सर्वत्र है हमारे सर्वत्र दृष्टि उसे हमारी ओर आकर्षित करती है और वह हमें देखता है तथा हम पर दृष्टि रखता है।

हम जब उस परमात्मा का नित्य स्मरण करते हैं तो वह त्रिकालज्ञ परमात्मा हमें कैसे भुला सकता है ? कैसे विस्मृत कर सकता है। उसका स्मरण हमारे लिए उतना ही होता है जितना हमारा उसके लिए होता है। हम उसे देखते है वह हमें देखता है। हमारी जब निरन्तर दृष्टि उस पर रहती है तब उसकी नित्य निरन्तर सतत दृष्टि हमारे ऊपर रहती है। यह प्रतिफल है हमारे उसके प्रति विचारण का। हमारे लिए वह प्रकट रहता है और उसके लिए प्रकट रहते हैं। यह विशेष बात है विशिष्ट तथ्य है और रहस्यात्मक भाव है। हम जितनी प्रबल भावना से उसे चाहते हैं उससे अधिक प्रबल भावना से वह परमात्मा हमें चाहता है। हम उसे अपनी दृष्टि में रखते हैं तो वह हम पर अपनी कृपा पूर्ण ममतामयी दृष्टि हमारे ऊपर डालता है। हम उसे जब सर्वत्र निहारते हैं तो वह हमें निहारता है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए वह ओझल नहीं होता और हम उसके लिए ओझल नहीं होते हैं। हम उसके प्रिय रहते हैं और वह हमारा प्रियतम रहता है। **स च मे न प्रणश्यति** का यही तात्पर्य है, अर्थ है।

श्री भगवान इस प्रकरण को और अधिक विस्तार देने के लिए अग्रिम श्लोक का आरम्भ करते हैं और विशिष्ट भाव की प्रस्तुति कर रहे हैं। श्री भगवान द्वारा प्रस्तुत इस विशिष्ट भाव का अवलोकन कीजिए–

मूल श्लोक – 31

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।

पदच्छेद –

सर्वभूतस्थितम्, यः, माम्, भजति, एकत्वम्, आस्थितः।

सर्वथा, वर्तमानः, अपि, सः, योगी, मयि, वर्तते।।

भावार्थ : जो योगी समस्त भूत प्राणियों में स्थित मुझे भजता है वह एक रूप स्थित हुआ, वह सर्वथा वर्तमान होकर भी मुझमें ही व्यवहार कर रहा है।

व्याख्या : 1– समस्त प्राणियों में परमात्मा की स्थिति (सर्वभूतस्थितम्):–

परमात्मा समस्त प्राणियों में स्थित है, जो परमात्मा समस्त भूत प्राणियों का निर्माण करता है वह समस्त प्राणियों के हृदय में भी स्थित रहता है। यह विलक्षण बात है। मनुष्य की स्थिति एक काल में एक ही स्थान पर हो सकती है परन्तु परमात्मा अपने मूल स्थान परमधाम में भी रहता है और समग्र चराचर जगत में भी रहता है। एक शक्ति समस्त प्रकार से इस ब्रह्माण्ड को आवृत किये हुए है। इस स्थल पर श्री भगवान ने परमात्मा की जीवों में स्थिति इस तथ्य को स्पष्ट करने हेतु यह तथ्य कहा है कि समस्त भूत प्राणियों में वह परमात्मा स्थित है। जो परमात्मा समस्त प्राणियों में स्थित है तथा जो परमधाम में है वह समस्त ब्रह्माण्ड में है वह परमात्मा तो एक ही है दो नहीं परन्तु श्री भगवान ने समस्त भूतप्राणियों में स्थित परमात्मा की ओर लक्ष्य किया है। परमात्मा के रहते हुए उधर दृष्टि की है, उधर संकेत किया है यह विशिष्ट बात है।

समस्त प्राणियों में जब परमात्मा की स्थिति मान लेते हैं तब समस्त प्राणियों को परमात्मा के स्वरूप में समझते हैं। यह भी विशेष बात है। समस्त प्राणियों को परमात्मा ने उत्पन्न किया है। उन्हें बनाया है और उन्हें बनाकर उनके हृदय में बैठ गया है। चाहें छोटा कीड़ा हो अथवा विशालकाय जन्तु हो अथवा विवेकयुक्त मनुष्य हो सबके हृदय में परमात्मा रहता है। वही परमात्मा परमधाम में है वही हमारे चारों ओर है, वही हमारे मंदिरों में है जिसकी हम उपासना पूजा करते हैं। वही परमात्मा समस्त प्राणियों में है उस एक परमात्मा का तत्त्व समस्त स्थानों पर है। जब साधक यह समझता है कि वह समस्त प्राणियों में है तो वह प्रत्येक प्राणी को परमात्मा का स्वरूप समझता है। इसी भाव से प्रत्येक प्राणी से उसका द्वेष, ईर्ष्या, स्वार्थ समाप्त हो जाता है और पूजनीय भाव स्वतः आ जाता है वह किसी मनुष्य को अपमानित नहीं करता है उससे अनुचित व्यवहार नहीं करता है, क्योंकि वह यह समझता है कि यह सब परमात्मा स्वरूप है तथा उस सर्वत्र स्थित परमात्मा की दृष्टि हम पर है। श्री भगवान ने **सर्वभूतस्थितम्** कहकर उस परमात्मा का जो बोध कराया है जो समस्त प्राणियों में है वह एक है परन्तु अनेक प्राणियों में विभक्त हुआ सा प्रतीत हो रहा है।

2– जो योगी एक रूप में स्थित है (सः योगी एकत्वमास्थितः) :–

जो परमात्मा सब में स्थित है वह मेरे में भी स्थित है। जिस परमात्मा ने सभी को बनाया है उसने मुझे भी बनाया है यह भाव दृढ़ हो जाना तथा वैसा ही व्यवहार में आ जाना **एकत्वम्** है एकरूपता है। हम जब समस्त जीवों में परमात्मा की स्थिति समझते हैं

तथा वैसा ही अपने में समझते हैं तो यह भाव हम में तथा सभी में एकरूपता स्थापित कर देता है। जैसे एक पिता के कई पुत्र होते है तो सबके सब एक पिता को समझते हैं और उनमें यह भाव रहता है कि हम सब एक पिता की संतान हैं। एक पिता की संतान होने का जो भाव है वह एक रूप में स्थित रहने का है।

वैसे ही हम जब एक ही परमात्मा की संतान नहीं है तब पृथक्–पृथक् भाव रहता है कि अमुक हमारा भाई नहीं है, अमुक हमारे परिवार का नहीं है, हमारी जाति का नहीं है, हमारे धर्म का नहीं है यह भाव रहता है यह पृथकीकरण का भाव है। एकीकरण के भाव में समता रहती है और पृथकीकरण के भाव में विषमता रहती है। आज संसार में हम जो पृथक्–पृथक् प्रकार से अनेक सम्प्रदाय, मत, जाति, भेद देख रहे हैं तथा परस्पर लड़ाई, झगड़ा, कलह आदि देख रहे हैं वह सबका सब पृथकीकरण के भाव के कारण ही है। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि हम सब एक ही परमात्मा की संतान होते हुए भी पृथक्–पृथक् भाव रखते है। श्रीभगवान इसी भाव के समापन हेतु यह कह रहे है जो साधक एक रूप में स्थिति हो जाता है समस्त जीवों में एक परमात्मा मानता है तथा वैसा ही अपने को मानता है जब एक ही परमात्मा सभी में है तो भिन्नता या पृथकता कैसे आ सकती है ? नहीं आ सकती है।

पूर्व श्लोक में जिस तथ्य को कहा था उसी के स्पष्टीकरण हेतु तथा परिणामी भाव से यह श्लोक कहा है जो परमात्मा को एक देखता है सर्वत्र देखता है तथा परमात्मा में सभी को देखता है उसके लिए परमात्मा प्रकट रहता है और परमात्मा के लिए वह प्रकट रहता है। परमात्मा के प्रकट रहने का ही आधार है कि हम सर्वत्र परमात्मा को देखे, सभी में देखे। एक ही भाव से देखे इसमें तारतम्य स्थापित हो जाता है। जिस प्रकार अनेक नदियों का जल समुद्र में मिल जाता है तथा एक रूप हो जाता है वैसे ही जब भाव मिल जाते है एक रूप हो जाते हैं तब परमात्मा से स्वतः ही तारतम्य स्थापित हो जाता है। यह विशिष्ट स्थिति है।

3– परमात्मा को भजता है (मां भजति) :–

जब ध्यान योगी यह एक भाव से दृढ़ हो जाता है तो इस भाव से परमात्मा का भजन करता है। समस्त प्राणियों में परमात्मा है उस भाव से परमात्मा के भजन का अभिप्राय है कि समस्त प्राणियों की सहायता करना, उनकी सेवा करना, प्राणियों में

परमात्मा की हमें प्रतीति नहीं होती परन्तु परमात्मा के स्वरूप में प्राणी, मनुष्य दीखता है। जो मनुष्य हमें दिख रहा है वह परमात्मा के स्वरूप में ही है। उस मनुष्य की सेवा करना परमात्मा को भजना है। आज संसार में बहुत गरीबी है। अतीत में भी रही होगी। कुछ लोग ही सुख पूर्वक जीवन यापन कर रहे हैं तथा उनके पास असंख्य धन संचित है। यह धन का संचय परमात्मा की कृपा से उनके पक्ष में है। धन उन लोगों का नहीं है। धनी लोगों को परमात्मा की ओर प्रबन्धक की ओर से प्राप्त हुआ है। वस्तुतः धनी लोग उसके स्वामी नहीं हैं। धनी अपने को धन का स्वामी समझ कर उसका व्यवहार करने लगते हैं। यह बड़ी भूल है। धनी को उस परमात्मा की ओर से धन इस कारण मिला है कि वह गरीबों की सहायता करें, परन्तु अधिकांश धनी व्यक्ति उस धन को अपना समझते हैं और वैसा ही व्यवहार भी करते हैं। हजारों लाखों लोगों में एकाध लोग ही उस धन को संसार की सेवा में लगाते हैं। समस्त मनुष्य में परमात्मा है और जब हम इस भाव से गरीबों को देखते हैं तो उसकी सहायता को तत्पर हो जाते हैं। हमें गरीबों में परमात्मा का दर्शन हो यह समस्त प्राणियों में स्थित परमात्मा का दर्शन है। जब यह भाव दृढ़ हो जाता है तो गरीब की सहायता करना, सेवा करना, परमात्मा की सेवा, सहायता करना है। यही भगवान का भजन है, जिसे **मां भजति** से प्रकट करना चाहा है।

4– वह सब कुछ वर्तमान हुआ भी (सर्वथा वर्तमानोऽपि) :–

परमात्मा का समस्त भूतप्राणियों में जब दर्शन होता है तब समस्त मनुष्य परमात्मा के रूप में दिखते हैं। इस कारण उसके आचरण में उसके व्यवहार में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। ऐसे योगी की एक ही भाव में स्थिति के कारण एक मात्र परमात्मा ही सर्वत्र दृष्टि गोचर होता है। गरीब में परमात्मा, बीमार में परमात्मा, असहाय में परमात्मा, सर्वत्र परमात्मा का दर्शन करना यह विलक्षण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी भाव से उसके व्यवहार में भी मौलिक परिवर्तन हो जाता है। ऐसा व्यक्ति गरीब की गरीबी दूर करना चाहता है। बीमार की बीमारी भगाना चाहता है और असहाय को सहारा देना चाहता है। उसका यह भाव प्रबल हो जाता है। इस भाव से व्यवहार करना ही **सर्वथा वर्तमानोऽपि** कहा जाता है। साधक के भाव में पहले यह तथ्य आये और फिर व्यवहार में आये तो वह वर्तमान हुआ कहा जाता है। जब तक व्यवहार नहीं होता तब तक योगी वर्तमान नहीं होता परन्तु भाव की दृढ़ता से अपने सामर्थ्य के अनुसार व्यवहार भी होता है तभी वर्तमान होने का प्रयोगात्मक और व्यवहारिक रूप प्रकट हो जाता है।

5– वह परमात्मा में ही बरतता है (स योगी मयि वर्तते):– जो समस्त प्राणियों में एक रूप स्थित होकर सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित परमात्मा को भजता है वह इस प्रकार जो भी व्यवहार करता है वह परमात्मा में ही बरतता है। समस्त जीव मात्र, मनुष्य मात्र, परमात्मा के प्रतिरूप है और उस परमात्मा के स्वरूप में स्थित गरीब मनुष्य की सेवा करना परमात्मा के साथ वर्तमान करना जैसा ही है। गरीबों की सेवा से असहायों की सहायता से परमात्मा प्रसन्न होता है। गरीब और असहाय परमात्मा के विशिष्ट रूप हैं और योगी यह तथ्य जानकर गरीबों की, असहायों की सेवा करता है और परमात्मा से ही व्यवहार करता है। इसलिए वह परमात्मा में ही बरतता है।

परमात्मा को सर्वत्र देखने की स्थिति सहज नहीं है। यह स्थिति शीघ्रता से नहीं आती है। आ जाती है तब जाती नहीं है। जो परमात्मा को सर्वत्र देखता है वह चराचर में देखता है, परन्तु समस्त प्राणियों में देखना तथ्य एक ही है। इसके संकेत मनुष्यों की ओर भी है क्योंकि मनुष्य मनुष्य से ही अधिकतर व्यवहार करता है। प्राणियों से कम व्यवहार रखता है। ध्यान योग के प्रकरण में खुले नेत्रों से व्यवहार में यह ध्यान की प्रक्रिया है। हम ध्यान में परमात्मा का ही दर्शन करने प्रयास करते हैं तो यह ध्यान की क्रिया साधारण रूप होती है और अधिक ध्यान में रखने से परमात्मा की निकटता का आभास होने लगता हैं। परन्तु ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति में सर्वत्र ही परमात्मा का आभास साधक को होता है। इस श्लोक में इसी भाव से श्री भगवान यह विशिष्ट बात कह रहे हैं। समस्त प्राणियों में एक ही भाव से परमात्मा का दर्शन, समस्त व्यवहार का, परमात्मा के रूप में मानना विशिष्ट भाव है।

अग्रिम श्लोक में श्री भगवान अपनी सादृश्यता से समस्त प्राणियों को देखने का तथ्य उद्घाटित कर रहे हैं और ऐसी स्थिति वाले ध्यानयोगी को परमयोगी की विशिष्ट परिभाषा से विभूषित कर रहे हैं –

मूल श्लोक – 32

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वां यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।

पदच्छेद–

आत्मौपम्येन, सर्वत्र, समम्, पश्यति, यः, अर्जुन,
सुखम्, वा, यदि, वा, दुःखम्, सः, योगी, परमः मतः।।

भावार्थ : हे अर्जुन जो योगी अपनी सादृश्यता से सर्वत्र समभाव से देखता है तथा सुख और दुःख को भी सादृश्यता से देखता है वह परम्योगी माना गया है।

व्याख्या : श्री भगवान ने उपर्युक्त श्लोक में विशिष्ट भाव का प्रस्तुतीकरण किया है। यह स्थिति विशिष्ट है, अतिविशिष्ट है जो साधारणतया प्राप्त नहीं की जा सकती है। कोई भी मनुष्य अपने सदृश सभी को मान ले तो आज संसार की समस्त समस्याएं ही समाप्त हो जायेंगी। हम सुखी होते हैं अनुकूलताओं को प्राप्त करके, तथा दुःखी होते हैं प्रतिकूलताओं को पाकर। प्रत्येक व्यक्ति का यही सिद्धान्त है कि वह अनुकूलताओं को देखकर सुख का आभास करता है अर्थात् प्रसन्न होता है और प्रतिकूलताओं को देखकर स्वतः ही दुःखी हो जाता है। परन्तु दूसरों की प्रतिकूलताओं को देखकर यदि वैसा ही दुःखी हो जैसा स्वयं दुःखी प्रतिकूलताओं को देखकर होता है तो यह स्थिति विशिष्ट है। हम अपनी अनुकूलताओं को देखकर तो साधारणतया सुखी तो होते ही है तथा प्रतिकूलताओं को देखकर दुःखी होते हैं। ऐसा यदि दूसरों के लिए हो वह स्थिति उत्कृष्ट कही जाएगी। यही सादृश्यता का एक रूप है। जिसका आप अवलोकन कीजिए–

1– सादृश्यता क्या है ? (आत्मौपम्येन) :–

मनुष्य की तीन मौलिक समस्याएं है जिन्हें आवश्यकताएं भी कहा जाता है। इन मौलिक आवश्यकताओं को रोटी, कपड़ा और मकान कहते हैं। भूख की पूर्ति भोजन से होती है, इस कारण भोजन प्रमुख मौलिक समस्या है। इसके पश्चात् वस्त्र दूसरी मौलिक आवश्यकता है जिससे मनुष्य तन ढक सकता है। इन दो मौलिक समस्याओं के पश्चात् उसे रहने के लिए आवास की आवश्यकता होती है। हमारी जो मौलिक आवश्यकता है जिसकी पूर्ति के लिए हम प्रयासरत रहते हैं । वह हमारे स्तर के समस्त लोगों की मौलिक आवश्यकता अवश्य होगी ऐसा आभास करना ही अपनी सादृश्यता है। अपनी तरह से आवश्यकताओं की अनुभूति अन्य लोगों के लिए भी करना ही अपने सादृश मानना है।

मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् मनुष्य विलासता पूर्ण जीवन के लिए आवश्यकताओं के बारे में विचार करता है। उसे सुन्दर सुविधा पूर्ण आवास, अच्छा वाहन, सामाजिक सम्पन्नता पूर्ण जीवन की आवश्यकताओं का आभास होता है। आज का मानव अधिकांश रूप से विलासतापूर्ण जीवन की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। वह

चाहता है कि हमें समस्त सुविधाओं से युक्त रहन सहन कार्य तथा अच्छी स्थिति प्राप्त हो। आज का मनुष्य इसकी पूर्ति के लिए जीवन में अनेक प्रकार के नैतिक अनैतिक, अधार्मिक कार्य कर रहा है। शास्त्र प्रतिकूल विकर्मों का सम्पादन करता है। जैसे विलासतापूर्ण जीवन की आवश्यकता हमें है वैसी ही अन्य सभी को होगी। सभी इस प्रकार का जीवन जीना चाहते हैं यह विचार रखना तथा किसी के विचार में व्यवधान न करना ही सादृश्यता है।

हम सभी चाहते हैं हमसे सब कोई सामान्य व्यवहार करें। मृदुभाषिता से व्यवहार, आचरण हम सभी की मौलिक आवश्यकता है। हम जहां कहीं भी जाते हैं चाहते हैं कि हमसे लोग स्नेहपूर्ण बात करें। हमारी समस्या सुने और उनका समाधान करें। यह विचार सभी का रहता है। यदि हम कहीं भी जाते है कोई हमसे अनुचित व्यवहार करता है, कटु शब्दों का प्रयोग करके हमारी समस्या पर ध्यान नहीं देता है तो हमें आन्तरिक दुःख होता है और उसका हम यथा संभव यथाशीघ्र प्रतिकार भी करते हैं। हम जैसा व्यवहार, स्नेह, आचरण दूसरों से चाहते हैं वैसा आचरण, व्यवहार, स्नेह दूसरों से करना ही सादृश्यता है। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो सादृश्यता के सिद्धान्त का उल्लंघन करते हैं जो हम दूसरों से चाहते हैं वैसा हम दूसरों के लिए भी करें। हम जिस व्यवहार की अपेक्षा दूसरों से करें वैसा ही व्यवहार हमें दूसरों से करना चाहिए। इसी को सादृश्यता कहते हैं।

2– दुःख की सादृश्यता क्या है ? (यदि वा दुखम्) :–

मृत्यु समस्त जीवों के लिए महान भय है। मनुष्य के लिए विशेष है। इसी कारण मनुष्य मृत्यु से बहुत घबराता है। एक अति वृद्ध मनुष्य भी मृत्यु नहीं चाहता है। इसी प्रकार परमात्मा ने समस्त जीवों को मृत्यु के भय के आभास की संज्ञानता दी है। आप किसी भी जीव, पशु, पक्षी, कीट आदि को मारने का प्रयास करेंगे तो वह जान बचाने के लिए भरसक प्रयत्न करेगा।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि समस्त जीवों के लिए भी मृत्यु का भय सबसे बड़ा भय है। प्रत्येक कीट, पशु, पक्षी, जीव, जन्तु, मृत्यु के भय को जानता है। परमात्मा प्रत्येक के हृदय में वास करता है और वह प्रत्येक जीव को उसके मृत्यु के भय से परिचित कराता है। प्रत्येक जीव को यदि मृत्यु भय का बोध है जैसा की मनुष्य को है इस कारण हमें इस तथ्य का बोध रहे कि यदि हम किसी जीव को मृत्य देना चाहते हैं तो उसे भी

उतना ही कष्ट होगा जितना हमें होगा। इस तथ्य का बोध रहना तथा उसका पालन करना दुःख की सादृश्यता का बोध है।

हम सभी अस्वस्थ होते हैं और अस्वस्थ होने पर उचित इलाज, दवाईयों अर्थात् औषधियों की आवश्यकता होती है। हम प्रयास करते हैं कि हमारी अस्वस्थता का तत्काल निराकरण हो तथा उचित इलाज और दवाई आदि प्राप्त हो, क्योंकि हम शीघ्रातिशीघ्र स्वस्थ होना चाहता है। इसी प्रकार अन्य कोई बीमार होता है तो वह भी वैसी ही भावना रखता होगा और उसे ही उचित इलाज, दवाईयों की आवश्यकता का वैसा ही आभास होता होगा जैसा हमें होता है। अन्य को भी स्वस्थता की तत्काल आवश्यकता की प्रतीति होती होगी। यह आभास करना सादृश्यता का आभास है तथा जैसी व्यवस्था अपनी अस्वस्थता के निवारण के लिए करते हैं वैसी व्यवस्था अन्य लोगों के बारे में करे तो यह उत्कृष्ट श्रेणी की सादृश्यता है।

दस प्रकार की सृष्टि में सातवीं सृष्टि वृक्ष, पेड़, लताओं आदि की है। इसका अर्थ वे भी चेतन हैं। यदि हम उनकी शाखाओं को काटते हैं तो उन्हें भी वैसा ही कष्ट होता होगा, जैसा हमें हमारे अंगों को काटने से होता है। यदि हमे इस तथ्य का आभास हो कि पेड़ पौधों को काटने पर भी वैसे कष्ट का आभास होता है तो यह दुःख की सादृश्यता है। वृक्ष को उसके अंगों को काटने पर कष्ट होता है परन्तु वह इस कष्ट को स्पष्ट नहीं कर सकते हैं। जैसा कि हम कर सकते हैं। किसी पशु पक्षी आदि के अंगों को काटने पर उसे अत्यंत कष्ट होता है और वह पीडा से कराहता है। उसकी पीड़ा उसकी छटपटाहट में प्रतीत होती है। मनुष्य अपनी पीड़ा को कह सकता है, क्योंकि उसे परमात्मा ने वाणी प्रदान की है। यदि हम पेड़ पौधों, जीव–जन्तुओं में पीड़ा का आभास अपने समान ही करें तो यह दुःख की सादृश्यता है।

3– सुख की सादृश्यता क्या है ? (सुखं वा) :–

हमारे पास यदि अपार सम्पत्ति है तो वह सम्पत्ति हमें दो प्रकार से ही प्राप्त होती है एक पैतृक रूप से प्रारब्धवश अर्थात् अनायास ही उपलब्ध हो जाती है, क्योंकि उसमें हमें प्रयास नहीं करना पड़ता और दूसरे हमारे अथक प्रयास से भी अर्जित की जाती है। पैतृक सम्पत्ति जो हमें प्राप्त होती है वह परमात्मा की कृपा से हमारे संचित कर्मो के परिणाम के कारण प्राप्त होती है क्योंकि उसने ही हमें धनाढ्य परिवार में जन्म

दिया है, पैदा किया है। यदि वह हमें गरीब परिवार में उत्पन्न करता तो वह सम्पत्ति हमें प्राप्त नही होती। इस कारण उसकी कृपा की स्पष्ट प्रतीति होती है। उसी प्रकार यदि हमें कोई विशाल धन अनायास ही प्राप्त हो जावे तो उसमें भी परमात्मा की कृपा रहती है। वह परमात्मा ऐसा संयोग उत्पन्न कर देता है कि हमें धन हमें अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

हमारे प्रयास से जो धन सम्पत्ति हमें प्राप्त होती है वह भी परमात्मा की कृपा से ही हमें प्राप्त होती है, क्योंकि परमात्मा ऐसे संयोग उत्पन्न करता है कि हमें अपने व्यवसाय में सफलता मिलती जाती है। जब वह किसी के व्यवसाय की हानि करना चाहता है तो अनेक प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियां तथा दैवीय आपदायें स्वतः उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार जो धन हमें प्रयास से, परिश्रम से प्राप्त होता है वह हमारे सत्कर्मो के परिणाम के रूप में प्रकट हो जाता है। इसलिए यदि हम धनपति है तो यह परमात्मा की साक्षात् और प्रत्यक्ष कृपा है।

उस परमात्मा के सहयोग से हमें जो कुछ धन प्राप्त हो गया है वह वस्तुतः परमात्मा का ही है। वही उसका वास्तविक स्वामी है। हम जब धनपति हो जाते हैं तो अनेक प्रकार के सांसारिक सुखों का उपभोग करते हैं और इस धन को अपना समझ कर वैसा ही व्यवहार करते हैं। धन परमात्मा का है उसे अपना समझ कर हम उसका उपभोग करते हैं। हम जो सुख उससे प्राप्त करते हैं वैसा ही सुख अन्य लोग भी प्राप्त करें। यदि यह भावना दृढ़ हो जावे और व्यवहारिक रूप से प्रकट हो तो यह सुखों की सादृश्यता है। जैसा हम सुख चाहते हैं वैसा ही अन्य लोगों के लिए भी उपलब्ध हो। हमें यह भावना रहेगी तो हम श्री भगवान के कथन के अनुसार सुखों की सादृश्यता का पालन करेंगे। व्यवहार में यह तथ्य कठिन है और बिना साधना के यह प्रयोगात्मक रूप से संभव नहीं है।

4– सुख दुःख की सादृश्यता क्यों नहीं आती है ? :–

सुख तथा दुःख की सादृश्यता की स्थिति मनुष्य को क्यों नहीं प्राप्त हो पाती है? यह तथ्य विचाणीय है। मनुष्य के मन में कुछ भाव हैं जिनसे वह सादृश्यता के प्रतिकूल कर्म करता है। प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि यह शरीर सभी को परमात्मा के द्वारा प्राप्त हुआ है तथा धन भी परमात्मा के द्वारा प्रदत्त है। फिर भी मनुष्य उसे अपना समझ

कर सादृश्यता के प्रतिकूल व्यवहार करता है। उन तथ्यों का अवलोकन कीजिए जो सादृश्यता की स्थिति को लाने में बाधक है।

(क) ईर्ष्या, द्वेष : मनुष्य के अन्तःकरण में ईष्या, द्वेष के भाव रहते हैं जो दूसरों को हमसे पृथक् करते हैं। हम जिन कारणों से ईष्या, द्वेष करते हैं उन कारणों पर विचार करें और देखें कि हमारी ईष्या, द्वेष की स्थिति हमें क्यों प्राप्त हुई है? हम किसी व्यक्ति से ईर्ष्या, द्वेष क्यों करते है ? उसमें मौलिक कारण क्या है ? जब आप ईर्ष्या, द्वेष के मौलिक कारणों पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि अपनी हानि की आशंका के कारण ही हम दूसरों से ईष्या, द्वेष करते हैं। जबकि जो हानि होनी है वह तो स्वतः ही होगी। इस कारण ईष्या, द्वेष का कोई अर्थ नहीं है।

(ख) घृणा : हमारे अन्तःकरण में दूसरों के प्रति घृणा का भाव रहता है क्योंकि हम दूसरों से अपने को अच्छा समझते हैं। हमारी अपने को श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति दूसरों के प्रति घृणाभाव की स्वतः ही उत्पत्ति कर देती है। जैसे कोई गरीब, असहाय हमसे कुछ याचना करता है तो उसकी स्थिति को देखकर हमें उसके प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। अथवा हमसें जो उचित व्यवहार नहीं करते हैं या हमसे अधिक साधन सम्पन्न हैं उनके प्रति भी हमारे में घृणा का भाव रहता है। घृणा अन्य कारणों से भी हो सकती है। घृणा का भाव भी हमारे सादृश्यता के भाव के प्रतिकूल हैं।

(ग) असमानता : हम उच्च हैं। धन, पद, सम्पदा, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा में हमारे समान कोई नहीं है अथवा अमुक व्यक्ति नहीं है। यह भाव असमानता का भाव है। इस भाव से जब हम आवृत हो जाते हैं तो भी सादृश्यता के भावों को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। असमानता का भाव अपने से निम्न लोगों के प्रति रहता है। असमानता का भाव तथा सादृश्यता एक दूसरे के प्रतिकूल भाव है। इसलिए जब तक असमानताः का भाव रहता है तब तक सादृश्यता का भाव कदापि नहीं आ सकता।

(घ) स्वार्थपरता : हमारा ही हित और कल्याण हो अन्य का हो न हो यह भाव जब अन्तःकरण में आ जाता है तो इस भाव को स्वार्थपरता कहते हैं। जब मनुष्य में यह भाव रहता है कि हमारा ही हित कल्याण हो अन्य किसी का न हो तो यह भाव जब आ जाता है तो यह स्वार्थपरता का विकृत रूप है।

स्वार्थपरता से आवृत मनुष्य प्रत्येक समय अपने हित और कल्याण की बात पर विचार करता रहता है उसके विचारण में अन्य कोई तथ्य नहीं रहता। स्वार्थपरता से

सादृश्यता के भाव को क्रियान्वित नहीं किया जा सकता है इसलिए स्वार्थी मनुष्य अपने सदृश अन्य किसी को नहीं समझता है।

(ङ) स्वामित्व का भाव : अनेक वस्तुयें में जो हमारे सम्पर्क में हैं वह हमारी हैं यह भाव सभी में प्रबल रहता हैं तथा इससे हम स्वामित्व के भाव से आवृत हो जाते हैं। जिन वस्तुओं को हम अपने स्वामित्व वाली मानते हैं उनका स्वयं ही उपभोग करना चाहते हैं। हमारे आवास में कोई असहाय व्यक्ति कुछ समय तक रूकना चाहता है तो हम उसे भगाते हैं क्योंकि वह आवास हमारे में स्वामित्व में हैं। यदि उस आवास को हम अपने स्वामित्व का न मानते तो असहाय मनुष्य को सहारा देते है । जैसे सार्वजनिक स्थान हमारे स्वामित्व में नहीं होते हैं तो हम किसी भी व्यक्ति को उसके उपयोग को लेकर कोई आपत्ति अधिकांशतः नहीं करते हैं। इस प्रकार स्वामित्व का बोध भी हमें सादृश्यता से विमुख कर देता है।

4– समस्त सुखों को भोगने की इच्छा :–

मनुष्य की यह प्रकृति है कि संसार के समस्त सुखों को अकेले ही भोगना चाहता है, प्रयोग करना चाहता है। वैसे समस्त संसार की सम्पदा को भी अपने अधीन करना चाहता है। यह भाव मनुष्य में रजोगुण की प्रवृत्ति के कारण होता है। हम अकेले बहुत कुछ एकत्र करना चाहते हैं और उनका उपभोग करना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति सादृश्यता के नितान्त प्रतिकूल है। हमें संसार की प्रत्येक वस्तु चाहिए वह भी अकेले ही। मनुष्य की बहुत छोटी भूख है और उसके वस्तुओं के उपभोग की सीमा भी बहुत छोटी है परन्तु वह अपनी भूख का हजारों गुना रखने की इच्छा करता है तथा अपने उपयोग से बहुत अधिक सुखो को एकत्र करना चाहता है। यह सादृश्यता के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। उपरोक्त प्रकार से कुछ तर्क संगत तथ्य प्रस्तुत किये गए जो सादृश्यता के प्रतिकूल है। हम जैसा अपने लिए चाहते हैं वैसा ही दूसरों के लिए चाहें तथा हम वैसे ही सुख की आकांक्षा दूसरों के लिए करें जैसे सुखों की आकांक्षा अपने निमित्त करते हैं। हम जिन वस्तुओं तथा व्यवहार से दुःख का आभास करते हैं वैसा ही दूसरे भी करते होंगे यह भाव रहता है और इसी भाव से व्यवहार भी रहता है तो यह सादृश्यता है। श्री भगवान ने इसी का वर्णन इस श्लोक में किया है जो विशिष्ट है।

5– सादृश्यता का अनुसरण करने वाला परम योगी है (स योगी परमोमतः):–

श्री भगवान ने उस साधक को परम योगी, सर्वोत्कृष्ट योगी की उपाधि दी हो जो भावना और व्यवहार में समदर्शी हो तथा अपने सदृश सुख दुःख की अनुभूति करता हो। यह स्थिति तब तक प्राप्त नहीं होती है जब तक साधक परमात्मा के परमाश्रय में नहीं जाता है। श्री भगवान का परमाश्रय ग्रहण करने से, समस्त वस्तुओं का श्री भगवान का मान लेने से अपने स्वामित्व के बोध के समाप्त हो जाने से, स्वार्थपरता के पूर्ण परित्याग से यह स्थिति प्राप्त हो जाती है। साधारण साधक के लिए सादृश्यता की स्थिति दुष्प्राप्य और दुर्लभ है।

हम सभी अपने शरीर के लिए सुख चाहते हैं और दुःख के आभास की आशंका से दुःखी हो जाते हैं। हमें लगे कि हमे निकट भविष्य में दुःख प्राप्त होने वाला है तो हम दुःख की आशंका से ही दुःखी हो जायेंगे। यह आशंका सभी के पास होगी तथा सुख की चाहत भी सभी में होगी । हम दुःख की भावना से जैसे आशंकित रहते हैं वैसे अन्य भी रहते हैं। इस कारण किसी को दुःख देने का प्रयास न करना। मनसा वाचा कर्मणा ऐसे कर्मो का त्याग करना सादृश्यता को प्राप्त करना है। सादृश्यता समता के भाव की उत्कृष्ट स्थिति है, जहां पर साधक शान्त हो जाता है और समस्त सांसारिक क्रियाकलापों से पूर्ण उदासीन होकर सर्वथा निरपेक्ष व्यवहार करता है।

परमयोगी की स्थिति प्राप्त करना सहज नहीं है। क्योंकि इसमें अपने सादृश्य कष्ट, दुःख और सुख की अनुभूति करनी पड़ती है। यह योगियों की उत्कृष्ट और श्रेष्ठ स्थिति है। सुख और दुःख की अनुभूति न करना एक पृथक् तथ्य है, जो कठिनता से आने वाली स्थिति है, परन्तु जब साधक अहंकार पर नियंत्रण कर लेता है तब सुख दुःख की अनुभूति को वह सहजता से प्राप्त कर लेता है परन्तु अपने सादृश्य सुख दुःख की अनुभूति इससे भी उत्कृष्ट स्थिति है तथा अत्यंत कठिनता से प्राप्त होती है। श्री भगवान ने कठिनता से प्राप्त होने के कारण ही ऐसे योगी को परमयोगी की संज्ञा दी है।

सादृश्यता की स्थिति एक भावनात्मक स्थिति है जो मन पर नियंत्रण करने से अर्थात् मन को संयमित करने से प्राप्त हो सकती है। इस कारण अर्जुन के मन में मन के असंयमन के प्रति प्रश्न उत्पन्न हो गया। इसी के निवारण हेतु निम्न विषय है–

अर्जुन उवाच

मूल श्लोक – 33

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।

पदच्छेद –

यः, अयम्, योगः, त्वया, प्रोक्तः, साम्येन, मधुसूदन,।

एतस्य, अहम्,न, पश्यामि, चञ्चलत्वात्, स्थितिम्, स्थिराम्।।

मूल श्लोक – 34

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

पदच्छेद –

चञ्चलम्, हि, मनः, कृष्ण, प्रमाथि, बलवत्, दृढम्

तस्य, अहम्, निग्रहम्, मन्ये, वायोः, इव सुदुष्करम्।।

भावार्थ : अर्जुन ने कहा हे मधुसूदन ! आपने जो ये समत्व योग कहा है वह चंचलता होने से मैं इसकी स्थिर स्थिति को नहीं देखता हूँ। हे कृष्ण ! मन चंचल, प्रमथनशील, दृढ़ तथा बलवान है। उसका निग्रह वायु के समान अत्यंत दुष्कर है ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या : उपर्युक्त दो श्लोकों में अर्जुन ने मन की चंचलता के विषय में प्रश्न खड़ा किया है और श्री भगवान से यह कहा कि अब तक आपने जो समता के भाव से योग का सम्पादन किया है उस योग की सिद्धि मन के चंचल होने के कारण बहुत कठिन है, दुष्कर है। समता के भाव से जो वर्णन किया वह पूर्व श्लोक में है तथा चंचल मन से किस प्रकार योग सिद्धि नही होती है यह वर्णन इस अध्याय में स्थान स्थान पर है।

अर्जुन ने जिस भाव से यह प्रश्न किया है ? उन भावों का वर्णन पहले आवश्यक है। क्रमशः उसका अवलोकन कीजिए–

1– श्री भगवान ने समता के भाव से क्या कहा है(साम्येन प्रोक्तः) ?

अपनी सादृश्यता से सभी को देखना सर्वोच्च प्रकार की समता है। यह समता शीघ्र नहीं आती है। हम सभी को अर्थात् गरीब, असहाय को तथा अति सम्पन्न मनुष्य को एक समान रूप से नहीं देख सकते और न ही एक समान व्यवहार कर सकते हैं। इस कारण हमें सादृश्यता का भाव सहजता से प्राप्त नहीं होता है। श्री भगवान ने इसी सादृश्यता के भाव की व्याख्या की थी तथा यह कहा था कि जो साधक अपने समान ही औरों में सुख और दुःख की अनुभूति करने लगता है वह साधक विशिष्ट हो जाता है तथा परमयोगी माना जाता है। अर्जुन ने अपने दूसरे प्रश्न के पूर्व ही यह प्रकरण सुना था। इस प्रकरण, विषय को सुनकर ही उनके मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई यह प्रश्न उठा है इस करण इस प्रश्न का निश्चित सम्बन्ध पूर्व में कहे गए 32वें श्लोक से ही है। इसके अतिरिक्त उन प्रकरणों में जहां–जहां पर भी मन की एकाग्रता के विषय को निरूपित किया गया है। उनका भी प्रस्तुतीकरण आवश्यक है।

2– मन की चंचलता से सादृश्यता क्यों नहीं प्राप्त होती ? :–

मन एक है वह अनेक सांसारिक विषयों का विचारण करता है तथा मनुष्य को विषयासक्त रखने में मन की प्रमुख भूमिका है। जब मनुष्य का, साधक का मन विषयों में आसक्त रहता है तब तक वह अनेक प्रकार के विषयों का विचारण करता हरता है। वे समस्त विषय सांसारिक ही होते हैं। सांसारिकता के विषय में विचार करने वाला मन स्वार्थी हो जाता है और स्वार्थपरता से संसार के बारे में विचार करने लगता है। स्वार्थी भावना ही सादृश्यता की स्थिति के प्रतिकूल है। स्वार्थी भावना का त्याग सादृश्यता की स्थिति को लाने वाला है। जब तक हम अपने बारे विचार करते रहते हैं तब तक हमें अन्य लोगों के बारे में विचार करने का समय नहीं मिलता और न ही स्मरण होता है। हम स्वार्थी भावना से जो भी कार्य करते हैं वह कार्य अपने लाभ तथा सुख के लिए करते हैं जबकि सादृश्यता की स्थिति प्राप्त करने के लिए दूसरों के हितार्थ अर्थात् परमार्थ भाव से कार्य करना पड़ता है। इस कारण सादृश्यता की स्थिति में मन की चंचलता बाधक है। यही अर्जुन का प्रश्न है कि मन चंचल होने कारण ही समता भाव का मिलना कठिन है।

3– आपने जो योग कहा है (योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः) :–

श्री भगवान ने कई प्रकरणों में मन की चंचलतः को नियंत्रित करने तथा मन को एकाग्र करने को कहा है और मन की एकाग्रता से ही सिद्धि का वर्णन किया है। यदि मन संयमित न हो अर्थात् असंयमित रहे तो सिद्धि कठिन है। उन प्रकरणों की ओर संकेत करके अर्जुन ने यह प्रश्न किया है जो योग सम्बंधी प्रकरण आपने कहे हैं वे मन की एकागता न होने के कारण सफल होना कठिन है। जिन प्रकरणों में पूर्व में श्री भगवान ने कहा है तथा जिनमें मन की एकाग्रता का उल्लेख है उनका अवलोकन कीजिए।

(क) दसवां श्लोक : सांसारिक वस्तुओं को एकत्र न करने वाला अपरिग्रही संसार की अपेक्षा से रहित, **चित्त को जीत लेने वाला योगी, एकान्त में रहकर मन को निरन्तर** लक्ष्य में लगावे। इस श्लोक में मन को एकाग्र करके अर्थात् वश में करके संयमित करके लक्ष्य में लगाने का तथ्य कहा गया है।

(ख) बारहवां श्लोक : न अधिक ऊंचे न अधिक नीचे आसन पर बैठक चित्त और इन्द्रिय की क्रियाओं को जीतकर **मन को एकाग्र करके** स्वयं की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करें। इस प्रकरण में भी मन की एकाग्रता के तथ्य को कहा गया है।

(ग) चौदहवां श्लोक : जो साधक ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित है, भय से रहित है, अच्छी प्रकार शांत है, ऐसा युक्त अर्थात् योगी **मन को संयमित करके श्रीभगवान में चित्त को स्थापित** करता हुआ श्रीभगवान के परायण बैठे इस श्लोक में भी श्रीभगवान ने भी मन को संयमित करने का विषय निरूपित किया है।

(घ) पन्द्रहवां श्लोक : मन को इस प्रकार निरंतर लक्ष्य में स्थापित करता हुआ नियत मन वाला ध्यान योगी मेरे में स्थिति वाली परम निर्वाण शांति को प्राप्त हो जाता है। इस श्लोक में भी मन के संयमन के बारे में स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

(ङ) अट्ठारहवां श्लोक : जब अच्छी प्रकार नियत किया हुआ चित्त स्वयं के स्वरूप में अच्छी तरह से स्थित हो जाता है तथा समस्त कामनाओं से निस्पृह हो जाता है तब वह युक्त अर्थात् योगी कहा जाता है। इस श्लोक में भी विनयत चित्त के बारे में मन को संयमित करने का वर्णन हुआ है।

(च) बीसवां श्लोक : जब निरूद्ध चित्त योग के सेवन से उपराम हो जाता है तब स्वयं ही स्वयं को देखता हुआ स्वयं में ही संतुष्ट रहता है। यहां पर भी चित्त की योग के सेवन से उपराम स्थिति का वर्णन हुआ है।

(छ) चौबीसवां व पच्चीसवां श्लोक : संकल्प के द्वारा उत्पन्न समस्त कामनाओं का संपूर्णता से परित्याग करके **मन से समस्त इन्द्रियों को सभी ओर से नियंत्रित करके** धैर्यवान बुद्धि से शनैः शनैः उपराम हो तथा मन को आत्मतत्त्व में भली प्रकार से स्थापित करके अन्य कुछ भी चिंतन न करे। उपरोक्त दोनों ही श्लोकों में मन की चंचलता का वर्णन हुआ है।

(ज) छब्बीसवां श्लोक : चलायमान तथा चंचल मन जिन जिन विषयों में भ्रमण करता है उन उन विषयों से नियंत्रित करके उसे आत्मतत्त्व में ही वशपूर्वक स्थापित करे। इस श्लोक में भी मन को नियंत्रित करने के उपाय का विशिष्टता से वर्णन हुआ है।

उपर्युक्त प्रकार से श्री भगवान ने मन की चंचलता तथा उसको संयमित करने के तत्त्व का निरूपण किया है। इसी तथ्य को दृष्टिग्रत रखकर अर्जुन ने यह तथ्य कहा कि जिन प्रकरणों को आपने कहा है वह मन क` चंचल होने के कारण संपन्न होना संभव नहीं है। इसी तथ्य को **एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्** से व्यक्त किया है।

4– मन की चंचलता से योग की सिद्धि नहीं होती– यदि मन चंचल है अर्थात् मन नियंत्रित नहीं है और असंयमित है तो योग की सिद्धि संभव नहीं है। यह अर्जुन का कथन है, प्रश्न है। इस अध्याय में प्रमुख रूप से ध्यान का प्रकरण है। ध्यान के प्रकरण में मन के संयमन, निग्रह, एकाग्र होने की आवश्यकता विशेष है। इस कारण अर्जुन के मन में यह प्रश्न प्रकट हुआ है कि मन तो असंयमित व चंचल स्वभाव का होता है इसलिए मन के चंचल होने के कारण ध्यान की सिद्धि कैसे संभव है? अर्थात् संभव नहीं है। अर्जुन का यह प्रश्न स्वाभाविक भी है क्योंकि श्री भगवान ने जिस प्रकार से ध्यान की सिद्धि एवं क्रिया में मन के नियंत्रण की आवश्यकता का निरूपण किया है, उससे यह प्रश्न किसी के मन में भी स्वतः ही उत्पन्न हो सकता है। ऐसा प्रश्न अनायास ही उठेगा। मन वस्तुतः चंचल है। इसके चंचल रहने तक ध्यान की क्रिया संभव ही नहीं रहती है। इस कारण अर्जुन ने यह मूल प्रश्न उठाकर मन के संयमित होने की क्रिया को बताने का भी अनुरोध किया है। इसी प्रश्न को और भी स्पष्ट करने के लिए अर्जुन

ने चौतीसवां श्लोक कहा है। अर्जुन द्वारा उठाए गए मूल प्रश्न के तथ्य का अवलोकन कीजिए–

5– मन के चार स्वरूप (चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्) –

अर्जुन ने मन को चंचल कहने के साथ उसे प्रमथनशील, बलवान एवं दृढ़ कहा है। अर्जुन के मन के संबंध में यह प्रस्तुति विशेष है। मन के चार विशिष्ट स्वरूप हैं और उसकी क्रियाएं विशेष हैं, इसलिए अर्जुन ने मन के चारों स्वरूपों को कहा है तथा यह स्पष्ट किया है कि एक ही मन पृथक् पृथक् प्रकार से अपने विभिन्न स्वरूपों में परिवर्तित होकर विभिन्न प्रकार की संसारिक क्रियाएं परिवर्तित होकर किया करता है। चंचल मन क्या है? तथा उसकी क्रियाविधि क्या है? प्रमथनशील मन क्या है? तथा बलवान और दृढ़ मन क्या है? इसकी क्या क्रियाएं हैं। इसका पृथक्–पृथक् भाव से अवलोकन करें तथा मन के प्रत्येक स्वरूप को देखें

(क) चंचल मन– मन की वृत्ति संकल्प है। इस वृत्ति के चलते मन अनेक प्रकार की संसारिक विषय वस्तु के संबंध में निरंतर विचार करता रहता है। जागृत तथा स्वप्नावस्था में निरंतर चलता रहता है। हम जब मन की गति पर ध्यान देंगे तो पाएंगे कि मन एक ही विषय के बारे में विचार नहीं करता है। इसकी गति बहुत ही संवेदनशील है और तीव्र है। जैसे हम एक विषय के बारे में विचार कर रहे होते हैं तो इसी विचार के मध्य दूसरा विचार अनायास ही आ जाता है। इसी क्रम में अर्थात् उसकी शाखा प्रशाखा के रूप में अन्य प्रकार के विचार भी प्रकट हुआ करते हैं। मन किसी भी विषय का थोड़ा सा भी आश्रय पा जाने पर उधर ही स्वतः स्वाभाविक रूप से मुड़ जाता है। यह क्रिया बहुत ही तेज गति से होती है। इस कारण यह मन का चंचल होना कहा जाता है।

मन अपने संपर्क में आए हुए विषयों को बहुत तेजी से ग्रहण करता है और तत्काल उस पर विचार भी आरंभ कर देता है। जैसे हम कहीं भी वाहन से जा रहे हों और स्वयं ही वाहन चला रहे हो तो हमारा ध्यान वाहन के संचालन पर रहता है कि कहीं कोई दुर्घटना न हो जावे। ध्यान वाहन के संचालन पर रहते हुए भी हमारा मन अनेक प्रकार के विषयों के बारे में विचार करता रहता है। उसका विचारण रूकता नहीं है। समाप्त नहीं होता है। वाहन के संचालन पर ध्यान रहता है परंतु साथ में अनेक विषयों के बारे में भी विचार करना मन की चंचलता है। इसी मध्य यदि कोई व्यक्ति

बातें करता है तो उसकी बातों के विषय को ग्रहण करके बुद्धि के द्वारा उसका विनिश्चय करके हम उत्तर भी प्रस्तुत कर देते हैं। इस प्रकार वाहन संचालन होता रहता है और मन की ंचचलता के कारण मन निरंतर किसी न किसी विषय के बारे में विचार करता रहता है।

एक अध्यापक कक्षा में अपने विषय का अध्यापन कार्य करता है। अध्यापन में कई क्रियाएं संपादित होती हैं। जैसे विषय के बारे में व्याख्यान करना, किसी विषय विशेष की प्रस्तुति करना, किसी तथ्य को समझाना, व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से आदेश निर्देश देना आदि आदि। यह सब क्रियाओं के करने में मन और बुद्धि दोनों ही कार्य करते हैं और मन तथा बुद्धि के निर्देश से वाणी अपना प्रस्तुतीकरण भी करती है। मन का विचारण, बुद्धि का विनिश्चय, वाणी का प्रस्तुतीकरण एक साथ चला करता है। इसी मध्य अन्य विषय भी मन को छूकर वहां से चले जाते हैं। वह अध्यापन के मध्य विषयों पर भी विचार करने लगता है। यह मन की चंचलता के कारण होता है। विषय की प्रस्तुतीकरण के मध्य अन्य विषयों के बारे में भी विचार कर लेना यह मन की विशिष्ट शक्ति है। मन की चंचलता का स्पष्ट प्रमाण है।

हम जब किसी पुस्तक का अध्ययन करते हैं, तो हमारी मन तथा बुद्धि दोनों ही उस पुस्तक के विषय को ग्रहण करते हैं। नेत्रों से पुस्तक पढ़ी जाती है और नेत्रों के माध्यम से मन तथा बुद्धि उस विषय वस्तु को ग्रहण करते रहते हैं। अध्ययन के मध्य बहुधा मन अन्य विषयों का विचारण करने लगता है। यह क्रिया स्वतः एवं स्वाभाविक रूप से होती है। इस प्रकार हम अध्ययन के साथ साथ अन्य विषयों पर भी विचार कर लेते हैं। अध्ययन स्वतः ही मन का एक विषय है परंतु उस विषय को छोड़कर मन का विचारण अन्य विषयों की ओर उन्मुख हो जाता है। जैसे कोई बलात् ही मन को खींचकर कहीं ले जाता है। यह सब की चंचलता के कारण ही होता है। चंचलता ही मन को अध्ययन काल में अन्य विषयों में भटका देती है।

जब हम किसी पुस्तक का लेखन कार्य करते हैं तो भी मन अनेक प्रकार से कार्य करता है। विषय वस्तु को तैयार करना, विषय वस्तु के बारे में चिंतन करना, विषय वस्तु की प्रस्तुति किस प्रकार से की जाएगी इस संबंध में विचार करना और साथ में लेखन की क्रिया को संपादित करना। एक मन अनेक प्रकार से अनेक विषयों को संयमित करके, संजोकर प्रस्तुत करता है। जब लेखन कार्य चलता है तब विचारों का

प्रस्तुतीकरण चलता है और विचार लेखनी के रूप में प्रकट होते रहते हैं। विचारों को प्रस्तुत करने के मध्य हमारा मन अन्य विषयों का विचार करने लगता है। यह मात्र मन की चंचलता के कारण ही होता है। चंचल मन इस प्रकार लेखन के मध्य निकल भागता है। यह सब चंचल मन के कारण ही अनेक विषय वस्तुएं एक साथ ही विचारित की जाती हुई प्रतीत होती हैं और चंचल मन का स्वरूप बहुत गतिशील रहता है।

(ख) प्रमथनशील मन– प्रमथनशील मन अनेक संसारिक विषयों में स्वतः भ्रमण करता है। अनायास अनेक विषयों का ग्रहण करके उन पर विचार करने लगता है। अनावश्यक प्रकरणों को ग्रहण करके उसके बारे में विचार करता है। जिन विषयों से कोई संबंध नहीं होता हैं उन विषयों पर विचार करना यह मन की प्रमथनशीलता है। प्रमथनशील मन मंथन करता है अर्थात् मथता है। उपर्युक्त तथ्यों का पृथक् पृथक् अवलोकन कीजिए जिससे प्रमथनशील मन के स्वरूप को और स्पष्ट रूप से समझा जा सके।

(एक)– संसारिक विषयों में स्वतः घूमता है– जब हम कहीं एकांत में होते है ंतब मन का विचारण अनेक प्रकार से अनेक संसारिक विषयों में होता है। एकांत में होने अथवा विश्राम काल में निद्रा से पूर्व, कोई स्थूल कार्य न होने पर भी इस प्रकार के विचार स्वतः ही मन में उत्पन्न होते रहते हैं। उन स्थितियों में मन मंथन करता रहता है और निष्प्रयोज्य घूमा करता है। यह क्रिया स्वतः ही होती है क्योंकि मन स्वभावता यह कार्य करता है। एकांत में होने पर, विश्राम काल में, खाली बैठने पर मन का स्वतः ही साधना से भागता है। हम यदि न भी चाहें तो भी अतीत के घटित विषयों में भविष्य की संभावनाओं में मन स्वतः भ्रमण किया करता है। इसके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इस प्रकार संसारिक विषयों में मन के स्वतः ही घूमने की क्रिया प्रमथनशील मन का एक स्वरूप है।

(दो)– अनावश्यक विषयों को ग्रहण करता है– प्रमथनशील मन अनावश्यक विषयों को स्वतः ही ग्रहण कर लेता है। जिन विषयों का संबंध हमसे नहीं होता है उन विषयों को भी मन को ग्रहण कर लेता है। यह प्रमथनशील मन की विशेषता है। संसार के विषयों की कोई सीमा नहीं है। इस प्रकार अनावश्यक विषयों की भी कोई सीमा नहीं है। अर्थात् वे असीमित हैं और वे असीमित विषय मन ग्रहण करके उन पर मंथन करता है। आवश्यक विषयों पर मंथन तो सही प्रतीत होता है पर अनावश्यक विषयों पर मन का मंथन उचित प्रतीत नहीं होता है फिर भी वह अपने प्रकृति के अनुसार अनावश्यक

विषयों में मंथन करता रहता है। अनावश्यक विषय वे विषय होते हैं जिनका अपने से कोई संबंध नहीं होता है फिर भी हम उन पर विचार करते रहते हैं। यह मात्र मन के प्रमथनशील गुण के कारण ही होता है।

(तीन)– असंबंधित विषयों पर मथता है– मन जिन विषयों से संबंध नहीं रखता है उन विषयों पर भी विचार करता है। जगत में हम उन विषयों से संबंध नहीं रखते हैं जिनसे संबंध रखना हम उचित नहीं मानते परंतु मन उन विषयों से संबंध स्थापित कर लेता है जो हमसे किसी भी प्रकार से संबंधित नहीं होते हैं। यह संबंध न होने के कारण भी मन प्रमथनशील होने के कारण उन विषयों पर भी विचार करने लगता है। यह विशिष्ट तथ्य है कि जिन विषयों से हमारा कोई संबंध नहीं होता है परंतु वे भी हमारे मन के द्वारा विचारित किए जाते हैं। मन उन विषयों के बारे में मथता है, घूमता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे कई विषय हैं जो हमसे संबंधित नहीं होते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का कर्मक्षेत्र पृथक्–पृथक् है। हमारा अपना कर्म क्षेत्र पृथक् है और अन्य लोगों का हमसे पृथक् प्रकार का है। फिर भी हम अन्य लोगों के कार्य क्षेत्रों के बारे में विचार करते रहते हैं। यह मन की प्रमथनशीलता के कारण ही होता है।

(चार)– काल्पनिक जगत में घूमता है– मनुष्य का मन अधिकांश काल्पनिक विषयों के बारे में विचार करता रहता है। यह काल्पनिक विषयों का विचारण मन की प्रमथनशीलता के कारण ही होता है। जैसे हम जब कभी कहीं शांत बैठते हैं, बिना किसी कार्य के रहते हैं तो हम कल्पनाशील जगत में भ्रमण किया करते हैं। मन की प्रमथनशीलता के कारण अनेक प्रकार की कल्पनाएं होती रहती हैं। हम सभी अपने द्वारा की जाने वाली कल्पनाओं के बारे में जानते ही हैं। हम सामान्य रूप से कल्पनाएं करते हैं परंतु असामान्य रूप से भी ऐसी कल्पनाएं करते हैं जिनकी पूर्ति संभव नहीं होती है जो हमारे स्तर से बहुत बाहर की होती हैं। यह सामान्य कल्पनाएं हम सब मन की प्रमथनशीलता के कारण ही करते हैं जो संभव न हो सके ऐसी असंभव बातों का विचारण भी मन कर लेता है। यह मन की प्रमथनशीलता का विशिष्ट उदाहरण है। इस प्रकार काल्पनिक जगत में भी मन का विचारण चलता रहता है। मन की प्रमथनशीलता का स्पष्ट अर्थ है कि मन अनावश्यक विषयों में, अनावश्यक तथ्यों के बारे में भ्रमण करता है और मंथन किया करता है। यह मन का स्वाभाविक गुण है। जिसके बारे में अर्जुन ने श्रीभगवान से उल्लेख किया है।

(ग) बलवान मन– अर्जुन ने मन के एक स्वरूप को बलवान कहा है। बलवान का अर्थ है कि मन में विशेष शक्ति होती है और वह अपनी शक्ति से बहुत प्रबल कार्य कर सकता है तथा उसे सहजता से जीता नहीं जा सकता है। उसका नियंत्रण आसानी से संभव नहीं हो सकता है। मन इतना शक्तिशाली है वह जहां भी चाहे वहां जा सकता है। पहाड़, समुद्र, नदी, वन, मरूस्थल जहां उसकी इच्छा होती है वह अपनी शक्ति से क्षण मात्र में वहां पहुंच जाता है। मन अपनी विशेष शक्ति से समुद्र की विशाल गहराई में, पहाड़ों की ऊंचाई में, नदी के वेग में, वनों के संजाल में तथा मरूस्थल के वृहद् स्वरूप में अकेले ही पहुंच जाता है। बिना देखे ही सभी वस्तुओं का रूप और चित्र बना सकता है। यह उसकी विशेष शक्ति है। मन को सहजता से जीता जा पाना असंभव है। क्योंकि वह चंचल मन बहुत ही प्रमथनशील है। मन की चंचलता तथा प्रमथनशीलता उसकी एक शक्ति है। जिसके कारण उसे जीता जा पाना संभव नहीं हो पाता है। हम मन को यदि रोकने का संसारिक विषयों से हटाने का प्रयास करते हैं तो मन अपनी शक्ति दिखाता है और शक्ति के आधार पर हमारे नियंत्रण को तोड़कर भाग जाता है, और संसारिक विषयों में जबरदस्ती घुसता है। हम रोकने का प्रयास करते हैं यह प्रयास हमारा पुनः पुनः चलता है परंतु वह हमारे बंधन को तोड़कर बहुत सहजता से निकल जाता है। यह तथ्य उसी प्रकार का है जैसे कोई शक्तिशाली पशु अपने बंधन को अपनी शक्ति से तोड़ डालता है वैसे ही मन अपनी शक्ति से बलवान होने के कारण अपने बंधन को बड़ी सहजता से तोड़ डालता है और शक्तिशाली मन बंधनमुक्त होकर घूमा करता है।

मन को मनुष्य नियंत्रित कर लेता है तो वह योगी हो जाता है। युक्त हो जाता है। इस कारण मन का नियंत्रण एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य है। हम साधारणतयः मन को नियंत्रित नहीं कर सकते हैं। संयमित नहीं कर पाते हैं। इस कारण योग की पूर्णता हमसे बहुत दूर रहती है। मन को सहजता से नियंत्रित किया जा सकता है। ऐसा असंभव प्रतीत होता है क्योंकि वह बहुत शक्तिशाली है। अत्यंत बलवान है। हम जब उसे किसी स्थान पर, किसी लक्ष्य पर ठहराने का प्रयास करते हैं तो भी वह अपनी पूरी शक्ति से बंधन को तोड़कर भाग जाता है। हमारे नियंत्रण में नहीं रहता है। इस प्रकार हम जब मन को नियंत्रित करने का उसे संयमित करने का प्रयास करते हैं तो वह हमारे संयमन से तुरंत तत्काल बाहर हो जाता है। वह साधारणतया प्रयास करने पर नियंत्रित नहीं होता इस कारण शक्तिशाली है। मन का यह बलवान स्वरूप।

(घ)– दृढ़ मन– एक साधक मन को एक विषय से अथवा विषयों से हटाने का प्रयास करता है और मन पुनः उसी विषय में भाग जाता है। इस प्रकार के मन के स्वभाव को दृढ़ मन कहा जाता है। इसे हठी भी कह सकते हैं। हठी मन पुनः पुनः उन्हीं स्थानों पर जाता है। उन्हीं विषयों में भ्रमण करता है जहां पर हम उसे जाने से रोकते हैं। हम हठी मन को संसारिक विषयों में जाने से रोक नहीं पाते हैं। यह तथ्य स्पष्ट करता है कि वह दृढ़ी है अर्थात् हठी है और अपनी मनमानी करता रहता है।

हठी व्यक्ति भी अपनी मनमानी करता है और उसके मन में जो आता है वह वैसा ही आचरण करता है। यह तथ्य आश्चर्यप्रद है कि हम जिन विषयों से मन को हटाते हैं उन्हीं विषयों में मन भाग जाता है और वह हमारी बात नहीं मानता है। यह उसकी हठवादिता है। स्वेच्छाचारी आचरण है। मनचाहा व्यवहार है। हठी मनुष्य भी मनमाना आचरण करके स्वेच्छाचारी कहलाता है और पुनः पुनः वही कार्य करता है जिसके लिए उसे प्रतिबंधित किया जाता है। संसार में जितने प्रकार के हठ हैं और जितने प्रकार के हठी हैं उनमें मन को विशेष हठवादी कहा जाता है। उसका प्रकार भी विशिष्ट है। हमें यदि किसी कार्य के लिए रोका जाए और हम वही कार्य करें तो हमें स्वेच्छाचारी ही कहा जाएगा। कुछ वैसा ही स्वरूप दृढ़ मन का है।

अर्जुन ने इस प्रकार श्रीभगवान के समक्ष मन के चार स्वरूपों का वर्णन किया और मन को चंचल, प्रमथनशील, बलवान तथा दृढ़ कहा। यह समस्त स्वरूपों की व्याख्या पूर्वोक्त प्रकार से की गयी है। इस श्लोक के उतरार्द्ध भाग में मन के चारों स्वरूपों के बारे में वर्णन करके अर्जुन ने यह कहा कि चंचल, प्रमथनशील, बलवान तथा दृढ़ मन का निग्रह अर्थात् रोका जाना वायु की तरह से कठिन है। अर्जुन के द्वारा कहे गए इस कथन की व्याख्या का अवलोकन कीजिए–

(6) मन का निग्रह करना क्या है? (तस्याहं निग्रहम) –

चंचल, प्रमथनशील तथा दृढ़ मन संसारिक विषयों से हटकर अपने लक्ष्य में स्थापित हो जाए उसे मन का निग्रह होना कहते हैं। मन अपने चंचल स्वरूप के कारण कहीं एक स्थान पर रूकता नहीं। प्रमथनशील और बलवान होने के कारण भी उसका रोका जा पाना बहुत कठिन होता है। हठी होने के कारण अपने लक्ष्य में स्थापित नहीं हो सकता। यह अर्जुन के कथन का अभिप्राय है। अर्जुन श्री भगवान को यह बताना चाह रहे हैं कि मन बड़ा ही चंचल है और अपनी चंचलता के कारण एक विषय का विचारण

करते समय अन्य विषयों में अनायास ही भाग लेता है। एक तथ्य पर, एक प्रकरण, एक विषय पर रूकता नहीं है। अनेक तथ्यों को एक साथ ग्रहण कर लेता है तथा गतिशीलता से चलता है। इस कारण इसका रोका जाना बहुत कठिन है।

अर्जुन ने कहा कि प्रमथनशील मन का निग्रह किया जाना कठिन है क्योंकि वह सांसारिक विषयों में स्वतः स्वतंत्र भाव से घूमता रहता है और अनावश्यक विषयों का ग्रहण कर लेता है। जिन विषयों से हमारा सम्बन्ध नहीं होता है उन विषयों को भी वह पकड़ लेता है तथा काल्पनिक जगत में भ्रमण किया करता है। इस प्रकरण में प्रमथनशील मन को निग्रह करना कठिन बताया गया है। मन बहुत ही शक्तिशाली है शक्तिशाली होने के कारण अपनी शक्ति के आधार पर दुर्लभ कार्य करता है और सहजता से जीता नहीं जा सकता है तथा उसे अपनी शक्ति के कारण ही नियंत्रण में किया जाना सरल नहीं होता है। मन इतना बलवान है कि वह जहां चाहे वहां भ्रमण कर सकता है और जिन स्थानों पर जाना असंभव हो वहां भी चला जाता है। इस कारण उसका निग्रह कठिन है। मन दृढ़ है इस कारण ही इसको रोका जा पाना असंभव सा लगता है। वह मनमाना आचरण करता है तथा चाहें जहां पहुंच जाता है। इसलिए उसका निग्रह कठिन है।

7– मन को निग्रह करना वायु की तरह दुष्कर है (निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्) :–

मन का निग्रह वायु की तरह कठिन है ऐसा अर्जुन ने कहा। मन की तुलना वायु से की। वायु को भी रोका जा पाना अत्यंत कठिन होता है। मन के निग्रह की तुलना इसीलिए वायु के निग्रह से की है। वस्तुतः वायु को भी बिना आश्रय के नहीं रोका जा सकता है। अर्जुन ने मन की तुलना वायु से क्यों की है ? यह विचारणीय है। मन तथा वायु की समानता का प्रथमतः अवलोकन कीजिए।

(क) वायु तथा मन के गुणों में समानता :–

वायु का गुण स्पर्श है। वायु स्पर्श गुण के कारण सांसारिक पदार्थो का स्पर्श करके अपने अस्तित्त्व का बोध कराती है। हम सब त्वचा से वायु की अनुभूति करते हैं। वायु सर्वत्र विचरण शील रहती है। एक स्थान पर ठहरती नहीं है। वायु के समस्त समूह को रोका जाना भी असंभव है। वायु अपने गुण से सबको प्रभावित करती है। वायु के

तथा मन के गुण में क्या समानता है जिस कारण अर्जुन ने वायु को मन के सदृश कहा है। वायु के गुणों की समानता मन से क्या है ? उसका अवलोकन कीजिए।

(एक) वायु के स्पर्श गुण की समानता :–

वायु वस्तुओं का स्पर्श करती है और मन भी प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति को मानसिक रूप से स्पर्श करता है। हम जब किसी वस्तु को देखते है और यदि वह वस्तु मनोहारी है तो हमारे मन को वह वस्तु स्पर्श करती है तभी हम यह कहते है कि अमुक वस्तु ने, अमुक व्यक्ति ने हमारे मन को स्पर्श किया है। घटनाएं भी मन को स्पर्श करती है तथा क्रियाओं का भी मन से स्पर्श होता है। यह मन की विशिष्ट स्पर्श शक्ति है जो वायु में नहीं है। वायु भौतिक पदार्थो का ही स्पर्श करती है, कर सकती है परन्तु मन भौतिक क्रियाओं को भी स्पर्श कर लेता है यह विशेष तथ्य है इससे स्पष्ट है कि मन में स्पर्श गुण है वह वायु में भी है इस कारण अर्जुन ने मन को वायु के सदृश कहा है तथा मन की तुलना वायु से की है।

(दो) वायु के सर्वत्र विचरण शील गुण में समानता :–

वायु सर्वत्र रहती है और एक ही वायु सर्वत्र विचरती है तथा निरन्तर गतिशील रहती है। यदि निरन्तर गतिशील न रहती तो उसका सर्वत्र विचरण करने वाला गुण समाप्त हो जाता। यह विस्मयकारी तथ्य है कि एक वायु सर्वत्र विचरती है। वायु का अस्तित्त्व है तथा उसके कारण ही श्वसन क्रिया संभव हो पाती है। इसलिए वायु की स्थिति अत्यंत विचरणशील रहती है। मन भी सर्वत्र विचरता है और एक स्थान पर उसका रूकने का स्वभाव नहीं है। मन के पास विचरण की विशेष शक्ति है। इसी के आधार पर ही मन विचरता है और निरन्तर क्रियाशील रहता है। अनेक स्थलों पर अनायास ही वायु की विचरणशीलता की तरह से पहुंचना इसका प्रमुख गुण है। इस प्रकार वायु तथा मन में विचरणशीलता के गुणों के आधार पर समानता है। वायु तथा मन सर्वत्र विचरने के कारण ही एक ही स्वरूप वाले है। इस कारण अर्जुन ने मन की तुलना वायु से की है।

(तीन) वायु के अनियंत्रण गुण में समानता :–

वायु अनियंत्रित रहती है तथा स्वेच्छा से जहां चाहे वहां विचरण कर सकती है। कोई भी मनुष्य वायु को नियंत्रित नहीं कर सकता है। जहां चाहे अनियंत्रित रूप से

चलना, धीमी गति से चलना सामान्य रूप से चलना, तेज गति से चलना यह सब पृथक्–पृथक् गतियां है जिन पर नियंत्रण संभव नहीं है। हम समग्रता से वायु के अनियंत्रण स्वरूप पर अपना नियंत्रण नहीं कर सकते है। वैसे ही मन भी अनियंत्रित होने पर धीमी गति से चलता है। सामान्य गति से चलता है तथा अति तीव्र गति से चल सकता है। अनियंत्रित मन की पृथक्–पृथक् गति रहती है। अनियंत्रित वायु की भी पृथक्–पृथक् गति रहती है। इस प्रकार मन के तथा वायु के अनियंत्रण गुण एक समान हैं और दोनों में अनियंत्रित रहकर अपनी गति से चलने का स्वभाव है। इसलिए अर्जुन ने मन की तुलना वायु से की है।

(चार) अनियंत्रित वायु संसार के पदार्थो को अपने वेग से नष्ट कर डालती है तथा अनेक प्रकार के दैवीय उपद्रव पैदा कर देती है। इसी प्रकार अनियंत्रित मन जिस व्यक्ति में रहता है उस व्यक्ति को वह स्वयं ही नष्ट कर डालता है। इसलिए मन और वायु के इस गुण में भी समानता है। जिसके कारण अर्जुन ने वायु को मन के समान कहा है।

(पांच) अपने गुण से सबको प्रभावित करती है :–

वायु जिसके सम्पर्क में आती है उस वस्तु को प्रभावित करती है। गीली वस्तु को सुखा डालती है। तेज वायु के सम्पर्क में आने पर वृक्ष आदि तेजी से हिलते है और वायु का प्रबल प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वायु जहां–जहां जाती है वह अपने गुण से वस्तुओं और व्यक्तियों को प्रभावित करती है। मन भी अपनी स्थिति से जिसके सम्पर्क में आता है उसको प्रभावित करता है। मन यदि शान्त है तो वह मृदुभाषिता और कुशल व्यवहार की ओर बढ़ता है तथा यदि मन अशान्त है तो वह दुव्यर्वहार कटुभाषिता की ओर स्वतः अग्रसर हो जाता है। अर्थात् अधिक अशान्त मन स्वयं को ही बीमार और असक्त कर देता है। इस कारण शान्त, अशान्त, गतिशील मन का प्रभाव रहता है। इसी प्रकार वायु के उस गुण में तथा मन के इस गुण में सामानता है। इसीलिए अर्जुन ने मन की तुलना वायु से की है।

(ख) वायु तथा मन दोनों अपरा प्रकृति के तत्त्व है :–

वायु अपरा प्रकृति का चौथा तत्त्व है और मन छठा तत्त्व है। इस प्रकार अपरा प्रकृति के तत्त्व होने के कारण वह सहधर्मी है। श्री भगवान ने अपरा प्रकृति में दोनों ही

तथ्यों का वर्णन किया है तथा अपरा प्रकृति के आठ तत्त्व बताये हैं। अपरा प्रकृति समस्त जगत के निर्माण में आधारभूत पदार्थ है। इस कारण वायु तथा मन भी महत्वपूर्ण तत्त्व है। इस दृष्टि से अर्जुन ने यह कहा कि मन वायु की तरह से है। अपरा प्रकृति के तत्त्व होने के कारण उनके गुणों में समानता है तथा अपरा प्रकृति के कारण साधारणतया इनको नियंत्रित किया जाना भी संभव नहीं है। मन भी अपरा प्रकृति का तत्त्व होने के कारण बहुत ही प्रबल है तथा इसे भी सहजता से नियंत्रित नहीं किया जा सकता है। जैसे जीवात्मा परा प्रकृति है और उसमें उसके विशिष्ट गुण है, क्योंकि वह परमात्मा का अंश है तथा प्रकृति के रूप में है। इसी प्रकार वायु तथा मन भी अपरा प्रकृति के अंग होने से सहजता से वश में किये जाने योग्य नहीं है।

अर्जुन ने श्री भगवान द्वारा विशेषकर ध्यान के विषय में 32 श्लोकों तक किये गए वर्णन को सुना। ध्यान की क्रियाविधि तथा उसके रहस्यों को श्री भगवान ने स्पष्ट रूप से कहा कि समग्र वर्णन में चित्त और मन की विशिष्टता का भी श्री भगवान ने वर्णन किया। चित्त और मन का जहां जैसा प्रकरणानुसार वर्णन हुआ है वैसी ही व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ध्यान की सिद्धि के लिए मन पर नियंत्रण होना अनिवार्य है तथा यह मूलभूत तथ्य भी है। अनियंत्रित मन से कोई भी साधन किसी प्रकार से सफल नहीं हो सकता है। यह तथ्य स्पष्ट रूप से हमें समझ लेना चाहिए। सम्पूर्ण प्रकरण को सुनने के पश्चात् अर्जुन के मन यह प्रश्न और शंका उठना अनिवार्य एवं सहज था कि चंचल मन को नियंत्रित कर पाना, वायु की तरह से असंभव है। यह शंका व प्रश्न उठा उसको उन्होंने श्री भगवान के समक्ष प्रस्तुत किया।

अर्जुन के द्वारा प्रस्तुत किये गए उपरोक्त प्रश्न का श्री भगवान अग्रिम श्लोकों में निराकरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्री भगवान उवाच–

मूल श्लोक – 35

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

पदच्छेद –

असंशयम्, महाबाहो, मनः दुर्निग्रहम्, चलम्,

अभ्यासेन, तु, कौन्तेय, वैराग्येण, च, गृह्यते।।

मूल श्लोक – 36

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।

पदच्छेद –

असंयतात्मना, योगः, दुष्प्रापः, इति, में, मतिः

वश्यात्मना, तु, यतता शक्याः, अवाप्तुम, उपायतः।।

भावार्थ : हे अर्जुन ! मन चंचल है, इसका निग्रह करना दुष्कर है, निःसंदेह परन्तु हे कुन्ती पुत्र ! अभ्यास एवं वैराग्य से मन वश में होता है असंयत मन वाले के लिए योग की सिद्धि दुष्प्राप्य है। परन्तु साधन सहित प्रयत्न न करने तथा असंयमित मन वाले हेतु योग सिद्धि में संदेह है। ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या :

1– मन की चंचलता के विषय में श्री भगवान की स्वीकारोक्ति (असंशयम्) :–

श्री भगवान ने अर्जुन के द्वारा प्रस्तुत तथ्यों को स्वीकार करके तत्काल यह कहा कि आपने मन को चंचल, प्रमथनशील, बलवान तथा दृढ़ कहा है। वह निःसंदेह सत्य है। आप असत्य नहीं कह रहे है। श्री भगवान ने स्वीकारोक्ति की तथा अर्जुन के द्वारा प्रस्तुत तथ्यों को मान्यता दे दी है। अर्जुन ने जो कुछ भी पूर्व के दो श्लोकों में कहा था उसे श्री भगवान ने असंशयम् कहकर स्वीकार किया। श्री भगवान के द्वारा कहा गया कि यह तथ्य निश्चित ही महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि श्री भगवान अपनी अपरा प्रकृति के महत्व को जानते थे तथा उन्होंने इसी भाव से यह कहा कि यह तथ्य संदेह

रहित है। व्यवहार में जब हम देखते है तो यह पाते है कि मन वस्तुतः बहुत ही चंचल है। उसको नियंत्रित किया जा पाना बहुत कठिन है।

2– चंचल मन का निग्रह किया जाना दुष्कर है (मनो दुर्निग्रहं चलम्) :–

अर्जुन ने 34वें श्लोक में मन के लिए तस्यहं निग्रहं पदों को कहा था जिसका अर्थ है कि मन को निग्रह करना कठिन है। उसी भाव से श्री भगवान ने मनो दुर्निग्रहं चलम् कहकर यह स्पष्ट किया है कि मन का संयमन अत्यंत कठिन है। निग्रह से मन दुर्निग्रहं हो गया है। श्री भगवान ने अर्जुन की बात को और बल दिया है। मन का निग्रह कठिन है यह कहा है। दुर्निग्रहं में अर्जुन के मन के चारों स्वरूप चंचल प्रमथनशील, बलवान तथा दृढ़ समाये हुए है। श्री भगवान ने चलम् और दुर्निग्रहम शब्दों से मन को चारों स्वरूपों को एक साथ कह दिया था तथा दुर्निगहम में मन के चारों स्वरूप समा गए है। यह किस प्रकार है इसका अवलोकन कीजिए।

(क) चलम् में मन की चंचलता एवं प्रमथनशीलता है :–

चलम् का अर्थ है मन चलता है मन के पैर नहीं है परन्तु फिर भी बहुत तीव्रता से गति करता है। यह गति सांसारिक विषयों में होती है। चंचल मन के बारे में पूर्व में भी वर्णन किया जा चुका है। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मन अपने सम्पर्क में आये हुए विषयों को बहुत शीघ्रता से ग्रहण कर लेता है। एक विषय के विचारण काल में अनेक विषयों के सम्बन्ध में विचार कर लेता है। यह मन के चलने की प्रक्रिया है जिसे हम सब अनुभव कर सकते हैं।

मन इस प्रकार विषयों में जाता है और चलकर विषयों तक पहुंचता है। उसकी गति उस समय बहुत तीव्र होती है। प्रमथनशील मन विषयों में स्वतः घूमता है। यह भी मन के चलने की क्रिया है। अनावश्यक विषयों का ग्रहण करना तथा सम्बंधित विषयों तक पहुंचना काल्पनिक विषयों में भ्रमण करना। सभी कुछ चलने की क्रिया से सम्बंधित है। यह सब मन की चंचलता को स्पष्ट करती है। इस प्रकार श्री भगवान ने चलम् कहकर अर्जुन द्वारा कहे गए चंचल और प्रमथनशील मन के स्वरूप को स्पष्ट किया है। अर्जुन ने दो शब्दों का प्रयोग किया है और श्री भगवान ने एक ही शब्द कहकर दोनों के अर्थ की प्रस्तुति कर दी है। इस कारण श्री भगवान का यह भाव विशिष्ट है। यही नर और नारायण का अन्तर है।

(ख) 'दुर्निग्रहम्' मन के बलवान तथा दृढ़ स्वरूप की प्रस्तुति :–

अर्जुन ने पूरे श्लोक में मन के बलवान तथा दृढ़ स्वरूप की प्रस्तुति की है। इसी को श्री भगवान ने **दुर्निग्रहम्** से कह दिया है। बलवान मन सहजता से जीता नहीं जा सकती है और उसका नियंत्रण अनायास ही संभव भी नहीं है। यह बलवान मन की विशिष्टता है। इसके साथ ही दृढ़ मन ही होता है। हठी स्वभाव के कारण वश में नहीं आता है तथा मनमानी गति की ओर रहता है। निग्रह के दुष्तरता मन के बलवान होने तथा हठी होने के कारण है। हम यह कहें कि मन मनमाने ढंग से कार्य कर रहा है क्योंकि वह मुश्किल से निग्रह होता है। जैसे एक शराबी व्यक्ति है वह अपने अवगुण के कारण मनमाना आचरण करता है। उस पर नियंत्रण का प्रयास जब होता है तो वह अनेक बहाने बनाकर मदिरा सेवन के लिए उद्यत हो जाता है। उसका यह आचरण कठिनता से वश में आने वाला है।

एक शक्तिशाली मनुष्य समाज में अशास्त्र संगत कर्म करता है और समाज में अव्यवस्था फैलाकर भय को उपार्जित कर देता है। उस पर साधारण लोगों का नियंत्रण नहीं होता है, क्योंकि उसके पास शक्ति विशेष है उसे वश में करने के लिए उससे अधिक शक्ति वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती हैं इसी प्रकार शक्तिशाली मन भी शीघ्र और सहजता से वश में नहीं होता है और वह अपनी शक्ति के कारण गति से भागता है। उसे कठिनता से वश में किया जाता है। कठिनता से निग्रह किये जाने वाले मन की स्थिति वैसी ही है जो कठिनता से वश में होता है। वह मन दुर्निग्रही होता है। इस प्रकार से श्री भगवान ने **दुर्निग्रहम्** शब्द से अर्जुन के द्वारा मन के सम्बन्ध में जो बलवान तथा दृढ़ शब्द कहे थे वे श्री भगवान के दुर्निग्रहम् के पर्यायवाची है।

3– मन अभ्यास व वैराग्य से वश में होता है (अभ्यासेन तु वैराग्येण च गृह्यते)

श्री भगवान ने चंचल मन को नियंत्रित करने हेतु दो उपाय बताए हैं, एक अभ्यास तथा दूसरा वैराग्य। श्री भगवान का स्पष्ट कथन है कि मन दो ही उपायों से वश में हो सकता है। एक उपाय अभ्यास है और दूसरा उपाय वैराग्य है। ध्यान का प्रकरण है तथा ध्यान के प्रकरण में अभ्यास का विशेष महत्व है। इस कारण श्री भगवान ने स्थान–स्थान पर अभ्यास का विषद वर्णन प्रस्तुत किया है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखकर अभ्यास रूपी उपाय को प्रमुखता से कहा है।

चंचल मन के निग्रह हेतु वैराग्य भी एक विशिष्ट साधन है। इसका उल्लेख महर्षि पतंजलि के योगदर्शन नामक ग्रंथ में भी हुआ है। वैराग्य का एक विशिष्ट अर्थ है जो विशेष कर सांसारिक विषय भोगों के प्रति घृणा बुद्धि को स्पष्ट करता है। जब साधक की सांसारिक विषयों में घृणा बुद्धि प्रकट हो जाती है तो मन का नियंत्रण स्वतः ही होता है और उसकी चलायमान स्थिति समाप्त हो जाती है। श्री भगवान के द्वारा कहे गए दोनों उपायों का विधिवत् अवलोकन कीजिए ताकि मन को संयमित करने के विशिष्ट उपाय अभ्यास और वैराग्य को स्पष्ट रूप से समझा जा सकें।

4– अभ्यास से मन का नियंत्रण :–

अभ्यास मन को नियंत्रित करने का एक साधन है जो धीरे–धीरे मन को नियंत्रित करता है। जैसे एक छोटा बालक जब शिक्षा ग्रहण करने के लिए विद्यालय जाता है तो उसे शिक्षक पहले किसी भी भाषा के अध्ययन हेतु वर्णमाला का बोध कराता है। वर्णमाला को सिखाने में शिक्षक बहुत जोर देता है और बालक को अनेक प्रकार से वर्णमाला का ज्ञान बोध कराता है। अक्षरों के आकार–प्रकार का ज्ञान–अक्षरों के उच्चारण की विधि, अक्षरों के लेखन की क्रिया यह सब शिक्षक को सिखानी पड़ती है। शिक्षक जैसे सिखाता है वैसे ही बालक सीखता जाता है। वर्णमाला के ज्ञान के पश्चात् अक्षरों के मेल से शब्दों की रचना कैसे होती है ? और उसमें स्वरों अर्थात् मात्राओं का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है? यह शिक्षक के द्वारा सिखया जाता है। शब्द की रचना के पश्चात् वाक्यों की रचना किस प्रकार हो जाती है? तथा वाक्यों के अर्थ आदि का बालक को बोध कराया जाता है। यह सब क्रमशः चलता रहता है। यही भाषा को सीखने का अभ्यास है। यह क्रिया बार–बार होती है और अभ्यास चलता है। धीरे–धीरे बालक भाषा को पढ़ने लगता है तथा उसके अर्थ पर भी विचार कर लेता है। यही अभ्यास है तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य को करना पड़ता है। किसी भी विधि को सीखने के लिए अभ्यास ही आधार है। अभ्यास से मूर्ख बुद्धि पुरूष संज्ञान और विद्वान हो जाता है। इस कारण ज्ञान के ग्रहण करने में अभ्यास ही आधार है।

अध्यात्म में अभ्यास की विशेष आवश्यकता होती है। ध्यान के साधन में और अधिक आवश्यकता होती है। ध्यान में अभ्यास ही सफलता से ध्यान की सिद्धि होती है। अभ्यास शब्द विस्तृत अर्थ वाला है जिसका प्रयोग सभी प्रकार योगों में पृथक्–पृथक् रूप में हम करते हैं परन्तु सभी में अभ्यास की आवश्यकता रहती है। ध्यान के साधन में

अभ्यास की आवश्यकता इस कारण रहती है, क्योंकि इसमें विशेष रूप से मन को संयमित करना पड़ता है। मन के संयमन के अभाव में ध्यान की सिद्धि संभव नहीं है। मन समस्त इन्द्रियों का स्वामी है, नियंत्रण कर्ता है तथा बुद्धि के संदेश को प्रेषित करने वाला है। इस कारण ध्यान के अभ्यास में हमें मन से सम्बंधित इन्द्रियों और बुद्धि की क्रिया विधि को समझना पड़ता है। यह ध्यान के अभ्यास की वर्णमाला है। इस वर्णमाला तथा उसको सिखाने वाले गुरू अर्थात शिक्षक की आवश्यकता को हमें समझना चाहिए।

(क) अभ्यास की वर्णमाला :–

ध्यान के अभ्यास में हमें इन्द्रियों की क्रियाओं, मन तथा बुद्धि और अहंकार की क्रियाओं के बारे में समझना चाहिए। पूर्व में भी उनके बारे में प्रकरण के अनुसार कुछ न कुछ उल्लेख हुआ है और कई पुस्तकों में इस सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई है। इस प्रकरण में ध्यान के अभ्यास के लिए भी उनकी क्रियाविधि को समझना बहुत आवश्यक है। प्रत्येक की क्रिया विधि और गुण को साधक को समझना चाहिए जिससे ध्यान के अभ्यास को मूल रूप से समझा जा सकें। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखकर अभ्यास की वर्णमाला का शुभारम्भ किया जा रहा है कृपया उसका अवलोकन कीजिए–

(एक) पांच ज्ञानेन्द्रियां : मानव शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां है जिनसे मनुष्य पृथक्–पृथक् प्रकार के विषयों को ग्रहण करता है। प्रत्येक इन्द्रिय का गुण है और वह गुण के अनुसार ही अपने विषय का उपभोग करती है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने ही गुण को जानती है और मन के आश्रय से अपने गुण के विषय का उपभोग करती है। पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा उनके गुणों का पृथक्–पृथक् अवलोकन कीजिए।

1– कर्ण (कान) : मानव शरीर में कान की संख्या दो है। कर्ण का गुण शब्द है। ये विभिन्न प्रकार की ध्वनियों को ग्रहण करते हैं। ध्वनि की तीव्रता, मंदता आदि का ग्रहण कर्ण ही करते हैं। कर्ण जब कोई ध्वनि ग्रहण करता है तो वह उसकी सूचना मन को हो जाती है। इस प्रकार कर्ण मन के सहयोग से ध्वनि को ग्रहण करने का कार्य करते हैं। कर्ण ध्वनि को ही ग्रहण कर सकते हैं। इन्द्रियों के अन्य विषयों को ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

2– नेत्र (आँख) : शरीर में नेत्रों की संख्या दो है। नेत्रों का गुण रूप है। यह विभिन्न प्रकार के दृश्यों को ग्रहण कर लेते हैं तथा अपनी दृष्टि क्षमता तक सहजता से देख

सकते हैं। नेत्र जब किसी दृश्य को देखते हैं तब मन भी वहां जाता है तथा दृष्टि को ग्रहण करने में नेत्रों का सहयोग करता है। इस प्रकार दृश्यों को ग्रहण करने में मन का पूर्ण सहयोग रहता है। मन अपने गुण रूप को ही ग्रहण कर सकता है, अन्य इन्द्रियों के गुणों को नेत्र ग्रहण नहीं कर सकते हैं। यह उसकी क्षमता के बाहर का तथ्य है।

3– जिह्वा (जीभ) : शरीर में इसकी संख्या एक है। इसकी उपस्थिति मुख में होती है। विभिन्न प्रकार के रसों को ग्रहण करना इसका कार्य है। जीभ की विशिष्टता है कि खट्टे, मीठे, नमकीन आदि रसों को ग्रहण करके इसका संदेश मन को देती है और इस प्रकार हमें प्रत्येक वस्तु के रस का ज्ञान होता है। जीभ अपने गुण रस को ही ग्रहण कर सकती है। अन्य इन्द्रियों के गुणों को ग्रहण करने की क्षमता इसमें नहीं है।

4– त्वचा (खाल) : हमारा शरीर त्वचा से आवृत रहता है। त्वचा का गुण स्पर्श है। त्वचा के सम्पर्क में जो वस्तु, पदार्थ आता है उसका ज्ञान त्वचा को हो जाता है। त्वचा के सम्पर्क में आने वाली वस्तुओं का ज्ञान भी मन के सहयोग से मनुष्य को होता है। त्वचा भी अपने गुण का ही ग्रहण कर सकती है तथा अन्य इन्द्रियों के गुणों का ज्ञान उसे नहीं होता है। यह मात्र कोमल, कठोर, उष्ण, शीत आदि का ज्ञान कराती है।

5– नासिका (नाक) : नासिका से मनुष्य को गंध का ज्ञान होता है। नासिका का गुण गंध है। नासिका अपने गुण के अनुसार विभिन्न प्रकार के गंधों को ग्रहण करके मन को सम्प्रेषित कर देती है। नासिका विभिन्न प्रकार के सुगन्धित दृव्यों और दुर्गन्धयुक्त दृव्यों को पृथक्–पृथक् जानती है, क्योंकि समस्त गंध हमारी स्मृति में संचित रहते हैं। नासिका अपने गुण गंध के अतिरिक्त अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषय को ग्रहण नहीं कर सकती है।

(दो) पांच कर्मेन्द्रियां : वाक् अर्थात् वाणी, हस्त अर्थात् हाथ, पाद अर्थात् पैर, उपस्थ और गुदा यह पांच कर्मेन्द्रियां मानव शरीर में हैं। वाक् के द्वारा बोलने का कार्य होता है। हस्त अर्थात् हाथों के द्वारा आदान प्रदान की क्रिया होती है। पाद अर्थात पैरों के द्वारा चलने का कार्य होता है। उपस्थ और पायु से मैथुन तथा मल मूत्र विसर्जन का कार्य होता है। उसी प्रकार पांच कर्मेन्द्रियां मन और बुद्धि के आदेश से कार्य करते हैं और उनकी समस्त चेष्टाएं तथा क्रिया विधि मन के द्वारा ही नियंत्रित होती है।

(तीन) मन : मनव शरीर में एक मन होता है, जिसकी वृत्ति अर्थात् कार्य संकल्प है। मनुष्य मन से विभिन्न प्रकार के सांसारिक विषयों का विचारण करता रहता है। मन के

सम्बन्ध में पूर्व में भी पर्याप्त तथ्य प्रस्तुत किये गए हैं। मन जब इन्द्रिय विषयों के साथ संसार में विचरता है तब तक वह संसारी कहा जाता है और जब इन्द्रिय विषयों को छोड़कर परमात्मा का चिंतन करता है तब वह योगारूढ होने की इच्छा वाला कहा जाता है। मन के सम्बन्ध में पूर्वोक्त प्रकार से चर्चा हुई थी और उसके स्वरूप का वर्णन भी प्रस्तुत किया गया था।

(चार) बुद्धि : मानव शरीर में एक बुद्धि होती है जो शरीर, इन्द्रिय और मन को नियंत्रित करती है। विशेषकर मन के द्वारा जो कुछ भी विचारण किया जाता है उसे बुद्धि देखती रहती है तथा संज्ञान में रखती है। बुद्धि की वृत्ति को विकल्प कहा जाता है। बुद्धि मन के द्वारा विचारित विषयों का विनिश्चय करती है। मन के नियंत्रण में बुद्धि का विशेष सहयोग रहता है, क्योंकि ध्यान के समय जब भी मन भागता है तब बुद्धि उसके भागने की क्रिया अर्थात् ध्यान से हटने की क्रिया को जान जाती हैं और उसे संज्ञान में लेकर पुनः योग साधना में लगाती है। बुद्धि इस प्रकार मन की क्रिया विधि को जानती है। पूर्व में भी बुद्धि के सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा हुई थी।

(पांच) चित्त : मन जब चिंतन करता है तो वह चित्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है। चित्त की वृत्ति चिंतन है। चित्त के सम्बन्ध में विभिन्न मनुष्यों के पृथक्–पृथक् विचार है। यह विचार तीन प्रकार के हैं। एक– मन ही चित्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है दो– मन ही चित्त है तथा तीन– मन और बुद्धि के समुच्चय को चित्त कहा जाता है। ध्यान की क्रिया में तथा ध्यान योग के प्रकरण में चित्त का विशेष वर्णन होता है। साधक को चित्त के बारे में बहुत गहनता से विचार करना चाहिए और उसे प्रयोगात्मक स्तर पर परखना चाहिए।

(छः) अहंकार : जिस शक्ति से मनुष्य को अपने मन का अपने अस्तित्त्व का बोध होता है वह शक्ति अहंकार कहलाती है। अहंकार के कारण ही मनुष्य को सुख दुःख, मान अपमान, जय पराजय आदि का बोध होता है। जब मनुष्य की स्वस्वरूप में स्थिति हो जाती है तब साधक अहंकार से निवृत हो जाता है। जब तक स्वस्वरूप में स्थिति नहीं होती है तब तक मनुष्य अहंकार से आवृत रहकर विभिन्न प्रकार की सांसारिक चेष्टाएं और क्रियाएं करता रहता है तथा धन, पद, ऐश्वर्य, सम्पदा आदि के स्वामित्व का मिथ्याभाष करता है। अहंकार बुद्धि से भी सूक्ष्म तत्त्व है।

(ख) अभ्यास हेतु शिक्षक की आवश्यकता :–

ध्यान के अभ्यास के लिए शिक्षक अर्थात् गुरू की नितान्त आवश्यकता रहती है। मन का संयमन किस प्रकार से करना है ? तथा मन संयमित नहीं हो रहा है तो क्या उपाय अपनाना चाहिए ? आदि आदि विषयों को गहनता से जानने के लिए गुरू अथवा आचार्य की आवश्यकता रहती है जैसे किसी भाषा के अध्ययन के लिए उसी विषय के अध्यापक अथवा शिक्षक की आवश्यकता रहती है वैसे ही ध्यान के प्रयोगात्मक अभ्यास के लिए शिक्षक अर्थात् गुरू की नितान्त आवश्यकता है। शिक्षक के साथ तथा उसके सहयोग से साधक को ध्यान की सिद्धि शीघ्र हो जाती है और मन शीघ्र ही संयमित और नियंत्रित हो जाता है।

एक अध्यात्मिक शिक्षक अध्यात्म के पक्ष को भली प्रकार जानता है और वह साधक को इससे परचित कराता जाता है। जहां पर गतिरोध आता है वह उसे हटाता है। गुरू के अभाव में ध्यान की प्रक्रिया पुनः पुनः बाधित होती है और साधक संशयग्रस्त होकर कभी–कभी साधना ही छोड़ देता है। यह विशेष तथ्य है कि हमें मन को नियंत्रित करने के लिए गुरू का सहयोग लेना चाहिए। उचित गुरू न मिलने की स्थिति में साधक को परमात्मा को ही गुरू मानकर उसे अपना पथप्रदर्शक समझकर मन के नियंत्रण का प्रयास करना चाहिए। परमात्मा को सच्चे मन से स्मरण करने से वे सर्वत्र उपस्थित परमात्मा प्रत्यक्ष होकर हमारी ध्यान की प्रक्रिया को तीव्र रूप से संचालित कराते है और गुरू की तरह से सहयोग करते हैं।

(ग) चंचल मन के संयमन का अभ्यास :–

ध्यान में जब साधक बैठता है तो मन का चंचल स्वरूप बहुत तेजी से लक्ष्य से हटकर सांसारिक विषयों की ओर भगाता है। मन कहां किन विषयों में भाग रहा है? उन विषयों के बारे में ध्यान प्रक्रिया के पश्चात् विचार करें। जो चंचल मन के विचारण विषय हो उन पर ध्यान दें कि वह पुनः–पुनः ध्यान के समय क्यों आते है ? और मन की विचारण क्रिया में कैसे आ जाते है ? उन विषयों के बारे में ध्यान के पश्चात् इस पर्याप्त चिंतन कर लें और यह निश्चित कर लें कि इन विषयों पर ध्यान के समय विचार नहीं करेंगे।

जैसे हमें भूख लगती है तो हमारा मन बार–बार भूख की ओर भागता है तथा भूख की निवृत्ति के उपायों के बारे में विचार किया करता है। यह सहज प्रक्रिया है।

इसी प्रकार ध्यान के समय जो जो विषय आ रहे हैं उनकी निवृत्ति ध्यान के पूर्व ही कर लेनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य की परिस्थिति, समस्याओं आदि के कारण अनेक विचार स्वतः ही मन में आ जाते हैं। जैसे हमारे शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा हो तो पुनः पुनः ध्यान उस पीड़ा की ओर जाता है, क्योंकि पीड़ा हमारे ध्यान में, मन में स्वतः ही आती है और हमें आकर्षित करती है। जब हम पीड़ा के निवारण का उपाय खोजकर उस पीड़ा को समाप्त कर देते है तो हमारा ध्यान भी उधर से स्वतः ही हट जाता है।

इस प्रकार यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। ध्यान के समय के विषय मन को चंचल करते हैं। वे विषय समग्रता से हमें निराकरित कर लेने चाहिए, यदि उनका निराकरण हमारी सामर्थ्य के बाहर हो तो उनके निराकरण का कार्य परमात्मा के पक्ष में डाल देना चाहिए। वह सर्वशक्तिमान परमात्मा हमारी समस्याओं को स्वतः ही हल कर देगा। इस तथ्य का सदैव ध्यान रखे कि विषय भोगों की इच्छा का पूर्ण परित्याग करें तथा समस्त सांसारिक कामनाओं को समूल नष्ट करने हेतु प्रयत्नशील रहे क्योंकि सांसारिक कामनाएं हमारी ध्यान की प्रक्रिया में विशेष बाधा है।

चंचल मन को उन विषयों से हटाकर पुनः पुनः लक्ष्य में स्थापित करें। चंचल मन जब भी विषयों में रमण करे, भ्रमण करे, भागे तो बुद्धि के सहयोग से उसे पुनः पकड़कर लक्ष्य में स्थापित कर दें। यह प्रक्रिया बार–बार करने पर धीरे–धीरे अभ्यास के कारण सफल होती है ओर चंचल मन स्वतः शान्त हो जाता है। ध्यान की क्रिया में मन की चंचलता पर दृष्टि रखना आवश्यक होता है। जैसे छोटे बालक पर हम सभी दृष्टि रखते है कि वह कहां जा रहा है क्या कर रहा है ? और उसकी क्या गतिविधि है और जब चंचल बालक हानिप्रद स्थान, वस्तु की ओर जाता है तो हम उसे तत्काल पकड़ कर सुरक्षित और निराप्रद स्थान में ले जाते हैं। वैसे ही चंचल मन पर बुद्धि को दृष्टि रखनी पड़ती है। जैसे ही चंचल मन विषयों की ओर भागता है विषयों में रमण करने का प्रयास करता है और स्वेच्छाचारिता से विषयों में घूमना चाहता है तो बुद्धि के द्वारा उसे पकड़ कर हम तत्काल लक्ष्य पर स्थापित कर देते हैं। यही क्रिया पुनः पुनः की जाती है। चंचल मन जब भी भागता है तब हम उसे पकड़ते हैं हमारी बुद्धि उसे पकड़ कर अपने लक्ष्य में स्थापित करती है। इससे मन संयमित हो जाता है। यही क्रिया साधारणता अभ्यास कहलाती है।

(घ) प्रमथनशील मन के संयमन का अभ्यास :–

प्रमथनशील मन सांसारिक विषयों में स्वतः ही घूमने लगता है। जो विषय हमारे लिए आवश्यक नहीं हे उन पर भी विचार करना प्रमथनशील मन का लक्षण है। प्रमथनशील मन असम्बंधित विषयों पर भी मंथन करता है तथा काल्पनिक जगत में भ्रमण किया करता है। ध्यान की प्राथमिक स्थिति में मन की प्रमथनशीलता बहुत अधिक होती है। संसार के अनेक विषय उसे पुनः पुनः अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इस कारण प्रमथनशील मन उनमें अनायास ही भागता है। किसी विषय विशेष, वस्तु विशेष, व्यक्ति विशेष के बारे में भी ध्यान काल में विचार आ जाते हैं। वे सब विचार अनावश्यक विषयों से सम्बंधित होते हैं। काल्पनिक जगत में प्रमथनशील मन का रहना उसकी सहज प्रवृत्ति है। मन जहां जहां पर भागता है भ्रमण कर रहा होता है वहां वहां से उसे हटायें और लक्ष्य पर स्थापित करें। सांसारिक विषयों के बारे में यह विचार करें कि अब तक हमारी सांसारिक विषयों से निवृत्ति क्यों नहीं हो पायी है ? हमारी तथा किसी की क्यों नहीं हो पायी है ? इस कारण सांसारिक विषयों के बारे में विचार करना व्यर्थ है। क्योंकि सांसारिक विषयों से जीवन पर्यन्त निवृत्ति नही हो सकती है। वे विषय जो हमसे सम्बंधित नहीं है। वे अनावश्यक भी है। इस कारण विचारणीय नहीं है। इसलिए हमें उन पर कभी भी विचार नहीं हरना चाहिए। काल्पनिक विषयों का कहीं कोई अस्तित्त्व नहीं होता है। इस कारण वे विषय तो सर्वथा त्यागने योग्य होते हैं। इस प्रकार की भावना हमें ध्यान के पूर्व ही कर लेनी चाहिए। प्रमथनशील मन के समस्त विषयों को विचारित करके हमें मन की प्रमथनशीलता रोक कर लक्ष्य पर मन को केन्द्रित करने का प्रयास करना चाहिए। प्रमथनशील मन के विचारण के जो विषय है वे सब के सब निरर्थक ही है। ऐसी भावना दृढ रखनी चाहिए। जब भावना दृढ़ हो जाएगी तो प्रमथनशील मन की प्रमथनशीलता स्वतः ही समाप्त होगी और मन संयमित हो जाएगा। क्योंकि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अनावश्यक वस्तुओं, अनावश्यक व्यक्तियों से सम्पर्क न रखने का प्रयास करता है। इसलिए जब हम प्रमथनशील मन के विषयों को अनावश्यक मान लेगे तो उस सम्बन्ध में विचार नहीं करेंगे। यह दृढ़ भावना हमें पुनःपुनः करनी पड़ेगी और हमें अभ्यास भी पुनः पुनः करना पड़ेगा। जिससे प्रमथनशील मन शान्त हो जाएगा।

(ङ) बलवान मन के संयमन का अभ्यास :–

ध्यान की साधना जब आरम्भ होती है अर्थात् जब हम ध्यान के लिए बैठना चाहते है तो ध्यान के आरम्भ काल में मन अपने लक्ष्य से बहुत दूर रहता है। वह साधक को अपनी शक्ति का आभास कराता है। प्राथमिक स्तर के साधक को बलवान मन बहुत परेशान करता है। जैसे कोई बलवान पशु अपने कमजोर बंधन को सहजता से तोड़ डालता है वैसे ही बलवान मन भी साधक की ध्यान क्रिया को तोड़कर भाग जाता है। वह लक्ष्य पर रूकता नहीं है और पुनः पुनः लक्ष्य से दूर चला जाता है। जैसे जैसे साधक ध्यान का साधन करता है वैसे वैसे ही बलवान मन के भागने की शक्ति क्षीण हो जाती है। जैसे एक जंगली पशु को बांधने का, उसे पालतू बनाने का प्रयास करेंगे तो वह बंधन को तोड़कर भागने का प्रयास करेगा तथा अपनी पूरी शक्ति से बंधन तोड़ेगा धीरे–धीरे भोजन आदि देकर जंगली पशु को पालतू बनाने का प्रयास किया जाता है तो वह अपने स्थान पर रूकता है और भागने का प्रयत्न छोड़ देता है। इसी प्रकार बलवान मन को भी योग के निरन्तर सेवन से शक्तिहीन किया जाता है। और सांसारिक विषयों में भागने नहीं दिया जाता। जिससे बलवान मन अपनी शक्ति खो देता है, क्योंकि जब तक बलवान मन शक्तिशाली रहता है तब तक वह संसार के विषय भोगों में भागता है। संसार के विषय भोगों का आनन्द लेकर बलवान मन शक्ति सम्पन्न हो जाता है और वह शीघ्रता से नियंत्रित नहीं होता है तथा अनियंत्रित रहकर घूमना चाहता है। शक्तिशाली बलवान मन को संयमित करने का एक ही उपाय है कि उसे योग का सेवन कराया जाए। बलवान मन की शक्ति जब समाप्त हो जाती है तो वह स्वतः ही नियंत्रित हो जाता हैं।

4– दृढ़ मन के संयमन का अभ्यास :–

साधक की ध्यान प्रक्रिया जब आरम्भ होती है तो मन हठ करता है और हठी मन पुनः पुनः लक्ष्य की ओर से हटकर संसार की ओर उन्मुख हो जाता है। प्राथमिक साधकों को हठी मन बहुत परेशान करता है। हठी मन की विशेषता है कि वह मनमाने ढंग से स्वेच्छाचारी आचरण करता है हम सभी को अर्थात् साधारण मनुष्य को मन के हठी स्वभाव के कारण ही ध्यान की क्रिया में सफलता नहीं मिल पाती है, क्योंकि हठी मन मनमाने आचरण हेतु उद्धत रहता है और क्रियाशील रहता है। मनमाना आचरण ही ध्यान के प्रतिकूल स्थिति है। जैसे दुष्कर्मी मनुष्य अपने दुष्कर्मो का सम्पादन

स्वेच्छाचारिता से करता है, वैसे ही दृढ़ी मन स्वेच्छाचारिता से मनमाना आचरण करता है। हठी मन के विचारण विषय अपने होते हैं। विशिष्ट विषय ही मन को विशेष कर हठी बनाता है।

साधक को यह विचार करना चाहिए कि हमारे प्रमुख विषय क्या है ? जिसके कारण हम ध्यान में सफल नहीं हो पा रहे हैं। इसका निवारण कैसे होगा ? संसार में किसी विषय का निवारण एक कल्पना है। हम कोई वस्तु, पदार्थ को पाना चाहते हैं किसी प्रतिकूलता की स्थिति को अनुकूल करना चाहते हैं तो वह पदार्थ, वस्तु, व्यक्ति यदि हमारे संयोग में नहीं है तो हमें कदापि नहीं प्राप्त होगी और यदि वह हमारे संयोग में है तो वह स्वतः ही प्राप्त हो जाएगी। कोई प्रतिकूलता हमारे लिए कैसे अनुकूल होगी? यह विचार त्याग कर उस प्रतिकूलता को अनुकूलता में परिवर्तित करने का कर्म श्री भगवान के आश्रय में छोड़ देना चाहिए। श्री भगवान का पूर्ण आश्रय ग्रहण कर लेने पर हमारी प्रतिकूलताएं स्वतः ही अनुकूलताओं में परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार दृढ़ी अर्थात् हठी मन जहां भी जिन विषयों में हठ कर रहा है उन्हें भूलकर वह लक्ष्य में स्थापित हो जाता है। इससे धीरे–धीरे दृढ़ मन का संयमन हो जाता है और हठी मन अपनी हठवादिता को छोड़कर शान्त हो जाता है।

5– श्री भगवान में मन लगाने से मन संयमित हो जाता है :–

श्री भगवान में मन लगाने से भी मन संयमित हो जाता है श्री भगवान में मन लगाने की क्रिया भी एक प्रकार का विशिष्ट अभ्यास है जिससे श्री भगवान का आश्रय तथा सान्निध्यता हमें प्राप्त होती है। ध्यान में मन के संयम का जो प्रयास होता है वह साधक को स्वयं करना पड़ता है और श्री भगवान में मन के संयमन के प्रयास में उनका सहारा होने के कारण अभ्यास की क्रिया सहजता पूर्वक सम्पन्न हो जाती है और अभ्यास से मन नियंत्रित हो जाता है। श्री भगवान में मन लगाकर मन को संयमित करने की क्रिया का अवलोकन कीजिए।

(क) – संसार की प्रत्येक वस्तु में परमात्मा अर्थात् श्री भगवान का दर्शन करें, क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु परमात्मा के स्वरूप में है। जिधर दृष्टि जाए उसमें श्री भगवान दिखे और यह विचार करें कि संसार में अर्थात् चराचर जगत परमात्मा के स्वरूप में हैं।

(ख) प्राणी मात्र में अर्थात् समस्त जीवों में उनकी चैतन्यता में श्री भगवान को देखें। जीव जैसा भी है, जैसी उसकी आकृति है, जैसी उसकी गति और तेज है उसमें परमात्मा के स्वरूप का दर्शन करें। प्रत्येक जीव की गति तथा चेष्टा परमात्मा के कारण है इसीलिए प्रत्येक जीव गति कर रहा है। इस भावना को दृढ़ करें।

(ग) जो ध्वनि सुनाई दे उसमें श्री भगवान का आभास करें। विशेषकर ध्वनि की मधुरता में अनेक प्रकार के मनोहारी संगीत में उसके भावों में हम श्री भगवान का दर्शन करें। यह आभास करे कि इस मधुर संगीत में वही समाया हुआ है और मधुर गीतों के शब्दों में उसका प्रकटिकरण हो रहा है।

(घ) गीत संगीत के भाव के जो अर्थ है उनकों संसार की ओर न मोड़े वे सभी परमात्मा का ही अर्थ देते हैं उसके स्वरूप प्रभाव, क्रिया आदि का अर्थ देते हैं। ऐसी भावना दृढ़ करें। गीत संगीत के जो अर्थ है वे श्री भगवान के निमित्त है। ऐसी भावना करने से मन सहजता से संयमित हो जाता है।

(ङ) संसार की विशिष्ट वस्तुओं में उसकी विशिष्टता में श्री भगवान का ही दर्शन करें। संसार की समस्त विशिष्ट वस्तुएं, व्यक्ति आदि परमात्मा के द्वारा इसलिए निर्मित किए गए है ताकि हमें उस परमात्मा के प्रभाव और उसकी सत्ता का ज्ञान होता रहें। वह सभी विशिष्ट वस्तुओं और व्यक्तियों में समा गया है। इसलिए वे वस्तुएं और व्यक्ति विशिष्ट हो गए हैं ऐसा भाव प्रबल कर ले।

(च) जब परमात्मा ने संसार की रचना की है और हमें भी बनाया है इसलिए रचनाकार एक ही है। हमें श्री भगवान ने संसार से सम्बद्ध कर दिया है। परन्तु यह सम्बद्धता श्री भगवान की संसार में सर्वत्र स्थिति से समाप्त हो सकती है। इसलिए संसार में श्री भगवान को देखें और श्री भगवान में संसार को देखे। ऐसा भाव भी दृढ़ हो जाने पर मन संयमित हो जाता है।

(छ) हमे संसार से कुछ नहीं चाहिए क्योंकि संसार से कुछ चाहने से वह चाहा हुआ कुछ हमें प्राप्त नहीं होता है और न चाहने से भगवान की कृपा से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। इसलिए संसार से कुछ नहीं चाहने का भाव दृढ रखना चाहिए करना चाहिए जिससे मन संयमित हो जाता है जगत के आश्रय का त्याग कर देने से और श्री भगवान का आश्रय ग्रहण कर लेने से भी मन संयमित हो जाता है।

यह सब मन के संयमित करने के साधन हैं, जिनका आचरण करने से मन स्वतः ही शान्त होता है और इसे ही अभ्यास का रूप समझना चाहिए। चंचल मन रूकता है। क्योंकि मन की चंचलता में संसार ही हेतु है। संसार से मन हटने पर सर्वत्र भगवान को देखने पर मन श्री भगवान में लग जाता है और संयमित हो जाता है। यह एक अभ्यास है, जिसमें मन को संसार से हटाना पडता है और एक मात्र भगवान में लगाना पड़ता है। हम जितनी तीव्रता से मन को संसार में स्थापित करते हैं उतनी तीव्रता से श्री भगवान से हटते है और इसके प्रतिकूल जितनी तीव्रता से मन को श्री भगवान में लगाते हैं उतनी ही तीव्रता से संसार से हटते हैं। इसी को अभ्यास कहा जाता है। इसी प्रकार के अभ्यास से मन संयमित हो जाता है।

6– वैराग्य से मन का नियंत्रण :–

समस्त इन्द्रिय विषयों में, सांसारिक विषय भोगों में घृणा का भाव उत्पन्न करना ही वैराग्य कहा जाता है। वैराग्य से विशेषकर सांसारिक कामनाओं का सर्वथा नाश हो जाता है। सांसारिक ममता और आसक्ति के भाव स्वतः ही विनिष्ट हो जाते है। वैसे प्रत्येक मनुष्य इन्द्रिय विषयों में, सांसारिक विषय भोगों में, कामनाओं में तथा सम्पर्कित लोगों के माया मोह में फंसा रहता है। इसी कारण उसका मन संयमित नहीं हो पाता है। मनुष्य कामनाओं की पूर्ति के लिए, अनेक प्रकार की सांसारिक विलासतापूर्ण वस्तुओं को एकत्र करने का प्रयास करता है। इस कारण भी उसका मन असंयमित हो जाता है। वैराग्य की उत्पत्ति के कारणों को विस्तार से इस प्रकरण में समझने की आवश्यकता है। ताकि वैराग्य को दृढ़ करके मन को संयमित किया जा सकें–

(क) इन्द्रिय विषयों के विनाश से वैराग्य की उत्पत्ति :–

पूर्व में समस्त इन्द्रियों का वर्णन हो चुका है। ज्ञानेन्द्रियों के गुणों में शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध हैं। इन्द्रियों के यह विषय ही मनुष्य को अपनी ओर स्वतः आकर्षित कर लेते हैं और मनुष्य उनके आकर्षण में फंसकर अनेक प्रकार के कार्य करता रहता है मधुर गीत संगीत में फंसकर उसमें, उसके भावों में वह आकृष्ट हो जाता है। सुन्दर रूप, दृश्य में रूप गुण के कारण फंसता है। अनेक प्रकार के सुन्दर व्यंजनों में रस के कारण फंसता है। स्पर्श के कारण कोमल स्पर्श में फंसता है। अनेक प्रकार की सुगन्धों में भंवरों की तरह फंसता है। कर्मेन्द्रियों के विषयों, वाणी, आदान–प्रदान, गमन आदि में

भी फंसता है। इस प्रकार इन्द्रिय विषय वैराग्य के प्रतिकूल तथ्य है। यदि हम समस्त इन्द्रिय विषयों को ग्रहण ही न करे तो हमारे अंतःकरण में स्वतः ही वैराग्य की उत्पत्ति हो जाएगी क्योंकि इन्द्रिय विषय ही वैराग्य में प्रमुख बाधा है। इन्द्रियों विषयो के समापन से वैराग्य की उत्पत्ति हो जाती है और वैराग्य से मन स्वतः शान्त हो जाता है।

(ख) सांसारिक विषयों के समापन से वैराग्य की उत्पत्ति :–

सांसारिक विषयों का उपभोग इन्द्रियों से ही होता है परन्तु सांसारिक विषय मन से भोगे जाते हैं। जैसे धन का अधिक संचय हो जाए तो मन प्रसन्न हो जाता है। यद्यपि एकत्र धन से जो सांसारिक वस्तुएं संचित की जायेंगी उनका उपयोग मन इन्द्रियों के माध्यम से ही करता है परन्तु सांसारिक वस्तुएं विषय भोग एक साधन के रूप में है। इसी प्रकार अधिक सम्पत्ति के एकत्रीकरण से भी मनुष्य सम्पत्ति में सुख का अनुभव करता है तथा सम्पत्ति से मिलने वाले सुख का उपभोग इन्द्रियों से ही होता है परन्तु सम्पत्ति सुख का आनन्द तथा प्रसन्नता की अनुभूति मनुष्य मन से करता है। सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति से सुख का आभास करता है। मनुष्य को पद, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, ख्याति आदि की प्राप्ति से सुख का आभास होता है,यह समस्त सांसारिक स्थितियां और उसकी उपलब्धता के लिए प्रत्येक मनुष्य प्रयत्नशील रहता है। सांसारिक वस्तुओं की और अनुकूल स्थितियों की प्राप्ति से अर्थात् उनके सहयोग से हमें सुख का आभास होता है। इसलिए सुखों की प्राप्ति में सांसारिक विषय भोग ही कारण होते हैं। यह तथ्य वैराग्य के प्रतिकूल है। समस्त वस्तुओं के एकत्रीकरण का भाव तथा स्थितियों के प्राप्त होने का भाव जब समाप्त हो जाता है तो इसी स्थिति को वैराग्य होना कहा जाता है और ऐसी स्थितियों के आने पर मन स्वतः शान्त हो जाता है।

(ग) कामनाओं के परित्याग से वैराग्य की उत्पत्ति :–

सांसारिक कामनाएं असंख्य है, जो समय, परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं। हमारा मन विशेष रूप से कामनाओं में ही उलझा रहता है। कामनाएं मन की चंचलता का एक प्रमुख कारण है। इस कारण कामनाओं के त्याग से वैराग्य की उत्पत्ति हो जाती है और मन स्वतः शान्त हो जाता है। मनुष्य बाल्यावस्था से ही अनेक प्रकार की कामनाएं करता है और जैसे जैसे उसकी आयु बढ़ती है उसकी कामनाएं भी बढ़ती जाती है। प्रौढ़ावस्था आते आते मनुष्य असंख्य

कामनाओं को करता है। यह तथ्य वैराग्य के प्रतिकूल है तथा मन की अशान्ति का एक प्रमुख कारण है। इस कारण कामनाओं के त्याग से भी वैराग्य की उपलब्धि हो जाती है। कामनाओं का त्याग तथा सम्पूर्णता से उसका विनाश करना सहज नहीं है अर्थात् बहुत कठिन है। यह विनाश तब तक नहीं होता है जब तक हम पूरा प्रयास कामनाओं के समापन का नहीं करते हैं। हमे जब तक सांसारिक वस्तुओं की आवश्यकता का आभास रहता है तब तक नवीन कामनाएं ही स्वतः ही उत्पन्न होती रहती हैं। इस प्रकार कामनाओं के त्याग के लिए हमें वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीति को समाप्त करना पड़ता है। संसार की कोई वस्तु हमें नहीं चाहिए। जब यह भाव उत्पन्न हो जाता है तब कामनाओं का स्वतः ही विनाश हो जाता है और वैराग्य की उत्पत्ति हो जाती है जिससे मन शान्त हो जाता है।

(घ) सांसारिक ममता के त्याग से वैराग्य की उत्पत्ति :–

संसार में जिन वस्तुओं तथा व्यक्तियों से हमारा सम्पर्क रहता है उनसे हमें सुख का आभास रहता है। हमारे सम्पर्क की समस्त सांसारिक वस्तुएं और व्यक्ति हमें सुख देते हैं। इस कारण भी हमें उनकी आवश्यकता का आभास रहता है। हमारे सम्पर्क में जो वस्तुएं है उनके प्रति हमें ममता रहती है और मोह उत्पन्न हो जाता है। ममता तथा मोह के कारण उनका त्याग हम नहीं करना चाहते हैं। मोह ममता का प्रमुख कारण हम उनमें सुख की अनुभूति होना है। इस कारण हम संसार की सम्पर्कित वस्तुओं तथा व्यक्तियों से संलग्न रहते हैं और सुख का उपभोग करते हैं। संसार की वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति हमारी मोह ममता समाप्त हो जाए तो वैराग्य की उत्पत्ति स्वतः हो जाती है, क्योंकि हम उनसे सुख नहीं चाहते हैं और उनके साथ रहकर भी उनमें आसक्त नहीं होते हैं। यदि हम मोह ममता त्याग दे तो हममे वैराग्य की उत्पत्ति होगी और आसक्ती का समापन हो जाएगा तथा मन स्थिर होगा।

7– हमे वैराग्य क्यों हो जाता है ?

हमें वैराग्य क्यों उत्पन्न हो जाता है ? अर्थात् वैराग्य उत्पन्न होने के प्रमुख कारण क्या है? इस तथ्य को हमें समझना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में कुछ तथ्यों का प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है कृपया उनका अवलोकन कीजिए।

(क) इन्द्रिय विषयों की वास्तविकता जान लेने से :–

इन्द्रिय विषयों में तृष्णा रहती है, जिससे इन्द्रिय विषयों में कभी भी पूर्ण संतुष्टि का आभास हमें नहीं होता है। जैसे हम क्षुधा अर्थात् भूख लगने पर भोजन ग्रहण कर लेते है तो भूख कुछ समय के लिए शान्त हो जाती है और वह पुनः उत्पन्न होती है। भोजन कर लेने से भूख की पूर्ण निवृत्ति हो जाती तो पुनः हमें भूख नहीं लगती। भोजन करने से पुनः भूख का लगना यह स्पष्ट करता है कि भूख से निवृत्ति नहीं हुई। वरन् क्षणिक निवृत्ति हुई है। यह तथ्य हमें गहनता से सोचना चाहिए। ऐसे ही समस्त इन्द्रिय विषयों में कभी भी पूर्ण निवृत्ति तथा संतुष्टि हमें प्राप्त नहीं हो सकती है वरन् क्षणिक निवृत्ति होती है। यह तथ्य साधक जान लेता है तो इन्द्रिय विषयों में अपने विनाश का तथ्य आभास कर लेता है। वास्तविकता जान लेने पर मनुष्य को इन्द्रिय विषयों से घृणा उत्पन्न हो जाती है। साधारण मनुष्यों को इन्द्रिय विषयों में सुख की प्रतीति तथा आभास होता रहता है। इस कारण उनको भोगने की इच्छा बनी रहती है। जैसे सुस्वाद भोजन कुछ समय तक तृप्ति देता है और कुछ घंटों के अंतराल में भोजन की आवश्यकता पुनः प्रतीत होती है। इस प्रकार साधक जब इन्द्रिय विषयों की वास्तविकता को जान लेता है तो उसमें वैराग्य की उत्तपत्ति हो जाती है।

(ख) सांसारिक विषयों की विनाश शील प्रवृत्ति जान लेने पर :–

संसार में जितनी भी वस्तुएं हैं जो हमारे सम्पर्क में हैं अथवा नहीं भी हैं वह सबकी सब विनाशशील प्रकृति की हैं। विनाशशील प्रकृति का अर्थ होता है कि अभी हैं और कल समय के साथ–साथ समाप्त हो जाएगी। इस कारण उनके अस्तित्त्व का बोध हमें स्थायी रूप से नहीं करना चाहिए। धन, सम्पत्ति, पद, ऐशवर्य आदि सभी कुछ विनाशी, समाप्त होने वाला है, जाने वाला है। इस कारण त्यागने योग्य है। हम इन्हीं सांसारिक वस्तुओं में तथा उनके आसक्ति में अहंकार करते हैं। उन्हें अपना मान कर लड़ते झगड़ते है सांसारिक वस्तुओं को अपना मानना आसक्ति रूप दोष है। साधक इस कारण सांसारिक वस्तुओं में कभी लिप्त नहीं होता है और विनाशशील प्रकृति का मान कर उनके अस्तित्त्व को भूल जाता है। इस प्रकार सांसारिक विषयों की विनाशशील प्रकृति को जानकर भी मनुष्य को संसार के प्रति वैराग्य का भाव उत्पन्न हो जाता है।

(ग) अपनो से उपेक्षा – तिरस्कार प्राप्त होने पर :–

प्रत्येक मनुष्य के सम्पर्कित लोग होते हैं। परिवार, सगे सम्बंधी लोगों का एक लम्बा सम्पर्क रहता है। जब मनुष्य अपने सम्पर्कित लोगों से तिरस्कार और अपमान

पाता है तो उससे भी मनुष्य में तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। जिन लोगों के लिए अपने जीवन का अधिकतम भाग हमने समाप्त कर दिया तथा उनकी इच्छाओं की पूर्ति, पालन पोषण के लिए बहुत श्रम किया। उनकी सुख सुविधाओं का ध्यान रखा। वे ही लोग जब मनुष्य की उपेक्षा करते हैं तिरस्कार और अपमान का भाव प्रकट करते हैं तब भी मनुष्य को संसार से वैराग्य हो जाता है। वह अपनों को घृणा भाव से देखने लगता है। जब अपनों में कतिपय कारणों से मनुष्य में घृणा भाव आ जाता है तब भगवान के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार अपने जब हमारी उपेक्षा आदि करते हैं तो भी हममे वैराग्य की उत्पत्ति स्वतः ही होती है।

(घ) श्री भगवान के प्रति स्नेह उत्पन्न होने से :–

जब किसी मनुष्य में श्री भगवान के प्रति किसी भी कारण से अथवा किसी घटना से अनायास ही स्नेह उत्पन्न हो जाता है तब भी उसमें वैराग्य की तीव्र उत्पत्ति हो जाती है। श्री भगवान के प्रति स्नेह से संसार के प्रति स्नेह के भाव में कमी आने लगती है। हम संसार से स्नेह करते हैं, इस कारण श्री भगवान से स्नेह नहीं करते जब श्री भगवान से स्नेह करने लगते हैं तो संसार के प्रति स्नेह समाप्त हो जाता है और इसी क्रिया का नाम वैराग्य है। अंतःकरण से संसार की समाप्ति हो और श्री भगवान का आगमन हो तो इसे ही वैराग्य कहा जाता है। श्री भगवान से हमारा लाखों वर्षो का सम्बन्ध इस सम्बंध को हम भूलकर संसार के कृत्रिम सम्बंध में फंस गए है। यही वैराग्य के प्रतिकूल तथ्य है। इस प्रकार श्री भगवान के प्रति स्नेह होने से वैराग्य की उत्पत्ति हो जाती है। वैराग्य की उत्पत्ति के अन्य भी कारण होते है। संसार तथा शरीर की आसक्ति का भाव समाप्त हो और दुष्कर्मो के परिणाम से भय की उत्पत्ति हो जाए तथा लोक परलोक बिगड़ने की आशंका का भाव दृढ़ हो जाए तो भी वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और श्री भगवान के प्रति निस्वार्थ भाव से स्नेह की उत्पत्ति हो जाती है।

7– वैराग्य से मन कैसे नियंत्रित होता है ?(वैराग्येण च गृह्यते) :–

सांसारिक विषयों में मन रमने का अर्थात् मन की चंचलता का प्रमुख कारण सांसारिक कामनाऐं है। इन्द्रिय विषय, सांसारिक पदार्थ तथा वस्तुओं में मनुष्य की आसक्ति आदि प्रमुख है। जब मनुष्य सांसारिक कामनाओं का, विषयों का सांसारिक पदार्थो का, आसक्ति का, सम्पर्कित लोगों की ममता का त्याग कर देता है तो मन के विचारण विषयों का अन्त हो जाता है। यदि हमारी कामना ही न रहे, किसी वस्तु की

आकांक्षा ही न रहे तो इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है और मन की चंचलता भी संयमित हो जाती है। इस प्रकार वैराग्य से मन पर नियंत्रण हो जाता है।

श्री भगवान ने मन को संयमित नियंत्रित करने के दो साधनों अभ्यास और वैराग्य को कहा है। इसमें हमें एक तत्त्व स्पष्ट समझना चाहिए कि अभ्यास से वैराग्य होता और वैराग्य से अभ्यास हो जाता है तथा अभ्यास और वैराग्य साथ–साथ भी होते हैं। यह साधक और साधना का क्रियात्मक पक्ष है जिसका साधक को अनुगमन करना पड़ता है तथा इसका आचरण करना पड़ता है।

अर्जुन के मन में अपूर्ण साधक की गति के बारे में एक प्रश्न अनायास ही उत्पन्न हो गया जिसे उन्होंने अग्रिम तीन श्लोको में व्यक्त किया है। उस प्रश्न के उत्तर हेतु अर्जुन ने श्री भगवान को योग्य समझा है। अर्जुन के इस विशिष्ट प्रश्न का अवलोकन कीजिए।

अर्जुन उवाच

मूल श्लोक – 37

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।

पदच्छेद –

अयतिः, श्रद्धया, उपेतः, योगात्, चलितमानसः,
अप्राप्य, योगसंसिद्धिम्, काम्, गतिम्, कृष्ण, गच्छति।।

मूल श्लोक – 38

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढ़ों ब्रह्मणः पथि।।

पदच्छेद –

कच्चित्, न, उभयविभ्रष्टः, छिन्नाभ्रम्, इव, नश्यति,
अप्रतिष्ठः, महाबाहो, विमूढः, ब्रह्मणः पथि।।

मूल श्लोक – 39

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।

पदच्छेद –

एतत्, मे, संशयम्, कृष्ण, छेत्तुम्, अर्हसि, अशेषतः,

त्वदन्यः, संशयस्य, अस्य, छेत्ता, न, हि, उपपद्यते।।

भावार्थ : हे कृष्ण ! श्रद्धा पूर्वक साधन में संलग्न हुआ असिद्ध योगी यदि योग से चलित मन वाला हो जावे तो योग की पूर्णतः को प्राप्त न करके कैसी गति को प्राप्त करता है? हे कृष्ण ! ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में जगत की प्रतिष्ठा से विहीन भ्रष्ट साधक दोनों पक्षों से भ्रष्ट हुआ छिन्न भिन्न बादल के सदृश्य क्या नष्ट तो नहीं होता है ? हे कृष्ण ! मेरे इस संशय का सम्पूर्णता से विनिष्ट करने में आप योग्य है, क्योंकि इस संशय को विनिष्ट करने वाला आपके अतिरिक्त अन्य कोई समर्थ नहीं है।

व्याख्या : अर्जुन ने मन की चंचलता के विषय में 33वें और 34वें श्लोक में जो प्रश्न किया था उसका निवारण श्री भगवान ने 35वें व 36वें श्लोक में कर दिया था। चंचल मन वस्तुतः अभ्यास और वैराग्य से वश में हो जाता है। चंचल मन अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है परन्तु श्री भगवान का आश्रय ग्रहण करने से शीघ्र ही हो जाता है। वैराग्य का अर्थ ही संसार को त्याग करना है। श्री भगवान का आश्रय ग्रहण करके संसार से स्वतः ही वैराग्य हो जाता है। श्री भगवान के उत्तर के पश्चात् अर्जुन के मन में एक शंका पुनः उठी जिसे उन्होंने 37वें श्लोक से 39वें श्लोक में व्यक्त किया है। अर्जुन के द्वारा उठाये गए प्रश्न का अवलोकन कीजिए।

1– अयति कौन है ? (अयतिः) :–

अयति यति शब्द का प्रतिकूल अर्थ रखता है। यति का अर्थ है पूर्णतः को प्राप्त योगी। इस भाव से अयति वह साधक है जो साधन में असफल हो जाता है और परमात्मा के साक्षात्कार से विमुख रहकर मृत्यु को प्राप्त होता है। वस्तुतः योग का आत्यंतिक और एक मात्र लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है। यदि साधक को परमात्मा की

प्राप्ति नहीं हो पाती है और उसका शरीर समाप्त हो जाता है तो वह ध्यान की अपूर्णतः के कारण अयति कहलाता है। अर्जुन ने अयति के बारे में यह प्रश्न किया है कि यदि कोई साधना करने की ओर उन्मुख रहता है और तेजी से साधन पथ पर चलता है परन्तु किसी कारण से परमात्मा के साक्षात्कार के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जाती है तो वह यति न बनकर अयति रह जाता है तो उसकी क्या गति होती है ? साधक किन कारणों से परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता है ? तथा असफल रहता है जो असफल रहता है वही अयति है। इस कारण असफलता के कारणों को प्रत्येक साधक को समझना चाहिए। कुछ कारणों का उल्लेख किया जा रहा है। कृपया उनका अवलोकन कीजिए–

(क) साधन की शिथिलता के कारण :–

परमात्म साक्षात्कार के कई उपाय–साधन अपनी प्रवृत्ति तथा निर्देशों के अनुसार साधक उन पर चलता है। प्रत्येक साधन की पृथक्–पृथक् विशिष्टता है। इन साधनों में प्रमुख है कर्म योग, ज्ञान योग, ध्यान योग तथा भक्ति योग। किसी भी साधन का साधक अपने साधन में यदि शिथिल हो गया तो वह सिद्धि से अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार से विमुख हो जाता है। प्रत्येक साधन अपने में पूर्ण है और वह परमात्मा का साक्षात्कार कराने में सक्षम है। कमी हमारी आती है। साधक कतिपय कारणों से पूर्णतः को प्राप्त नहीं कर पाता है। कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, भक्तियोगी यदि अपने साधन में लगकर सिद्धि प्राप्ति का प्रयास करता है तो पूरे मनोयोग से लगा रहता है तो उसे सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। इन सब साधनों में परमात्मा की शरणागति प्रमुख है। परमात्मा की शरणागति समस्त साधनों में उभयनिष्ठ है जिससे समस्त साधन शीघ्र ही पूर्णतः–परिपक्वता को प्राप्त होते हैं। प्रत्येक साधन का क्रियान्वयन स्वरूप क्या है ? उसमें शिथिलता कहां से आती है ? इसका अवलोकन कीजिए–

(एक) कर्म योग साधन और उसकी शिथिलता :–

इस जगत में प्रत्येक मनुष्य के कर्तव्य कर्मो का निर्धारण शास्त्रों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक मनुष्य कर्तव्य कर्मो से बंधा हैख उससे मुक्त नहीं है। हम अपने कर्तव्य कर्म का पालन आसक्ति को त्याग कर सिद्धि असिद्धि में एक समान रहकर करना चाहिए। यह कर्मयोग साधन है। इस प्रकार कर्म योग साधन में तीन तथ्य प्रमुख है।

एक कर्तव्य कर्म का पालन दूसरे सिद्धि असिद्धि में एक समान रहना तथा तीसरे आसक्ति का सर्वथा त्याग करना। तीनों तथ्यों का सही परन्तु आचरण से सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जब साधक शास्त्र विहित कर्तव्यों कर्मो का उचित रूपेण पालन नहीं करता है तब वह सिद्धि असिद्धि में समभाव नहीं रख पाता। अथवा संसार में आसक्ति करता है। इसलिए वह अपने श्रेय साधन से गिरता है। यही कर्म योग साधन की शिथिलता है जिससे मनुष्य को सिद्धि से वंचित रहना पड़ता है। इसी असफल कर्मयोगी के लिए अर्जुन ने अयति पद का प्रयोग किया है।

(दो) ज्ञान योग साधन एवं उसकी शिथिलता :–

संसार का प्रत्येक मनुष्य त्रिगुणों अर्थात् सत्व, रज, तम से प्रभावित रहता है। राजसी या तामसी मनुष्य परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधन नहीं कर सकता है। वह संसार की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और दुष्कर्मो के सम्पादन आदि तामस गुणों की प्रधानता से होते हैं।सांसारिक वस्तुओं के संकलन का कार्य राजसी गुणों से प्रभावित मनुष्य करता है। सात्विक गुणों वाला मनुष्य ही परमात्मा की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होता है। ज्ञान योग के साधन में सात्विक गुणों के अधीन जो क्रियाएं होती हैं उन क्रियाओं को सात्विक गुण के कारण वह मानना तथा स्वयं को कर्ता न समझना। स्वयं के कर्ता न मानने पर मनुष्य कर्तापन के अभिमान से मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार समस्त क्रियाओं को प्रकृतिजन्य गुणों द्वारा हुआ मानना और स्वयं को कर्ता न मानकर कर्तापन के अभिमान से मुक्त रहना यह ज्ञान योग्य साधन है। इस साधन की पूर्णतः कर्तापन के अभिमान से मुक्त होने में है। कर्तापन के अभिमान से मुक्त होने पर ज्ञानयोगी सिद्धि प्राप्त करता है और जब साधक में कर्तापन का भाव आ जाता है तब वह अपने ज्ञान योग साधन से शिथिल हो जाता है। अर्जुन ने ऐसे ही शिथिल ज्ञानयोगी हेतु **अयति** शब्द का प्रयोग किया है।

(तीन) भक्तियोग साधन एवं उसकी शिथिलता :–

भगवान हमारे है और मैं भगवान का हूं इस भाव से श्री भगवान के प्रति समर्पित हो जाना और उनसे अतिशय स्नेह करना भक्तियोग साधन है। भक्तियोग साधन की विशिष्टता है संसार के प्रति स्नेह का समापन हो जाना। संसार में जितनी वस्तुएं, व्यक्ति है, क्रियाएं है उनसे अपने को सर्वथा विमुख कर लेना तथा श्री भगवान में अपने को समर्पित कर देना ही भक्तियोग साधन है। भक्तियोग साधन में भगवान के प्रति

अतिशय स्नेह का उपार्जन करना पड़ता है। भक्तियोगी श्री भगवान में जब अतिशय प्रेम, स्नेह का उपार्जन करके और किसी कारणवश संसार की किसी वस्तु व्यक्ति क्रिया के प्रति आकृष्ट होकर उससे स्नेह करने लगता है तो इसे अव्यभिचारिणी भक्ति कहते है। इससे भक्तियोगी अपने श्रेय साधन से गिर जाता है।

इस प्रकार जब भक्तियोगी अपने को किसी कारण से श्री भगवान के स्वरूप से निकाल कर संसार के स्वरूप में लगा देता है और उसी आसक्ति में फंस जाता है तो यह भक्तियोग साधन की शिथिलता है। ऐसा भक्तियोगी भक्ति की पूर्णतः प्राप्त न होने के कारण परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता है। ऐसे भक्तियोगी के लिए ही अर्जुन ने अयति शब्द का प्रयोग किया है।

(चार) ध्यान योगी साधन उसकी शिथिलता :–

इस छठें अध्याय में ध्यान की क्रियाओं को विशिष्टता से सम्पादित किया गया है जब ध्यान योगी अपने स्वरूप में स्थिति हो जाता है तो यह ध्यान योग की पूर्णतः कही जाती है। इसके लिए श्री भगवान ने युक्त आहार, युक्त विहार, कर्मो में युक्त चेष्टा, समय से सोने जागने का तथ्य विशेष रूप से वर्णित किया। नियमों का पालन न करने के कारण जब ध्यान योगी पूर्णतः की ओर बढ़ता है तब अनेक प्रकार के सांसारिक बाधाएं उसके समक्ष उपस्थित होने लगती है।

अयुक्त आहार, अयुक्त विहार, कर्मो में अयुक्त चेष्टा, अनुचित रूप से जागना सोना आदि ध्यान योगी की पूर्णतः में बाधक होते हैं जो साधक निरन्तर ध्यान के साधन में लगता है, लगा रहता है, उसे पूर्णतः की प्राप्ति हो जाती है और उसकी अपने स्वस्वरूप में स्थिति में भी हो जाती है। यदि ध्यान योगी ने अयुक्त आचरण करना आरम्भ कर दिया तो वह सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता है। इस प्रकार के ध्यान योगी के लिए ही श्री भगवान ने **अयति** शब्द का प्रयोग किया है।

(ख) परमात्मा का आश्रय त्यागने पर :–

प्रत्येक साधन में परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लें तो इसे साधन की सिद्धि का मूल मंत्र मानना चाहिए, परमात्मा का आश्रय, सहारा, ग्रहण कर लेने से कोई भी साधन शीघ्र से शीघ्र सिद्ध हो जाता है। जो लोग परमात्मा का आश्रय ग्रहण नहीं करते है और किसी भी प्रकार के साधन से सिद्धि चाहते हैं तो उन्हें अधिकांशतः असिद्धि ही प्राप्ति

होती है। यहां पर एक तथ्य और विशिष्टता से कहना है कि केवल परमात्मा का आश्रय ग्रहण कर लेने तथा साधन के प्रकार पर ध्यान न देने से परमात्मा की शरणागति से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

परमात्मा की शरणागति एक विशिष्ट भाव है। शरणागति से परमात्मा की सान्निध्यता का और उसके अस्तित्त्व का आभास साधक को होने लगता है। आश्रय तथा शरणागति जितनी तीव्र होगी उतनी ही तीव्रता से परमात्मा का आभास हमें हो जाता है जब ऐसा साधक अथवा किसी भी साधना का साधक परमात्मा की शरणागति का त्याग कर देता है तो उसका साधन स्वतः ही शिथिल हो जाता है और ऐसे साधक के लिए अर्जुन ने **अयति** शब्द का प्रयोग किया है। परमात्मा के आश्रय का त्याग मात्र संसार के कारण और उसकी आसक्ति उत्पन्न हो जाने के कारण ही होता है।

2– श्रद्धापूर्वक साधन में संलग्न होना क्या है ? (श्रद्धयोपेतो) :–

प्रत्येक मनुष्य के अंतःकरण में एक भाव रहता है जो उसके गुणों के आधार पर रहता है। उसे ही श्रद्धा कहा जाता है। सात्विक मनुष्यों में सात्विक श्रद्धा होती है। इस कारण वे श्री भगवान का तथा देवी देवताओं का पूजन करते हैं। राजसी मनुष्यों के अंतःकरण में राजसी श्रद्धा होती है और राजसी श्रद्धा के मनुष्य राजसी श्रद्धा के अनुरूप यक्ष और राक्षसों का पूजन करते हैं। तामसी मनुष्यों के अंतःकरण में तामसी श्रद्धा होती है जिसके कारण वे भूत प्रेतों का पूजन करते रहते हैं। परमात्मा का यजन पूजन करने वाले सात्विक श्रद्धा से युक्त होते हैं। अर्जुन ने उनके लिए **श्रद्धयोपेतो** बल का प्रयोग किया। उनके दर्शन का भाव है कि जो श्रद्धापूर्वक परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में लगे हुए है श्रद्धापूर्वक संलग्न हैं। अर्जुन श्री भगवान से यह कहना चाहते हैं जो साधन की पूर्णतः को प्राप्त नहीं हो सके है परन्तु श्रद्धा से लगे हुए है। **श्रद्धयोपेतो** के पश्चात् अर्जुन ऐसे ही मनुष्यों के लिए **योगाच्चलितमानसः** पद का प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयोग किये गए उक्त पद के अर्थ का अवलोकन कीजिए।

3– योग से चलित मन वाला कौन है ? (योगाच्चलितमानसः) :–

जिस साधक में परमात्मा के प्रति श्रद्धा और विश्वास है तथा जो परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग का अनुकरण करके सिद्धि हेतु प्रयत्नशील भी है परन्तु उसका मन सांसारिक आकर्षण में किसी कारणवश फंस जाता है। ऐसे साधक को अर्जुन ने

योगाच्चलितमानसः कहा है। योग से जिसका चलायमान हो गया है। वही **योगाच्चलितमानसः** कहलाता है। यह तथ्य निश्चित ही सत्य है कि योग साधना में सांसारिक आकर्षण ही मुख्य बाधा है जिसमें फंसकर अच्छे स्तर का साधक भी अपना स्वयं पतन कर लेता है। त्रिगुणीमयी माया ने अपनी शक्ति से संसार में अनेक लुभावनी वस्तुएं उत्पन्न कर दी हैं और उत्पन्न करके उन्हें इस जगत में बिखेर दिया है। जिनमें साधारण मनुष्य तो फंसा ही रहता है और उत्कृष्ट साधक भी कभी–कभी इनके आकर्षण में फंसकर अपना सत्यानाश कर लेते हैं।

योग साधन में सिद्धि से विमुखता त्रिगुणीमयी माया द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुएं भी है। मन जब इन वस्तुओं के संसर्ग में आ जाता है तो स्वतः ही उन वस्तुओं की ओर आकर्षित हो जाता है। श्री भगवान त्रिगुणीमयी माया को अत्यंत दुष्कर कहा है और इसे पार पाना बहुत कठिन कार्य है। त्रिगुणीमयी माया साधक को उसके श्रेय साधन से गिरा देती है। ऐसा साधक **योगाच्चलितमानसः** हो जाता है।

4– सिद्धि का प्राप्त न होना क्या है ? (अप्राप्य योगसंसिद्धिम्) :–

जिन साधनों अर्थात् कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग, ध्यान योग का वर्णन पूर्वोक्त प्रकार से किया गया है इन समस्त उपायों का एक मात्र उद्देश्य परमात्मा की सान्निध्यता को प्राप्त कर लेना है। परमात्मा का साक्षात्कार ही इसका अंतिम लक्ष्य है। अध्यात्मिक भाषा में इसे ही सिद्धि कहा जाता है। यह सिद्धि अत्यंत दुर्लभ तथ्य है। सहज नहीं है। इसका वर्णन श्री भगवान ने गीता जी के सातवें अध्याय के तीसरे श्लोक में स्पष्ट रूप से किय है। हजारों मनुष्यों में से कोई एक मनुष्य परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है और प्रयत्न करने वाले हजारों साधकों में से कोई एक परमात्मा का साक्षात्कार कर पाता है। श्री भगवान द्वारा कहे गए उपर्युक्त तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि परमात्मा की प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है सहज नहीं है। परन्तु असंभव भी नहीं है। परमात्मा का साक्षात्कार कठिन है परन्तु असंभव नहीं है। यह सिद्धान्त सामने रखकर मनुष्य को प्रयास करना चाहिए। तब मनुष्य को सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

साधक जब योग के साधन में सांसारिक आकर्षण के कारण योग चलित मन वाला हो जाता है तब वह सिद्धि प्राप्त करने में असफल हो जाता है इससे ही सिद्धि का न प्राप्त होना कहा जाता है। इन तथ्यों के प्रस्तुतीकरण हेतु ही अर्जुन ने **अप्राप्य योगसंसिद्धिम** पदों का प्रयोग किया है।

5– श्रद्धायुक्त, योगचलित मन वाला हो जाने पर सिद्धि जब प्राप्त नहीं होती है तो उसकी क्या गति होती है ? (कां गतिं कृष्ण गच्छति) :–

कोई भी साधक योग साधना करता है अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास करता है और यदि जीवन रहते सफल हो गया तो उसको परमधाम की प्राप्ति हो जाती है। सिद्ध महापुरूष ब्रह्मस्वरूप हो जाता है और उसे उत्तम सुख की उपलब्धि हो जाती है परन्तु यदि वह अपने साधन में असफल रहा तो उसकी क्या स्थिति होगी ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक भी है। मृत्यु के पश्चात् की गति का वर्णन साधारणताः लौकिक पुरूष नहीं कर सकता है। हम सभी लोग पृथ्वी लोक में रहते हैं तथा पृथ्वी लोक में जो घटित हो रहा है उसके बारे में जानते हैं परन्तु पृथ्वी लोक में अनेक ऐसी घटनाएं हैं जिनके बारे में मनुष्य का ज्ञान सीमित है। मनुष्य माता के गर्भ में आने से पूर्व कहां था? उसकी क्या गति थी? माता गर्भ में कहां से कैसे प्रकट हो गया ? जीवन में उसकी क्या स्थिति रहेगी ? उसका जीवनवृत्त क्या होगा ? उसके साथ क्या–क्या घटनाएं होंगी ? उसकी मृत्यु कब होगी और मृत्यु के पश्चात् उसकी गति क्या होगी ?

उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर एक सामान्य मनुष्य अर्थात् एक लौकिक पुरूष नहीं दे सकता है। हमारे पास उपरोक्त प्रश्नों का कोई सटीक उत्तर उपलब्ध भी नहीं है। सटीक उत्तर का न होना हमारी अनभिज्ञता का प्रतीक है। इसी प्रकार जो साधक अति प्रयत्नशील है साधन की उत्कृष्टता को प्राप्त हो चुका है परन्तु मृत्यु से पूर्व उसे सिद्धि नहीं प्राप्त हो पाती है तो उसकी क्या गति होगी ? वह किस गति को प्राप्त होगा ? ऐसा अर्जुन का श्री भगवान से प्रश्न है और यही इस प्रश्न का अभिप्राय है। अर्जुन **कां गति कृष्ण गच्छति** कहकर यही प्रकट करना चाह रहे है।

7– ब्रह्म अनुभूति के पथ में विमूढ़ होना क्या है ? (विमूढो ब्रह्मणः पथि) :–

ब्रह्म की अनुभूति का यह पथ है, उस पथ पर संसार के आश्रय से रहित हुआ साधक चलता है। संसार का त्याग कर देना और परमात्मा की अनुभूति के पथ पर चलना ही **ब्रह्मणापथि** है। उस पथ पर हम सांसारिक आकर्षण के कारण नहीं चलते हैं और चलते हैं तो हमारी स्थिति सांसारिक आकर्षणों में फंसने के कारण चलायमान हो जाती है। इसलिए हम मूढ अर्थात् मूर्ख हो जाते हैं। अर्जुन ने विमूढ पद का प्रयोग उन उत्कृष्ट साधकों हेतु किया है जो साधन पथ पर पूर्णतः के समीप पहुंच कर सांसारिक

आकर्षण के कारण योग भ्रष्ट हो जाते हैं और अपने वास्तविक उद्देश्य ब्रह्म की अनुभूति से वंचित रह जाते हैं।

ऐसे उत्कृष्ट साधक वस्तुतः विमूढ़ ही कहे जायेंगे जो संसार के सासांरिक आकर्षण के तुच्छ विषयों में फंसते है। ब्रह्म सुख आत्यंत्कि सर्वाधिक उत्कृष्ट सुख है। उसकी प्राप्ति का प्रयास छोड़कर संसार के आकर्षण में फंसने वाला वस्तुतः मूर्ख ही कहा जाएगा। संसार के जितने भी सुख है वे ब्रह्मसुख की तुलना में बहुत ही निम्न है। संसार सुख की तुलना ब्रह्मसुख से नहीं की जा सकती है। इस कारण यदि कोई साधक ब्रह्म की अनुभूति होती प्रयास कर रहा है और वह संसार के आकर्षण में फंस जावे तो वह विमूढ़ अर्थात् महान मूर्ख ही कहा जाने योग्य है। संसार के सहारे को त्याग कर जो ब्रह्म की अनुभूति करना चाहता है वह परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग का अनुकरण करता है। परमात्मा प्राप्ति के मार्ग में अनेक बाधाएं स्वतः ही आती है तथा माया के द्वारा आकर्षण भी प्रस्तुत किये जाते हैं बाधा और आकर्षण में जो साधक फंस जाता है वह निकृष्ट स्थिति में आ जाता है। एक तो संसार के सुख का परित्याग कर चुका होता है और दूसरे परमात्मा प्राप्ति के लाभ से वंचित रह जाता है इसी तथ्य को अर्जुन प्रस्तुत करना चाह रहे है। अर्जुन के द्वारा प्रस्तुत इस तथ्य के अर्थ का अवलोकन कीजिए–

8– उभयविभ्रष्ट कौन है? (उभयविभ्रष्टः) :–

साधक संसार का सुख त्यागता है तथा परमात्मा के सुख को पाने का प्रयास करता है। संसार के सुख को त्याग कर परमात्मा के सुख की अनुभूति न होना ही दोनों ओर से भ्रष्ट होना है। एक वस्तु पाने के लिए एक वस्तु छोड़ना पडे परन्तु यदि छोड़ी गयी वस्तु छूट जाती है और पाने वाली प्राप्त नहीं होती है तो दोनों ओर से हानि होती है। यहीं उभयभ्रष्ट की स्थिति है। साधक संसार का सुख परमात्मा के सुख के लिए त्यागता है,परन्तु परमात्मा का सुख प्राप्त नहीं होता है और संसार के सुख से वह वंचित रहता है। यह दोनों ओर से हानि है। ऐसे साधक को अर्जुन ने **उभयविभ्रष्टः** कहा है।

परमात्मा की अनुभूति का सुख प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सांसारिक सुख आदि छोड़ने पड़ते हैं अथवा उनकी अनुभूति त्यागनी पड़ती है, क्योंकि अनुभूति रहने तक संसार का सुख प्राप्त होता रहता है। वैसे इन्द्रियों को हम हठ पूर्वक त्यागने से यदि मन से विषयों का चिंतन करते रहे तो वह विषय सुख की अनुभूति कहा जाता है।

इसी प्रकार जब तक सांसारिक सुखों की अनुभूति रहती है तब तक परमात्मा के सुख की अनुभूति साधक नहीं कर पाता है। अनुभूति तो मात्र अनुभूति होती है सुखों की वास्तविक स्थिति नहीं होती है, वरन् काल्पनिक होती है। काल्पनिक अनुभूति भी परमात्मा का सुख है जो साधक को वंचित रखती है। इसी भाव से उस साधक को उभय भ्रष्ट कहा गया है।

9– छिन्न–भिन्न बादल की तरह से नष्ट होना क्या है ?

(कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव) :–

बादल का उद्देश्य है पानी बरसाना और मनुष्य का उद्देश्य है परमात्मा की प्राप्ति करना। बादल यदि हवा से छिन्न भिन्न हो जाए, बिखर जाए तो वह अपने पानी बरसाने वाले उद्देश्य को पूरा नहीं कर पाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य यदि सांसारिक हवाओं के झोकों से प्रभावित हो जाए तो उसे भी अपने परमात्म प्राप्ति के उद्देश्य से विमुख होना पड़ता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए अर्जुन ने उस साधक की तुलना छिन्न भिन्न बादलों से की है जो सांसारिक मोह और आकर्षण में फंसकर अपने उद्देश्य को भूल जाता है और योगभ्रष्ट हो जाता है।

बादलों में बरसात की क्षमता तभी तक रहती है। जब तक वे एक साथ रहकर एक स्थान पर बरसात के लिए उद्यत रहते हैं। यदि तेज हवा ने उन्हे तितर बितर कर दिया तो वह ठीक से पानी बरसाने की क्षमता खो देते है। इसी प्रकार साधक भी जब पूरी शक्ति से परमात्मा की प्राप्ति के प्रयास में लग जाता है तो उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है और यदि वह सांसारिक आकर्षण, विषय भोगों के तीव्र प्रवाह में फंस जाता है तब वह स्वयं को परमात्मा प्राप्ति के उद्देश्य से अपने को विमुख कर लेता है।

इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए अर्जुन ने छिन्न भिन्न बादलों की तुलना योग भ्रष्ट साधक से की है तथा छिन्न भिन्न बादलों की तरह से नष्ट भ्रष्ट हो जाने का तथ्य कहा है।

10– इस संशय का सम्पूर्णतः से छेदन करने में आप ही योग्य है

(एतन्मे संशयंस्यास्य कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः) :–

संशय प्रमुखता से दो प्रकार के होते हैं एक लौकिक संशय और दूसरा परालौकिक संशय। लौकिक संशय का अभिप्राय है कि जो सांसारिक विषयों से सम्बंधित

होते हैं वे लौकिक संशय कहलाते हैं तथा जो सांसारिक विषयों से सम्बंधित नहीं होते हैं उन्हें परालौकिक संशय कहते हैं। हम उस जीवन के पूर्व क्या थे किस स्थिति में थे? हम किसी परिवार, देश, स्थान में क्यों उत्पन्न हो गए ? हम मृत्यु के उपरान्त कहा जायेंगे ? हमारी गति क्या होगी ? इस प्रकार के प्रश्नों को पारलौकिक संशय कहा जाता है, क्योंकि इनका सम्यक् निवारण मनुष्य नहीं कर सकता है। यह मनुष्य की ज्ञान शक्ति की सीमा से परे के विषय है। इन प्रश्नों का उत्तर मनुष्य के लिए असंभव है।

परमात्मा के विषय तथा उसके अस्तित्त्व स्थिति आदि के बारे में जो संशय हो जाता है वह सब का सब लौकिक संशय है। इसका भी निराकरण मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। हम किसी मनुष्य से पूछे कि आप इस जन्म के पूर्व किस स्थान में थे ? किस योनि में थे ? तो वह इस प्रश्न को सुनकर असहज हो जाएगा और उसका उत्तर नहीं दे पाएगा, क्योंकि यह प्रश्न उसकी ज्ञान शक्ति के बाहर के प्रश्न हैं। इस प्रश्न का निराकरण करना तो दूर इन प्रश्नों के बारे में कोई उत्तर ही नहीं दे पाएगा क्योंकि इस प्रश्न के उत्तर से हम सभी अनभिज्ञ और अनजान है, इसलिए हमें उक्त विषयों के सम्बन्ध में संशय रहता है।

श्री भगवान ने चौथे अध्याय के पांचवें श्लोक में यह कहा था कि हमारे और तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं उन समस्त जन्मों को मैं जानता हूं परन्तु हे अर्जुन ! तुम नहीं जानते हो। अर्जुन की स्मृति में यह तथ्य है कि श्री भगवान मनुष्यों के जन्म के बारे में जानते हैं कौन सा मनुष्य पूर्व में किस योनि में था ? और किन किन योनियों में रहा है ? इसी तथ्य का स्मरण करके अर्जुन ने यह प्रश्न किया है कि आप अर्थात् श्री भगवान ही इस संशय अर्थात् योगभ्रष्ट पुरूष की मृत्यु के पश्चात् होने वाली गति के बारे में सम्यक् प्रकार से बता सकने में समर्थ हैं।

इसी तथ्य को दृष्टिगत् रखकर ही अर्जुन ने यह प्रश्न किया है और कहा कि आप ही मेरे इस संशय को सम्पूर्णता से निवारित करने में समर्थ हैं।

12– इसके अतिरिक्त इस संशय का छेदन करने में कोई योग्य नहीं है (त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते) :–

भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल है। तीन कालों में वर्तमान काल स्थिर नहीं है। वह निरन्तर गतिशील है प्रत्येक वर्तमान क्षण का निरन्तर अतीत में परिवर्तन हो रहा है। इस कारण सब कुछ अतीत सा प्रतीत होता है और भविष्य की ओर हमारी दृष्टि रहती

है। वर्तमान का बीता हुआ क्षण भूतकाल है और वर्तमान का अग्रिम क्षण भविष्यकाल कहा जाता है। मनुष्य अतीत के बारे में अर्थात् जो घटनाएं हो चुकी है उनका ज्ञाता होता है। अर्थात् वह अपने अतीत की घटना को जानता है वर्तमान में जीता हुआ अतीत होता रहता है। भविष्य के बारे में अर्थात् अगले पल में क्या घटना होगी ? उसे इसका ज्ञान नहीं होता है।

इसलिए मनुष्य अल्पज्ञ है। परमात्मा ही भविष्य की घटनाओं को सम्यक्रूपेण जानता है, इसलिए उसे त्रिकालज्ञ कहा जाता है। श्री भगवान ने चौथे अध्याय के छठवें श्लोक में यह कहा था कि मैं समस्त प्राणियों का ईश्वर हूँ। यह तथ्य अर्जुन को स्मरण था। अर्जुन ने इसी भाव को दृष्टिगत् रखकर यह कहा कि आप मृत्यु के पश्चात् होने वाली घटनाओं से परिचित है और समस्त भूत प्राणियों के ईश्वर हैं। इसीलिए इस संशय का जो भविष्य से सम्बंधित है इसका छेदन अर्थात् निवारण करने में भी समर्थ हैं। वस्तुतः परमात्मा ही हमारे समस्त समस्याओं का हल कर सकता है। भविष्य के प्रत्येक प्रश्न का निराकरण करने में समर्थ है। जो साधक परमात्मा की अनुभूति से पृथक् रह जाता है उसे योग्यभ्रष्ट कहा जाता है। ऐसे पुरूष की क्या गति होगी ? इसका उत्तर श्री भगवान ही दे सकते हैं और वे समस्त प्रकार के संशयों का निवारण करने में समर्थ है। अर्जुन ने श्री भगवान से इसी कारण यह प्रश्न किया है।

उपर्युक्त तीन श्लोकों में अर्जुन ने जो प्रश्न किए है उसका उत्तर श्री भगवान 40वें श्लोक से देना आरम्भ कर रहे है। भगवान के द्वारा अर्जुन के प्रश्न के संदर्भ में दिए गए उत्तर का अवलोकन कीजिए।

श्री भगवान उवाच

मूल श्लोक – 40

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।

पदच्छेद –

पार्थ, न, एव, इह, न, अमुत्र, विनाशः, तस्य, विद्यते,
न, हि, कल्याणकृत्, कश्चित्, दुर्गतिम्, तात, गच्छति।।

मूल श्लोक – 41

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।

पदच्छेद –

प्राप्य, पुण्यकृताम्, लोकान्, उषित्वा, शाश्वतीः, समाः,

शुचीनाम्, श्रीमताम्, गेहे, योगभ्रष्टः, अभिजायते।।

भावार्थ : हे अर्जुन ! उस (भ्रष्टयोगी) का न तो इस पृथ्वी लोक में न अन्य लोक में ही विनाश होता है क्योंकि ये तात ! कल्याणप्रद कर्म करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। योगभ्रष्ट पुण्यकर्मा श्रेष्ठलोकों को प्राप्त होकर, दीर्घ समय तक निवास करके विशुद्ध श्रीमानों के गृहों में जन्मतः है।

व्याख्या : श्री भगवान ने अर्जुन के द्वारा प्रस्तुत किये गए प्रश्नों का उत्तर 40वें श्लोक से देना आरम्भ किया तथा 45वें श्लोक तक उसका विस्तार से उत्तर दिया। श्री भगवान समस्त सृष्टि के रचयिता हैं तथा प्रत्येक जीव उनकी दृष्टि में हैं। प्रत्येक जीव की गति तथा पूर्व में हुए जन्मों और भविष्य में होने वाले जन्मों तथा कर्मो के परिणाम के सम्यक् जानकार हैं। इस कारण इसी सम्यक् जानकारी के आधार पर उन्होंने अर्जुन के द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रश्नों का उत्तर दिया है।

1– कल्याणप्रद कार्य करने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता (न हि कल्याण कृत्कश्चिद्दुर्गतिं गति तात गच्छति) :–

प्रत्येक मनुष्य कर्म करता है। उस कर्म का परिणाम अवश्य होता है। कर्म करने का अधिकार श्री भगवान ने मनुष्य को प्रदान किया है तथा उसके फल का अधिकार अपने पास रख लिया है। मनुष्य जो भी कर्म करता है उसका अंकन अर्थात् लेखा जोखा रहता है। उसी अंकन के आधार पर ही मनुष्य के कर्मो का आंकलन होता है। मनुष्य यदि शुभ कर्म करता है तो उसे शुभ फल प्राप्त होता है और अशुभ कर्म करता है तो उसे अशुभ फल प्राप्त होता है। श्री भगवान कह रहे हैं कि शुभ कर्म करने वाले की

दुर्गति नहीं होती है। इस समस्त तथ्य को समझने के लिए कर्म सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। कर्म के सम्पादन का प्रकार, कर्म का प्रकार तथा उससे होने वाले फल का विचार हमें जानना होता है। यह सब जानकर ही हम कर्म की व्यवस्था तथा उसके फल को समझ सकते है। इन समस्त तथ्यों का आप क्रमिक अवलोकन कीजिए।

(क) कर्म किस प्रकार सम्पादित होता है ?

मनुष्य तीन प्रकार से कर्म करता है जिससे **मनसः, वाचा, कर्मणा** कहा जाता है। यह कर्मो के सम्पादन का क्रम है। इसका स्पष्ट अभ्रिपाय यह है कि पहले कर्म के सम्बन्ध में कोई विचार मन में आता है अर्थात् किसी भी कर्म का विचार सर्वप्रथम मन में उत्पन्न होता है। जैसे हम कोई पुस्तक पढ़ना चाहते हैं तो पुस्तक के पढ़ने का विचार पहले मन में आता है और वह विचार बुद्धि जानती है। मन के द्वारा पुस्तक पढ़ने के विचार को बुद्धि स्वीकृति प्रदान करती है। बुद्धि जब यह विनिश्चय कर लेती है कि पुस्तक पढ़नी है तो हम अपने सहायक को कहते है कि अमुक पुस्तक ले आओं अर्थात् उस पुस्तक को लाने का आदेश वाणी देती है। बुद्धि वाणी को ऐसा करने का आदेश देती है। पुस्तक लाने का जो आदेश हम सहायक को बोलकर देते है वह ही वाचाकर्म है। सहायक हमें पुस्तक लाकर देता है तो हम उसे हाथों से ग्रहण करते हैं। उस स्थान तक जाते है जहां पर पुस्तक का अध्ययन किया जाना है तो यह क्रिया कर्मणा कर्म कहलाती है। हम पुस्तक का अध्ययन आरम्भ करते हैं। इस अध्ययन में मन, बुद्धि, अपने–अपने कर्मो में लग जाते है।

इस प्रकार हम प्रति क्षण जो भी कर्म करते है वह सब तीन प्रकार से करते है जिसे मनसा, वाचा, कर्मणा कर्म कहा जाता है। मन बुद्धि से विचारण और विनिश्चय होता है तो यह मनसा कर्म है। वाणी से बोलने का कर्म वाचाकर्म है और जो क्रियाएं इन्द्रियों से सम्पादित की जाती है वह सभी कर्मणा कर्म की श्रेणी में आती है। मनुष्य दिन भर में सैकड़ों प्रकार के कर्म करता है यह सबके सब मनसःवाचा और कर्मणा प्रकार के ही होते हैं।

(ख) कर्म के तीन प्रकार :–

हम सब तीन प्रकार के कर्मो का सम्पादन करते है जिन्हें 1– कर्म 2– अकर्म तथा 3– विकर्म कहा जाता है। साधारणतः इन तीनों प्रकार के कर्मो को हमें समझना

चाहिए जो शास्त्र संगत कर्म है वे कर्म कहलाते है। कर्मो को जानकर उनका सम्यक् रूपेण क्रियान्वयन करना बहुत कठिन काम है। विद्वान, शास्त्रवेत्ता मनुष्य कर्मो के शास्त्र संगत स्वरूप को जानकर और उनके क्रियान्वयन का प्रयास करते हैं तथा वे दुष्कर्मो के सम्पादन से बचे रहते हैं। विकर्म शास्त्र के प्रतिकूल तथा सर्वथा त्याज्य कर्मो को कहा जाता है। विकर्मो का क्रियान्वयन तामसी गुण के प्रभाव से, अज्ञानतावश अधिक होता है। माता पिता, गुरूजनों की सेवा करना उनकी आज्ञा को मानना कर्म है उनकी सेवा न करना और उन्हें प्रताड़ित करना तथा कठोर वचनों से उन्हें दुःख पहुंचाना यह विकर्म का स्वरूप है। अकर्म उन कर्मो को कहते है जो परिणाम नहीं देते हैं।

अकर्मो का सम्पादन साधना की पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए व्यक्ति ही कर पाते हैं। इसलिए अकर्म के स्वरूप का ज्ञान और उसका सम्पादन बहुत दुर्लभ है। कोई व्यवसायी किसी वस्तु को उचित लाभ लेकर बेचता है तो वह कर्म का सम्पादन कर रहा है और अधिकतम लाभ लेकर बेंचता है तो उसके द्वारा किया जाने वाला कर्म विकृत स्वभाव का हो जाता है और यदि वह उस वस्तु में कुछ मिलावट कर देता है तो यह निषिद्ध कर्मो की श्रेणी में आ जाता है।

इसी प्रकार वह व्यवसायी यदि कुछ भी लाभ न लेकर अपनी वस्तुओं को बेंचता है तो यह निःस्वार्थ भाव से कर्म कर रहा है। इसे ही अकर्म कहा जाता है। इस प्रकार हमें प्रत्येक कर्म के तीनों स्वरूपों को जानना चाहिए। तीनों प्रकार के कर्म अर्थात अकर्म, विकर्म और कर्म का क्रियान्वयन मनसा, वाचा कर्मणा किया जाता है। यह सब क्रमिक होता है अर्थात् पहले कर्म के सम्बन्ध में विचाार होता है फिर वह वाणी से प्रकट होता है और तत्पश्चात् वह इन्द्रियों और शरीर के द्वारा क्रियान्वित होता है।

(ग) प्रत्येक कर्म का अंकन होता है :–

मनसा, वाचा, कर्मणा मनुष्य जो भी कर्म, अकर्म, विकर्म करता है उसका पूरी तरह से अंकन किया जाता है। परमात्मा की स्वतः स्वचालित प्रक्रिया के आधार पर ही प्रत्येक मनुष्य द्वारा किये गए प्रत्येक प्रकार के कर्मो को अंकित किया जाता है। अर्थात् हम जो मानसिक कर्म करते हैं वह भी अंकित हो जाता है। वाचिक कर्म करते हैं अथवा कायिक कर्म करते हैं वे सबके सब अंकित किये जाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जो कर्म किये जाते हैं उनका विधिवत् अंकन होता है। वैसे ही कर्म अकर्म और विकर्म का भी अंकन होता है। जैसे हमारे मन में किसी के अहित का विचार आ जाए और उसके

अहित का विनिश्चय हो जाए तो उसका अंकन हो जाएगा। वाणी से हम किसी को अपमानित कर दें अथवा अनुकूल और प्रतिकूल वचन कहें तो वह सबके सब अंकित किये जाते हैं। इसलिए मनुष्य के द्वारा किये गए समस्त कर्मो का अंकन होता है।

(घ) कर्म फल के अनुसार कर्मो के प्रकार :–

हम सभी के अनगिनत अर्थात् असंख्य जन्म हो चुके हैं उन असंख्य समस्त जन्मों को परमात्मा जानता है। उन जन्मों में हमने जो कुछ कर्म किये थे तथा अभी तक इस जन्म में जो भी कर्म हमने किये हैं। उनका संकलन संचित कर्म कहलाता है। वर्तमान में हम जो कर रहे हैं उसे क्रियमाण कर्म कहते हैं। हमारे जो संचित कर्म परिणाम देने को प्रस्तुत है उन्हें प्रारब्ध कर्म कहा जाता है और इसी के आधार पर मनुष्य को अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियां स्वतः प्राप्त होती रहती हैं। शास्त्रों में अनेक प्रकार से इसका वर्णन मिलता है। इस प्रसंग में इतना ही समझे कि हम जो कुछ भी कर्म वर्तमान में कर रहे हैं वह क्रियमाण दूसरे क्षण संचित कर्म हो जाता है और संचित कर्म की श्रेणी में आ जाता है। जैसे हमने अभी किसी का हित किया, उसका सहयोग किया तो हमारे संचित कर्म के खाते में लिख जाता है और यदि किसी को हमने अपमानित किया तो वह भी संचित कर्मो के रूप में श्रेणीबद्ध हो जाता है। किसी संचित कर्म का क्या परिणाम होगा ? यह परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार ही हमें प्राप्त होता है। इस व्यवस्था को सम्यक् रूप से जाना जा पाना असंभव है अर्थात् किस संचित कर्म का परिणाम हमें किस प्रकार परमात्मा देगा ? यह ज्ञान तथा इस व्यवस्था को जाना जा पाना संभव नहीं है।

(ङ) कल्याणप्रद कर्म क्या है ? (कल्याणकृत) :–

प्रत्येक मनुष्य हेतु दो प्रकार के दायित्व है। एक व्यक्तिगत और दूसरा सामूहिक। इस प्रकार व्यक्तिगत कल्याणप्रद कर्म तथा सामूहिक कल्याणप्रद कर्म और व्यक्तिगत अकल्याणप्रद कर्म तथा सामूहिक अकल्याणप्रद कर्म के रूप में कर्मो के चार भेद हो जाते है। कर्मो के इन चारों प्रकारों के अर्थ को समझे–

(एक) व्यक्तिगत कल्याणप्रद कर्म :–

मनुष्य जब अपने जीवन में शास्त्रों का अध्ययन करके कर्म विकर्म और अकर्म के अन्तर को जान जाता है और ऐसा जानकर वह किसी का अहित नहीं करता है परन्तु अपने कर्तव्य कर्मो का यथासंभव पालन करता है। ऐसी स्थिति में परिवार के सदस्यों से यथोचित व्यवहार करता है। प्रत्येक सदस्य को उचित ज्ञान देता है तथा उनका पालन

पोषण करके अपने कर्तव्य का पालन करता है जिससे उसे पुण्य लाभ प्राप्त होता है और शुभ संचित कर्म के परिणाम में उसे सुख प्राप्त होता है। चूंकि यह सब व्यक्तिगत कर्म है इस कारण यह सब व्यक्तिगत कल्याणप्रद कर्म कहे जाते हैं।

(दो) सामूहिक कल्याणप्रद कर्म :–

जब साधक साधन में अच्छी स्थिति प्राप्त कर लेता है तब उसकी अन्तरात्मा में समाज के हित, गरीबों, असहायों की सेवा तथा सामूहिक नैतिक उत्थान के लिए धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन, सत्संगों का आयोजन तथा शास्त्रों के अर्थो के प्रचार प्रसार जैसे कर्मो के सम्पादन के भाव स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। वह इनके लिए बहुत प्रयास करता है। इन समस्त कर्मो के सम्पादन में जो समस्याएं आती हैं वह परमात्मा के द्वारा अनायास ही समाप्त कर दी जाती हैं। जिनकी अंतरात्मा में दूसरों का हित है उनके लिए संसार में कोई भी कार्य असंभव नहीं है। सामूहिक कल्याणप्रद कर्मो के कर्ता को भारी मात्रा में पुण्य स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। जिस कार्य से समाज का, गरीबों का हित हो, भटके हुए लोगों को सत्य का ज्ञान हो, वह कार्य वस्तुतः बहुत पुण्य देने वाला होता है। ऐसे कर्मो को सामूहिक कल्याणप्रद कर्म कहा जाता है।

(तीन) व्यक्तिगत अकल्याणप्रद कर्म :–

मनुष्य जब धन सम्पत्ति पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति के लिए द्वेष, ईर्ष्या, कूटनीति, दूसरों का अहित करके उक्त वस्तुओं की प्राप्ति की चेष्टा, छल, कपट आदि से करता है तथा परिवार, सगे सम्बंधी, सम्पर्कित लोगों के मध्य कलह उत्पन्न करके बेईमानी का प्रयास करता है तो उसका यह कर्म व्यक्तिगत अकल्याणप्रद कर्म है। आज के समाज में इसकी बहुलता है। लोग व्यक्तिगत छोटे–छोटे लाभ के लिए छल कपट, भय, दम्भ, पाखण्ड आदि का आश्रय लेकर अनैतिक कार्य करते हैं। इन समस्त व्यक्तिगत अकल्याणप्रद कर्मो का परिणाम पाप कहा जाता है और संचित कर्मो के रूप में हमारे समक्ष प्रतिकूलताएं उत्पन्न करता है। दुःख सुख, सांसारिक बीमारियां इसी के कारण उत्पन्न हो जाती हैं।

(चार) सामूहिक अकल्याणप्रद कर्म :–

मनुष्य इसी सिद्धान्त से प्रभावित होकर अपने निजी स्वार्थ के लिए तथा अनेक प्रकार की सुखों की कल्पना से ऐसे कर्म करता है जिससे समाज में अनेक लोगों का

अहित होता है और अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसी सिद्धान्त से प्रभावित होकर नरसंहार करना, लोगों की अनायास और अकारण हत्या कर देना, समाज में ईष्या, द्वेष, घृणा उत्पन्न करना आदि सामूहिक अकल्याणप्रद कर्म के उदाहरण हैं। समाज में नशीले पदार्थो का सेवन करने की प्रेरणा, उनका प्रचार प्रसार, बिक्री आदि भी सामूहिक अकल्याणप्रद कर्मो के उदाहरण हैं इसके अतिरिक्त कोई कलाकार समाज में अनैतिक आचरण करता है जिससे समाज का नैतिक पतन होता है तथा अनायास ही अश्लीलता फैलती है। यह कर्म भी सामूहिक अकल्याणप्रद कर्म कहा जाता है। इन कर्मो का घोर, तथा भयंकर परिणाम मनुष्य को भुगतना पड़ता है और उसकी बड़ी ही दुर्गति होती है। इस पृथ्वी लोक में अनेक प्रकार के कष्ट सहता है और मृत्यु के पश्चात् अनेक नर्को में उसका गमन होता है तथा वहां भी अनेक यातनाएं सहता है इस प्रकार अकल्याणप्रद कर्म चाहे व्यक्तिगत हो अथवा सामूहिक हो मनुष्य को उसका आचरण कदापि नहीं करना चाहिए।

2– दुर्गति को प्राप्त होना क्या है ? :–

हम जब अकल्याणप्रद कर्म करते हैं तो हमारे संचित कर्म के खाते में पाप का संचय हो जाता है। पाप का संचय होने से पाप के परिणाम स्वरूप हमें दुःख, प्रतिकूलाएं, कष्ट, शारीरिक, मानसिक क्लेश स्वतः ही प्राप्त होने लगते हैं। यह परमात्मा की व्यवस्था निश्चित रूप से फलदायी है। परमात्मा की कर्म फलों की व्यवस्था बड़ी सटीक और पारदर्शी है। हमारे दुष्कर्मो अर्थात अकल्याणपद्र कर्मो का फल हमें अवश्य ही प्राप्त होता है। जब किसी प्रकार का दुःख प्राप्त होता है तब हमें कष्ट की अनुभूति होती है। जैसे हमें कोई शारीरिक कष्ट प्राप्त हो जाए तो हमें पीड़ा होती है। उससे स्वयं तो हम दुःखी ही होते और परिवार के सदस्य तथा सगे–सम्बंधी भी दुःखी होते हैं। यह एक प्रकार से हमारी दुर्गति ही है। हमारे पास जो धन है, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, पद आदि है वह भी विनिष्ट हो जाता है तो भी हमें मानसिक कष्ट होते हैं। यह भी हमारी दुर्गति ही है। अपमान, निन्दा आदि भी दुर्गति के प्रकार है।

3– दुर्गति को प्राप्त होना क्या है ? :–

मनुष्य जब कल्याणप्रद कर्म करता है चाहें वह व्यक्तिगत हो अथवा सामूहिक हों उसका परिणाम पुण्य के रूप में हमारे खाते में संचित होता जाता है। संचित कर्म हमें

सुख प्रदान करते हैं। उन कर्मो के परिणाम से हमें अनुकूलताएं स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। जैसे हम अपना धन किसी बैंक में जमा करते है तो उस धन का ब्याज अनायास ही बिना प्रयास के प्राप्त होता जाता है। धन तो संकलित रहता है और वह हमें परिणाम में लाभ देता है। वैसे ही पुण्य कर्मो का संचय हमें स्वतः सांसारिक सुख प्रदान करता है। यह सब क्रियाएं स्वतः और स्वाभाविक रूप से चलती रहती हैं। इसमें विघ्न नहीं हो सकता है। हमें सुख जब प्राप्त होता है तो हमें अनुकूलता का आभास होता है और हम प्रसन्न रहते हैं।

हम सभी सुख चाहते हैं और इसके लिए प्रयत्न भी करते हैं। प्रत्येक मनुष्य सुख की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार की क्रियाएं और चेष्टा आदि करता है जो भी सासांरिक क्रियाएं तथा चेष्टा करता है उसका मूल उद्देश्य धन, सम्पत्ति, पद, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा की प्राप्ति करता है, क्योंकि हमारे मन में यह भ्रान्ति है कि हमें इन वस्तुओं से सुख प्राप्त होगा। इन वस्तुओं से सुख प्राप्त होता प्रतीत भी होता है। संसार में यह अवधारणा बलवती भी हो गई कि धन सम्पत्ति, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा आदि से सुख की उपलब्धि होती है। सुख प्राप्त करना है तो उक्त वस्तुएं प्राप्त करनी पडेगी।

इस मिथ्या धारणा के चलते हम सब उक्त वस्तुओं की प्रयत्न करते रहते है। हमें चाहें जो भी कार्य करना पड़े हम धन, पद, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा आदि चाहते हैं। यही हमारी दुर्गति है और हम जब यह विनिश्चय कर लेते है कि इनमें सुख नहीं है तो हमें वास्तविक सुख की अनुभूति हो जाती है। यही दुर्गति को प्राप्त होना है। यदि धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य से सुख शन्ति आदि मिलती होती तो संसार के धनाढ्य लोग इसे अवश्य खरीद लेते परन्तु धनाढ्य लोग हमसे आपसे अधिक दुःखी हैं। इनके दुःख के प्रकार पृथक् हैं। यह ही दुर्गति है। हम जब व्यक्तिगत तथा सामूहिक कल्याणप्रद कार्य करते है तो हम दुर्गति को प्राप्त नहीं होते है।

4– कल्याणप्रद कर्म करने वाले का इस लोक परलोक में विनाश नहीं होता है (पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते) :–

पूर्व में व्यक्तिगत तथा सामूहिक कल्याणप्रद कर्मो का उल्लेख हो चुका है। कर्तव्य, कर्मो का आचरण, पूजा उपासना आदि करना तो व्यक्तिगत, गरीबों की सेवा, सहायता, नैतिक उत्थान के लिए किए गए यज्ञादिक शुभ कर्म और सत्संगों का आयोजन सामूहिक कल्याणप्रद कर्म हैं। इन दोनों से कल्याणप्रद कर्मो की अपेक्षा श्री

भगवान के स्मरण में खो जाना तथा संसार की स्मृति को विस्मृत करके मात्र श्री भगवान का अनन्य चिंतन करना सर्वोत्कृष्ट कल्याणप्रद कर्म है। इससे अधिक कल्याणप्रद कर्म अन्य कोई नहीं है, क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य ही श्री भगवान का अनन्य चिंतन स्मरण करके नित्ययुक्त हो जाना है। यह सर्वोत्कृष्ट कल्याणप्रद कर्म करने से व्यक्तिगत और सामूहिक कल्याणप्रद कर्मो का स्वतः ही अतिक्रमण हो जाता है। व्यक्तिगत कल्याणप्रद कर्म करने वाला, सामूहिक कल्याणप्रद कर्म करने वाला अथवा सर्वोत्कृष्ट कल्याणप्रद कर्म करने वाला किसी कारण वश यदि संसार के आकर्षण में, इन्द्रिय विषयों की प्रबलता में, माया की दुष्तरता के कारण अपने पथ से विमुख अर्थात् भ्रष्ट हो जाता है तो भी उसका इस लोक में और उस लोक में विनाश नहीं होता है। इस लोक का अर्थ पृथ्वीलोक से सम्बंधित है। उस लोक का अर्थ मृत्यु के पश्चात् अन्य लोक से है। श्री भगवान कह रहे है कि उस कल्याणकर्मी का इस लोक में विनाश नहीं होता है। चूंकि कल्याणप्रद कर्म करने वाला मनुष्य पुण्यों का अर्जन कर लेता है और पुण्य के प्रभाव से इस जगत में अनायास ही सुखों को प्राप्त करता है।

सुख प्राप्त करने के लिए सभी सामान्य लोग प्रयास करते हैं और कल्याणप्रद कर्मो को करने वाला पुण्यों को करके उनके परिणाम तथा प्रभाव से जगत में सुख को प्राप्त करता है। प्रयास से प्राप्त सुख पुण्यों के प्रभाव से प्राप्त सुख में अन्तर रहता है। प्रयास से प्राप्त सुखों को भोगने की लालसा रहती है और उन सुखों में अहंकार की उत्पत्ति हो जाती है। यही मनुष्य का इस लोक में विनाश होना है। पुण्य के अर्जन से प्राप्त सुखों के भोगने की इच्छा का विनाश रहता है और अहंकार से निवृत्ति रहती है। यह इस लोक में विनाश न होना है। सुखों को प्राप्त करने में, उनको भोगने में मनुष्य इस लोक में विनिष्ट हो जाते है और उनका परलोक भी खराब हो जाता है। इसका एक ही कारण है कि हम सुखों को प्राप्त करने में शास्त्र प्रतिकूल कर्म अवश्य करते हैं और सुख भोग में आसक्त होकर अनैतिक आचरण करने लगते हैं।

स्वतः प्राप्त सुख में भोग लिप्सा नहीं होती है और भोगने की इच्छा के अभाव में पाप भी नहीं बनता है। जिससे हमारा लोक परलोक खराब नहीं होता है। एक धनी मनुष्य को संसार के सभी सुख धन के प्रभाव से प्राप्त हो जाते हैं और वह भोगों में राग के कारण उसमें आसक्त हो जाता हैं। भोग में आसक्ति से अन्यत्र दुर्गुणों का जन्म स्वतः होता है। जैसे एक धनपति को अपने धन, पद, ऐश्वर्य आदि का स्वतः ही आभास हुआ करता है और वह अपने से अधिक धनिकों से द्वेष में लगा रहता है वह अपना

रहन सहन इतना आडम्बर युक्त कर लेता है तथा उसे दिखाने के लिए तरह–तरह के दम्भाचरण करता है। यह सबके सब पाप के हेतु होते हैं। इससे वह अन्तर्दुःखी रहता है और भोगों में आसक्ति से पापों की प्रधानता हो जाती है जो उसे नरकादिक योनियों में ढकेल देती है। यही उसका इस लोक में तथा परलोक में विनाश है।

इस सबके अतिरिक्त एक प्रख्यात संत के पास धन, सम्पदा, ऐश्वर्य, पद आदि सभी कुछ रहता है तथा उसे सर्वत्र सम्मान प्राप्त होता रहता है। परन्तु वह उसमें लिप्त नहीं होता है। वह भोगों को देखता है परन्तु उनके भोगने की इच्छा के अभाव के कारण उन्हें भोगना नहीं चाहता है जो संत भोगों में पड़ जाते हैं वह भी अपना इस लोक और परलोक में स्वतः ही विनाश कर लेते हैं। इससे उनका लोक और परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं, परन्तु जो संत सांसारिक आसक्तियों में नहीं फंसते हैं उनका न तो इह लोक बिगड़ता है और परलोक में भी उन्हें प्रतिकूलताओं का सामना नहीं करना पड़ता।

5– शुभकर्मी की दुर्गति तथा विनाश नहीं होता :–

श्री भगवान ने यह स्पष्ट आश्वासन दिया है कि शुभ कर्मो को करने वाले की कभी दुर्गति अथवा विनाश नहीं हो सकता है। वह अपने शुभ कर्मो के प्रभाव से पुण्यों का अर्जन कर लेता है और उसे पुण्यों के प्रभाव से स्वतः ही सुख की प्राप्ति हो जाती है। हम सभी के मन में अथवा एक साधक के मन में कभी–कभी अथवा बहुधा यह शंका उठती है कि हम जो शुभ कर्म कर रहे हैं उसका हमें फल प्राप्त होगा अथवा नहीं। इस शंका के समाधान के लिए श्री भगवान ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि जो मनुष्य साधक शुभ कर्मो को करता है वह अपने शुभ कर्मो के प्रभाव से सुख प्राप्त करता है।

अनायास किसी साधक के मन में यदि यह शंका है कि हमें इस लोक में सुख मिलेगा अथवा नहीं तथा मरने के पश्चात् हमारी अच्छी गति होगी अथवा नहीं इसी शंका के निवारण हेतु श्री भगवान ने कहा कि जो साधक शुभ कर्म करता है वह इस लोक में सुखी रहता है और परलोक में भी सुखी रहता है। इसी तथ्य को श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक में और स्पष्ट किया है।

6– योगभ्रष्ट पुण्यकर्मा श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करता है (प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्) :–

साधना पथ पर आरूढ साधक यदि पूर्णतः प्राप्त करने के पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तो वह उत्तम लोकों को सहज ही प्राप्त कर लेता है। यह तथ्य श्री भगवान कह रहे हैं। श्री भगवान इससे पूर्व योगभ्रष्ट सधक की दुर्गति न होने तथा उसका

विनाश न होने का तथ्य कह चुके हैं। अब यह कह रहे कि योग भ्रष्ट उत्तम लोकों को प्राप्त करता है। यह मृत्यु के उपरान्त होने वाली गति है जिसका वर्णन श्री भगवान ने किया है। यह उत्तम लोक क्या है ? और क्यों उनकी प्राप्ति होती है ? इस तथ्य को स्पष्ट समझना आवश्यक है।

(क) उत्तम लोक क्या है ? :–

हम सब जिस लोक में रहते है उससे पृथ्वी लोक कहा जाता है यह तथ्य हम सभी जानते हैं। हम सभी पृथ्वी लोक पर जन्म लेते है और बाल्यावस्था, युवा वस्था तथा पृथ्वी के बारे बहुत कुछ उपलब्ध ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। मानव पृथ्वी के बारे में सृष्टि के आरम्भ काल से ही जानने का उत्सुक रहा हैं तथा सृष्टि से आदि काल से जो कुछ जानकारी प्राप्त कर सका वह अनेक पुस्तकों में संकलित भी है। पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोक भी है खगोलविद् उन्हें ग्रह–उपग्रह आदि भी कहते हैं जिनके बारे में भी बहुत कुछ जानकारी एकत्र की जा चुकी है और की जा रही है। मंगल ग्रह तक पहुंचने के प्रयास मानव द्वारा किये जा रहे हैं। यह समस्त संरचना देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस ब्रह्माण्ड में अनेक लोक भी हैं।

यह तथ्य निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ब्रह्माण्ड में अनेक लोक है। यह सबका सब परमात्मा की विशिष्ट व्यवस्था है। जिसको जानने के लिए मनुष्य प्रयत्नशील है और पूर्व में भी रहा है तथा भविष्य में भी रहेगा। मनुष्य का ब्रह्मांड के लोकों के बारे में बहुत सीमित ज्ञान है क्योंकि उन तक पहुंचने के साधन बहुत सीमित हैं तथा मनुष्य का जीवन भी बहुत सीमित है। मनुष्य की मृत्यु हो जाती है वह कहां जाता है ? यह तथ्य हमे तथ्य हमें स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। वह कहां जाता है ? और उसे कौन सी शक्ति अपने साथ ले जाती है ? यह तथ्य हम देख नहीं पाते है। मनुष्य जब मरता है तब उसका स्थूल शरीर यहीं पर रहता है और वह शरीर निकल जाता है जिसके कारण हम चेतन रहते हैं। मृत्यु के पश्चात मनुष्य खो जाता है और एक रहस्यप्रद अंधकार में विलीन हो जाता है तथा हमें कभी नहीं मिलता है। इस कारण हमें उसके गमन के बारे में कोई जानकारी नहीं रहती है।

मनुष्य जब जन्म लेता है तब भी हमें यह ज्ञात नहीं हो पाता है कि वह किस लोक से आया है ? वह जन्म से पूर्व कहां था ? तथा मृत्यु के पश्चात् कहां जाएगा ? इन स्थितियों की स्पष्ट जानकारी न होने के कारण ही शास्त्रों में उल्लिखित तथ्यों को

हम स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं। श्री भगवान ने यह कहा कि मृत्यु के पश्चात् योग भ्रष्ट पुरूष उत्तम लोकों को प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह है कि मृत्यु के पश्चात् कोई उत्तम लोक है जिसकी व्यवस्था यहां से सुखद ओर उत्तम है। उन्हीं लोकों को स्वर्ग कहा जाता हैं मृत्यु के पश्चात् पुण्यकर्मी वहां जाता है। इस प्रकार उत्तम लोक स्वर्ग लोक है जिनकी अत्यंत सुखद स्थिति है और पृथ्वी लोक से अधिक सुख सुविधाओं से युक्त है। उसी के स्पष्टीकरण हेतु श्री भगवान ने श्रेष्ठ लोकों का उल्लेख किया है तथा पुण्यकर्मी योग भ्रष्ट को वहां जाने के लिए कहा है।

(ख) वहां बहुत समय तक रहता है (उषित्वा शाश्वतीः समा :) –

मनुष्य का पृथ्वी लोक पर जीवन सौ वर्ष तक माना जाता है। अधिकांश मनुष्य सौ वर्षों की आयु वर्तमान में पूरी नहीं कर पा रहे हैं तथा मध्यकाल में ही वे समाप्त हो जाते हैं। योग भ्रष्ट पुरूष मृत्यु के पश्चात स्वर्गादिक लोकों में चले जाते हैं। श्री भगवान उस योग भ्रष्ट को दीर्घकाल तक श्रेष्ठ लोकों में रहने के तथ्य को कह रहे हैं। इस तथ्य से योग भ्रष्ट के निवास की निश्चित अवधि को जाना जा पाना असंभव है। मनुष्य का जो जीवन काल है वह अल्प ही माना जाता है। देव सृष्टि के एक दिन को मनुष्य सृष्टि के छह मासों के तुल्य समझा जाता है। अर्थात् देवताओं का एक दिन मनुष्यों के छह महीनों के बराबर होता है। श्री भगवान देव लोक की बात कर रहे हैं। इस कारण मनुष्य की देव लोक की आयु यदि सौ वर्ष मान ली जाए तो योग भ्रष्ट पुरूष सौ दिव्य वर्षों तक स्वर्गादिक लोकों में निवास करता है। देव लोक का एक वर्ष मनुष्य लोक के तीन सौ साठ वर्ष तथा सौ वर्ष तीन लाख पांच हजार मानव वर्ष के बराबर होते हैं। श्री भगवान शाश्वतीः समाः कहकर बहुत वर्षों तक अर्थात् दीर्घकाल तक स्वर्गादिक लोकों में रहने का संकेत दे रहे हैं। योग भ्रष्ट पुरूष कितने काल तक श्रेष्ठ लोकों में अर्थात् स्वर्गादिक लोकों में निवास करता है। इसे स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार ही सब कुछ चलता है। हम इस संबंध में परमात्मा की व्यवस्था को नहीं जान सकते हैं। इस संबंध में जो सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं उसके अनुसार हमारे जितने पुण्य कर्म होते हैं वे स्वर्गादिक लोकों के भोगों के भोग के उपरांत धीरे–धीरे स्वतः ही क्षय होते जाते हैं। जैसे बैंक में संचित धन जब हम खर्च करते हैं तो वह धन एक न एक दिन अवश्य समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार हम संचित कर्मों के फलों का भोग करते हैं तब वह भोगे जाने के कारण धीरे धीरे समाप्त

हो जाते हैं और एक न एक दिन उनका विनाश हो जाता है। विनाश होने पर हमें श्रेष्ठ लोकों से अर्थात् स्वर्गादिक लोकों से पुनः पृथ्वी लोक में आना पड़ता है। इस प्रकार शाश्वती समाः का अर्थ उस काल तक है जब तक हमारे संचित पुण्य कर्मों का विनाश नहीं हो जाता।

7–फिर विशुद्ध श्रीमानों के गृहों में जन्मता है–

(शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभिजायते)

जगत में संपन्नता और विपन्नता पृथक्–पृथक् रहती है। अधिकांश लोग विपन्न अर्थात् गरीब हैं और संपन्न लोगों की संख्या बहुत कम है। एक बालक विपन्न परिवार में जन्म लेता है और दूसरा बालक संपन्न परिवार में उत्पन्न होता है तथा तीसरा बालक राजसी परिवार में उत्पन्न होता है। इस प्रकार सभी को उत्पन्न करने वाला तो एक ही है। वह परमात्मा है। यहां पर एक प्रश्न विचारणीय है? कि वह किसी को संपन्न और किसी को विपन्न परिवारों में क्यों उत्पन्न करता है ? वह परमात्मा तो हम सभी का पिता है। इस कारण पिता के रूप में वह सभी को संपन्न परिवार में उत्पन्न करने का प्रयास करेगा। विभिन्न परिवारों में उत्पन्न करने की घटना से यह स्पष्ट होता है कि संपन्नता और विपन्नता में उत्पन्न होने के पीछे कोई सिद्धांत अवश्य है। कुछ इसका आधार है। बहुत विचार करने पर यह अनुभव होता है कि उसके पीछे हमारे अपने कर्मों का आधारभूत सिद्धांत है। हम जैसे कर्म करते हैं वैसे ही परिवार में हमारी उत्पत्ति होती है।

उसी सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए ही श्री भगवान कहते हैं कि जो योग भ्रष्ट है वह अपने पूर्व जन्मों के कारण बहुत समय तक स्वर्गादिक लोकों में वास करता है और वह पुनः विशुद्ध श्रीमानों के गृहों में जन्मता है। विशुद्ध श्रीमानों की ओर संकेत करना यह स्पष्ट करता है कि योगभ्रष्ट उन परिवारों में उत्पन्न होता है जहां संपन्नता के साथ धार्मिकता भी होती है। धर्म के आश्रय से जो धन उत्पन्न होता है वह शुद्ध होता है और अधर्म के आश्रय के माध्यम से जो धन उत्पन्न होता है वह अशुद्ध होता है। संसार में अशुद्ध कर्मों से प्राप्त धन के संचय से जो धनपति बन जाते हैं वे विशुद्ध श्रीमान नहीं है। वे अशुद्ध असुर हैं। इसी कारण श्री भगवान को **शुचिनाम श्रीमताम्** पदों का प्रयोग करना पड़ा। उनके कथन का संकेत धर्म संगत धन के उपार्जन से विकसित

हुए धनपतियों की ओर है। यहां पर धन तो होता है परंतु धर्म के कार्य भी साथ–साथ चलते हैं। अर्थात् उस संचित धन का उपयोग धार्मिक अनुष्ठानों में भी होता है। ऐसे श्री मानों के गृहों में योगभ्रष्ट का जन्म होता है।

श्री भगवान ने इस प्रकार योग भ्रष्ट के जन्म की दुर्लभता को स्पष्ट किया है तथा और अधिक स्पष्टीकरण के लिए श्रीभगवान अग्रिम श्लोक का कथन कर रहे हैं।

मूल श्लोक–42

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।

पदच्छेद–

अथवा, योगिनाम्, एव, कुले, भवति, धीमताम्,
एतत्, हि, दुर्लभतरम्, लोके, जन्म, यत्, ईदृशम्।।

भावार्थ– अथवा योग भ्रष्ट बुद्धिमान योगियों के कुल में ही जन्मता है, ऐसा जो ये जन्म है जगत में अत्यंत दुर्लभ है।

व्याख्या– योगभ्रष्ट पुरुष के संबंध में श्रीभगवान ने पूर्व में यह कहा था कि कल्याणप्रद कर्म करने वाले योगभ्रष्ट का इस लोक तथा परलोक में विनाश नहीं होता है तथा मृत्यु के पश्चात् वह बहुत वर्षों तक श्रेष्ठ लोकों में निवास करता है और फिर विशुद्ध श्री मानव के घरों में जन्म लेता है। श्री भगवान ने योग भ्रष्ट पुरूष के संबंध में उक्त तथ्य कहा है कि अर्जुन के द्वारा प्रस्तुत प्रश्न का निराकरण किया है। अब वह योगभ्रष्ट पुरूष की दूसरी गति के बारे में यह कह रहे हैं तथा अथवा पद से उसे वर्णित करना चाह रहे हैं। श्री भगवान का स्पष्ट कथन है कि योग भ्रष्ट पूर्व वर्णित व्यवस्था में जन्म लेता है। अथवा बुद्धिमान योगियों के घर में जन्म ले लेता है। श्री भगवान द्वारा कहे गए उक्त शब्दों का अर्थ समझिए–

1– अथवा योग भ्रष्ट बुद्धिमान योगियों के घर में ही जन्मता है–

(अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्)

योग भ्रष्ट वह साधक है, जो परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग पर चलकर परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता है परंतु संसार के आकर्षण में फंसकर वह परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग से विमुख हो जाता है और इसी मध्य उसकी मृत्यु हो जाती है। श्री भगवान कह रहे हैं कि ऐसे योग भ्रष्ट पुरुष की दूसरी गति बुद्धिमान योगियों के घर में

जन्म लेने की होती है। वह इस शरीर को छोड़कर तत्काल ही बुद्धिमान योगियों के घर में जन्म ग्रहण कर लेता है। बुद्धिमान योगी कौन है? उसे समझना आवश्यक है–

(क)– बुद्धिमान योगी कौन है?–

बुद्धिमान योगी विशिष्ट लक्षणों तथा गुणों से संपन्न होता है। उसके गुण, लक्षण, आचरण ही उसकी परख हैं। प्रत्येक व्यक्ति के गुणों से उसकी परख होती है। उसी प्रकार बुद्धिमान योगी के गुणों से ही उसकी परख होती है। बुद्धिमान योगी के विशिष्ट गुणों का अवलोकन कीजिए–

(एक)– रज, तम गुणों का त्याग करके सत्वगुण में स्थित रहता हैं :–

बुद्धिमान योगी रजोगुण की वृत्तियों, लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों के आरंभ करने, अशांति तथा तमोगुण की प्रवृत्ति अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद तथा मोह का त्याग कर देता है। उसमें संसारिक वस्तुओं के प्रति लोभ का अभाव स्वतः हो जाता है। संसारिक कर्मों के प्रति रूझान समाप्त हो जाता है। इस कारण वह नवीन कर्मों का आरंभ ही नहीं करता है। लोभ के समापन, संसारिक कर्मों के प्रारंभ न करने के कारण उसमें अशांति का भी अभाव हो जाता है तथा बुद्धिमान योगी पूर्ण शांति चित्त रहता है। संसारिक वस्तुओं की आवश्यकता की प्रतीति उसे नहीं होती है। तमोगुण की जितनी वृत्तियां होती हैं वे उसमें रंच मात्र भी नहीं रहती हैं। सत्व गुण की वृत्ति के रूप में प्रकाश का उदय हो जाता है। समस्त इन्द्रियों में चैतन्यता रहती है। बुद्धिमान योगी सत्व गुण के प्रति भी आकर्षित नहीं होता है तथा उसमें आसक्ति का अभाव सा प्रतीत होता है।

(दो)–श्री भगवान का निरंतर स्मरण करता हैः– बुद्धिमान योगी श्री भगवान के निरंतर स्मरण का प्रयास करता है। जैसे एक सामान्य व्यक्ति संसार के स्मरण में खोया रहता है और संसार के विषयों आदि का स्वतः स्मरण करता है। वैसे ही बुद्धिमान योगी श्री भगवान के नाम, रूप ऐश्वर्य गुणों में निरंतर खोया रहता है। उसकी यह स्थिति अनायास ही रहती है। संसार का स्मरण भी हम सबको अनायास, स्वतः स्वाभाविक रूप से होता है। वैसे ही योगी को श्री भगवान का स्मरण स्वतः और स्वाभाविक रूप से होता रहता है। यह उसकी विशिष्टता है। श्रीभगवान के निरंतर स्मरण की स्थिति हमें प्रयास से प्राप्त करनी पड़ती है। ऐसे ही नहीं आती है। जब स्थिति प्राप्त हो जाती है तो उसका शीघ्र पतन नहीं होता है। स्मरण स्वतः ही रहता है। बुद्धिमान योगी को यदि

कोई संसार की ओर खींचने का प्रयास करता है तो वह संसार में असहजता का आभास करता है। इस प्रकार बुद्धिमान योगी का श्रीभगवान का निरंतर स्मरण उसका एक विशिष्ट गुण हैं।

(तीन)–अहंकार रहित हो जाता है– बुद्धिमान योगी अहंकार से मुक्त हो जाता है। अहंकार से निवृत्ति सहजता से नहीं होती है। मनुष्य को अपने अस्तित्त्व को मिथ्याभास अहंकार के कारण ही होता है। हम वस्तुतः वह नहीं हैं जिसका हम आभास करते हैं। हम सब अपनी सामाजिक स्थिति का निरंतर आभास करते रहते हैं। यह तथ्य ही अहंकार है। हम अपनी वास्तविक स्थिति का जो आभास करते हैं वह अहंकार से निवृत स्थिति है और हम जो अपनी स्थिति का आभास करते हैं वह वस्तुतः भ्रम से करते हैं। यह अहंकार के कारण रहता है। अहंकार से जो व्यक्ति निवृत्त हो जाता है वह सुख–दुख, लाभ–हानि, मान–अपमान और जय–पराजय में सम हो जाता है। यह अहंकार से निवृत मनुष्य की परख है। बुद्धिमान योगी भी अहंकार से निवृत होकर उक्त तथ्यों के प्रति समभाव वाला हो जाता है। अहंकार से निवृत्ति बड़े प्रयत्न से होती है। सहजता से नहीं होती है, क्योंकि हमें अपने सामाजिक स्थिति का सदैव आभास रहता है। इस आभास के कारण हम अहंकार से निवृत नहीं हो पाते हैं।

(चार)–स्पृहारहित होता है :–

हम सभी को अपने जीवन में कुछ न कुछ संसारिक वस्तुओं की कमी का आभास प्रत्येक समय रहता है। मनुष्य में जो रजोगुण की प्रवृत्ति है वह ऐसा आभास करने को बाध्य करती है। हमें संसार में जितना अधिक धन, संपदा, पद, ऐश्वर्य पद, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त होती है तब हम और अधिक प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। यह और अधिक प्राप्ति की आकांक्षा यह स्पष्ट करती है कि हमें जो धन प्राप्त है वह अभी अपूर्ण है। हमें जो संपदा प्राप्त हुई है वह भी अपूर्ण है। हमें जो पद प्राप्त हुआ है वह लघु है, महत्वहीन है। हमें और प्रतिष्ठा, सम्मान प्राप्त हो यह भाव यह स्पष्ट करता है कि हमें सम्मान और प्रतिष्ठा की और अधिक आवश्यकता है। संसारिक वस्तुओं की और अधिक आवश्यकता का आभास ही स्पृहा कहा जाता है। प्रत्येक मनुष्य में स्पृहा रहती है। इस कारण ही उसे प्रत्येक स्थिति, वस्तु, पदार्थ में कमी का आभास रहता है। बुद्धिमान योगी में स्पृहा का सर्वथा अभाव हो जाता है। उसे संसार की आवश्यकता की प्रतीति नहीं होती है और वह समाप्त हो जाती है जो भी वस्तुएं, पदार्थ, व्यक्ति उपलब्ध हैं वे पर्याप्त

हैं ऐसा भाव दृढ़ हो जाता है। इस भाव का दृढ होना ही स्पृहा रहित होना है। साधारण मनुष्यों में हम सभी इस भाव से ओतप्रोत रहते हैं कि हमें कुछ संसारिक वस्तुओं का अभाव है, कुछ कमी है यह स्पृहा का भाव है जो शीघ्र समाप्त नहीं होता है। बुद्धिमान योगी में इस भाव का सर्वथा अभाव होकर संतुष्टि का अभाव रहता है।

(पांच)– कर्म–अकर्म–विकर्म को यथावत् जानता है :–

कर्म अर्थात् शास्त्र संगत कर्म, अकर्म अर्थात् फल से रहित कर्म, विकर्म अर्थात् शास्त्र प्रतिकूल कर्म। इन तीनों के अंतर को जाना जा पाना सहज नहीं है। तामसी मनुष्य विकर्म को कर्म समझकर उनका क्रियान्वयन करते रहते हैं और राजसी मनुष्य संशय ग्रस्त रहकर इन तीनों के अंतर के विषय में संज्ञान नहीं रहते हैं। सात्विक मनुष्य जब इन तीनों के अंतर को जान जाता है तो वह शास्त्र संगत कर्मों के आचरण का प्रयास करता है तथा ऐसे कर्मों का संपादन करता है जिनमें निष्काम भावना रहती है। ये स्थिति बुद्धिमान योगी की होती है और वह कर्म, अकर्म, विकर्म के अंतर को जान लेता है तथा कर्मों के आचरण में ही निरंतर संलग्न रहता है।

(छः)–सबका सुहृद रहता है : बुद्धिमान योगी अपने संपर्कित तथा असंपर्कित सभी लोगों का सुहृद अर्थात् उनका हित चाहने वाला होता है। वह समस्त जगत को परमात्मा का स्वरूप मानकर स्थित रहता है। वस्तुतः उस एक परमात्मा का अंश सभी जीवों में व्याप्त है। यह तथ्य लगभग सभी लोग जानते हैं परंतु यह तथ्य जानकर भी उसका पालन करना कठिन है। हम जानते हैं कि समस्त जीवों में परमात्मा का अंश वैसा ही होता है जैसा हमारे में है। इस भाव से हम सबके प्रति सहधर्मी हैं। हम सभी में एकरूपता है। परंतु समाज में विसमताएं क्यों हैं? कलह, लड़ाई–झगड़ा क्यों होते हैं? यही अज्ञानता है। यह तथ्य जानकर उसका यथावत् आचरण करना बुद्धिमान योगी का लक्षण है। इस कारण वह सबका सुहृद हो जाता है और सबका प्रिय हो जाता है और उसके भी सभी प्रिय होते हैं।

(सात)–तत्त्वज्ञ होता है :–

बुद्धिमान योगी का विशिष्ट गुण है कि वह तत्त्वज्ञ होता है अर्थात तत्त्व को प्राप्त कर चुका होता है और उसमें स्थित रहता है। श्री भगवान ने बुद्धिमान योगी की इसी स्थिति के प्रकटीकरण हेतु बुद्धिमान शब्द का अर्थात् श्रीमताम् पद का प्रयोग किया है।

ये साधक की सर्वोच्च स्थिति है तथा इस स्थिति को प्राप्त करना मनुष्य का एकमात्र परम उद्देश्य है। बुद्धिमान योगी तत्त्वज्ञ होता है और जीवन रहते जीवन मुक्त होता है।

2–योगभ्रष्ट का बुद्धिमान योगी के घर में जन्म लेना क्या है? :–

योगभ्रष्ट योगी अपने जीवनकाल में परमात्मा के साक्षात्कार का प्रयास करता है। संसार के आकर्षण में फंसकर अथवा माया की प्रबलता के कारण वह परमात्मा का साक्षात्कार करने में असफल रहता है। उक्त असफलता में उसकी मृत्यु हो जाती है। परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार उसे बुद्धिमान योगी, जिसका वर्णन उपरोक्त प्रकार से हुआ के घर में जन्म प्राप्त हो जाता है। बुद्धिमान योगियों के कुछ परिवार सदैव पृथ्वी लोक पर रहते हैं जिसमें प्रत्येक सदस्य ही पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण परमात्मा प्राप्ति की साधना में सदैव लगा रहता है। ये विशिष्ट परिवार है जो परम्परा से चलते रहते हैं। आपने आभास किया होगा कि किसी परिवार का मुखिया यदि आस्तिक होता है तो परिवार के अधिकांश सदस्यों पर उसकी आस्तिकता का प्रभाव रहता है।

इसी प्रकार बुद्धिमान योगियों के परिवार रहते हैं जिनमें योग भ्रष्ट अपनी मृत्यु के पश्चात स्वर्गादिक लोकों को न पाकर बुद्धिमान योगियों के परिवार में जन्म ग्रहण कर लेता है। परमात्मा की यह व्यवस्था बड़ी ही विषद है तथा रहस्यप्रद एवं गोपनीय हैं, जिसे कोई नहीं जान सकता है, इस गोपनीय एवं रहस्यप्रद व्यवस्था को जाना जा पाना असंभव ही है। इस कारण हमें सदैव ही परमात्मा की प्राप्ति के प्रयास में लगे रहना चाहिए। हम सब समस्त प्रकार के संसारिक आसक्तियुक्त कर्मों का परित्याग करके शास्त्रविहीत कर्मों के आचरण से परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए और जब हम परमात्मा की प्राप्ति के प्रयास में ही लगे रहते है तो हमें निश्चित ही समय के साथ उसकी अनुभूति हो जाती है और यदि नहीं होती है तो हमारा बुद्धिमान योगियों के परिवार में जन्म लेना निश्चित है। यह सब स्वतः ही होता है और हमें परमात्मा प्राप्ति का अवसर पुनः उपलब्ध कराया जाता है।

3– ऐसा जन्म जगत में दुर्लभ है (एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्) : –

संसार में मनुष्य जन्म तो अत्यंत दुर्लभ माना जाता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि पहले तो मानव जन्म दुर्लभ है, मानव जन्म में नर का जन्म दुर्लभ है फिर उसमें ब्राह्मण का जन्म भी दुर्लभ है तथा ब्राह्मण का वैदिक धर्म का अनुयायी होना बहुत ही दुर्लभ है। यह सब प्राप्त होने पर यदि मनुष्य आत्म कल्याण के लिए अर्थात् अपनी

मुक्ति के लिए प्रयास न करे तो वह आत्मघाती है। स्वयं ही अपना शत्रु है। आचार्य शंकर के मतानुसार वेदों के धर्म के अनुयायी ब्राह्मण मनुष्य का जन्म बहुत ही दुर्लभ है। श्री भगवान कह रहे हैं कि योग भ्रष्ट पुरुष बुद्धिमान योगियों के घर में जन्म लेता है यह भी अत्यंत दुर्लभ है। यह दुर्लभता विशिष्ट प्रकार की है। जन्म की दुर्लभता की कई स्थितियां है। कैसे श्री भगवान के अवतरण स्थल अयोध्या, मथुरा में जन्म ग्रहण कर लेना यह भी अत्यंत दुर्लभ है। श्री भगवान का जिन स्थानों में प्राकट्य हुआ है वे स्थान दुर्लभ हैं, क्योंकि वहां का वातावरण आदि भी श्रीभगवान के अवतरण के कारण पवित्र हैं। उसके पश्चात जिन स्थलों में श्री भगवान का लीला विहार हुआ है उन स्थानों अर्थात् वृंदावन, पंचवटी, चित्रकूट, द्वारिका आदि में भी जन्म बहुत दुर्लभ है।

इसके पश्चात् श्रेष्ठ कुल अर्थात ब्राह्मण वर्ण में जन्म भी दुर्लभ है क्यों कि ब्राह्मण स्वभावतः ही आस्तिक भाव को धारण करने वाले होते हैं। उनके घर में जन्म से आस्तिक भाव का स्वतः ही उदय हो जाता है। जिन परिवारों में श्री भगवान की पूजा उपासना कीर्तन, भजन, सत्संग आदि कार्यक्रम चलते रहते हैं वहां भी जन्म बड़ा दुर्लभ होता है क्योंकि इससे श्री भगवान का पूजा उपासना के प्रति श्रद्धा स्वतः उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त तीर्थस्थलों में भी जन्म लेना अत्यंत दुर्लभ माना जाता है। तीर्थ स्थलों में नैमिषारण्य, बद्रीनाथ, जगन्नाथपुरी, वाराणसी आदि तीर्थों में भी जन्म प्राप्त होना कठिन ही है। इन स्थानों पर जन्म लेने से ही मनुष्य स्वतः आस्तिक भाव से ओत प्रोत रहता है। बहुत प्रकाण्ड विद्वानों, धनवानों, राजा–महाराजाओं के घरों में भी जन्म लेना भी दुर्लभ माना जाता है। यह पुण्यों के संचित होने पर ही संभव होता है। जिस प्रकार की दुर्लभता का वर्णन उपरोक्त प्रकार से हुआ है उन सबसे दुर्लभ जन्म बुद्धिमान योगियों के घरों में जन्म लेना है। उसकी दुर्लभ्रता परमात्मा प्राप्ति के साधन के कारण ही है क्योंकि जिस घर में परमात्मा की प्राप्ति का साधन है वह घर तो साक्षात् स्वर्ग से भी बढ़कर है क्योंकि स्वर्ग में परमात्मा की प्राप्ति का साधन करने का अवसर नहीं प्राप्त होता है। परमात्मा की प्राप्ति का साधन और उसे प्राप्त कर लेना दोनों ही प्रकार के लाभ दुर्लभ योगियों के घरों में ही उपलब्ध हो सकते हैं। इस प्रकार के जन्म को श्रीभगवान दुर्लभ बता रहे हैं। वस्तुतः बुद्धिमान योगियों के घरों में जन्म लेना सर्वाधिक दुर्लभ है।

योगभ्रष्ट पुरुष दूसरे जन्म में किस प्रकार से साधन में लगकर परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। अग्रिम तीन श्लोकों में यह भाव देखें।

मूल श्लोक – 43

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौवदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरूनन्दन।।

पदच्छेद –

तत्र, तम्, बुद्धिसंयोगम्, लभते, पौर्वदेहिकम्,
यतते, च, ततः, भूयः, संसिद्धौ, कुरूनन्दन।।

मूल श्लोक – 44

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।

पदच्छेद –

पूर्वाभ्यासेन, तेन, एव, ह्रियते, अवशः, अपि सः,
जिज्ञासुः, अपि, योगस्य, शब्दब्रह्म, अतिवर्तते।

मूल श्लोक – 45

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

पदच्छेद –

प्रयत्नात्, यतमानः, तु, योगी, संशुद्धकिल्बषः,
अनेकजन्मसंसिद्धः, ततः, याति, पराम्, गतिम्।

भावार्थ : हे अर्जुन ! वह जहां जन्म लेता है, वहां उसे पूर्व जन्म की बुद्धि का संयोग अर्जित हो जाता है तथा उससे सिद्धि के लिए पुनः प्रयत्नशील होता है। योग भ्रष्ट अवश ही वह नित्य अभ्यास के कारण लक्ष्य की ओर आकर्षित होता है, कारण कि योग को जानने की इच्छा वाला भी शब्द ब्रह्म (शास्त्रों) का अतिक्रण करता है। परन्तु योगी यदि यत्नशील है, वह पापों से शुद्ध है, अनेक जन्मों में सिद्ध होकर उस परम गति को प्राप्त करता है।

व्याख्या : मनुष्य जब साधना करता है तो उसमें विशेष स्फूर्ति प्रकट होने लगती है। जैसे कोई बीमार व्यक्ति उचित औधषि ग्रहण करता है तो उसके शरीर को निरोगता स्वतः ही प्राप्त होने लगती है और बीमारी का समापन होने का आभास होता है। हम

सबने यह तथ्य आभास किया होगा कि जैसे–जैसे बीमारी हटती है वैसे–वैसे शरीर में चैतन्यता आती जाती है यह औषधि का प्रभाव है। इसी प्रकार जब साधक साधना करता है (तामसी एवं राजसी साधना छोड़कर) तब उसके शरीर में सत्व गुण का प्रभाव पड़ता है और शरीर, इन्द्रियां आदि ने चैतन्यता बढती जाती है वह प्रकट प्रतीत होती है इसे साधना का ही प्रभाव जानना चाहिए। औषधि के तरह से साधना शरीर को प्रभावित करती है। औषधि के प्रभाव से शरीर में चैतन्यता बढ़ती है और कार्य करने की शक्ति पूरी तरह से प्राप्त होती है। साधना के प्रभाव मनुष्य के दुर्गुण स्वतः ही समाप्त होने लगते है और जैसे दर्पण पर मल के हटने से स्वच्छता आती है वैसे ही शरीर स्वच्छ हो जाता है। यह तथ्य साधक अनुभव करता है। हम सभी जब साधना का आरम्भ करेंगे तथा उसमें डूबेंगे तो हमें भी ऐसा आभास होगा।

परमात्मा के साक्षात्कार के लिए जो कर्मयोग, ज्ञान योग, बुद्धियोग आदि साधनों के माध्यम से जो साधना होती है, की जाती है उसका स्पष्ट प्रभाव शरीर पर रहता है। परमात्मा की अनुभूति के लिए की जाने वाली साधना उच्च कोटि की है। सबसे उत्कृष्ट है उससे श्रेष्ठ कोई साधना नहीं होती है। यह साधना हजारों मनुष्यों में से कोई एक साधक ही करता है। अन्य प्रकार की साधना जैसे तामसी तांत्रिक साधना, देवी देवताओं की पूजा उपासना आदि परमात्मा की प्राप्त रूपी साधना की समानता नहीं कर सकती है। जब परमात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं तब वह परमात्मा भी हमारी ओर आकर्षित होती है। यह आकर्षण साधना की सिद्धि के कारण होता है। परमात्मा की अनुभूति के लिए की जाने वाली साधना से समस्त प्रकार की यौगिक क्रियाएं, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदि स्वतः ही होते रहते है। जैसे एक शिशु लेटे, लेटे हाथ पैर चलाकर स्वतः ही व्यायाम कर लेता है और उसे अन्य व्यायाम की आवश्यकता नहीं रहती है परन्तु माता उसको अभ्यंग आदि से व्यायाम कराती है। वैसे ही परमात्मा की अनुभूति के प्रयास वाले साधक की समस्त यौगिक क्रियाएं स्वतः हो जाती है और शेष नहीं रहती हैं। सब क्रियाऐ वह परमात्मा स्वतः ही अनायास करा देता है।

परमात्मा अपने प्रिय हेतु माता के रूप में प्रकट रहता है। इस प्रकार भगवान की अनुभूति का प्रबल प्रयास करने वाले उत्कृष्ट साधक को व्यायाम, योगासन, प्राणायाम आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। यदि वह उक्त क्रियाएं नहीं भी करता है तो भी परमात्मा के स्मरण से उसमें विशिष्ट स्वस्थता और चैतन्यता रहती है। उसके शरीर में स्फूर्ति स्वतः प्रकट होती है, जिसके लिए श्री भगवान ने अत्यंतिक सुख के आभास

करने की बात कही थी। हम यदि संसार में रहते हैं तो संसार में किये जाने वाली चेष्टाओं और क्रियाओं के कारण हम दूषित हो जाते है और हमें व्यायाम प्राणायाम आदि की आवश्यकता पड़ती है परन्तु परमात्मा के नित्य स्मरण से इस प्रकार की क्रियाओं की आवश्यकता ही समाप्त हो जाती है और परमात्मा की अनुभूति करने वाला साधक विशिष्ट हो जाता है।

साधना के पथ पर चलते चलते साधक यदि योग भ्रष्ट भी हो जावे तो भी उसकी साधना श्रम का संकलन उसके शरीर में रहता है जैसे हमें परिश्रम से धन सम्पदा आदि प्राप्त हो जावे तो संकलित धन सम्पदा हमारे पास रहती है। वैसे ही ऐश्वर्य, ख्याति, प्रतिष्ठा आदि का संकलन जब हो जाता है तब भी वह हमारे पास रहते है। चाहें वह कुछ काल के लिए ही हो। यह संकलन हमारे श्रम का परिणाम है। जैसे हम किसी के धन को, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा आदि को देखकर यह अनुभव करने लगते हैं कि उस व्यक्ति ने जिसने उक्त वस्तुएं एकत्रित की है बहुत श्रम किया होगा। उसका श्रम ही धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, पद के रूप में परिवर्तित हो गया है जो प्रतीत हो रहा है प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है।

वैसे ही साधक का साधना रूपी श्रम उसके शरीर से, व्यवहार से, आचरण, वाणी से प्रकट होता है तथा उसका विभिन्न प्रकार से प्रकटीकरण होता है और यह भी स्पष्ट होता है कि साधक किस स्तर का है ? परमात्मा का साक्षात्कार किये गए साधकों के शरीर से विशिष्ट प्रकार की भाव भंगिमा स्वतः प्रकट होती है। इसका प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है जैसे एक सूर्य प्रकट होकर पृथ्वी का अंधकार हर लेता है उसी प्रकार एक विशिष्ट साधक जिसने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है वह जहां भी रहता है वहां पर अज्ञान रूपी अंधकार स्वतः ही भाग जाता है और सम्पर्कित लोगों को भी उसकी साधना की उसकी स्थिति की विशेष अनुभूति होती है। यह साधना का ही प्रभाव है। सिद्ध की साधना प्रकट रहती है, प्रत्यक्ष होती है जिसका हम प्रत्यक्ष आभास भी कर सकते है। यह समस्त वर्णन उक्त श्लोकों के अर्थ को समझने हेतु किया गया है अब उक्त श्लोकों के अर्थ का क्रमशः अवलोकन कीजिए–

1– पूर्व जन्म की बुद्धि का संयोग क्या है ?

(तत्र तं बुद्धि संयोगं लभते पौवदेहिकम):–

योगभ्रष्ट पुरूष पूर्व जन्म में परमात्मा साक्षात्कार हेतु जो प्रयत्न साधन करता है

वह संचित होता जाता है। उसका प्रभाव उस जन्म में उसके शरीर में प्रकट रहता है। उसे देखा जा सकता है और उसकी क्रियाओं से उसकी स्पष्ट प्रतीति भी होती हैं योग भ्रष्ट पुरूष के द्वारा परमात्मा के साक्षात्कार का जो भी साधन किया जाता है वह साधन शरीर में रहता है। मन बुद्धि में संस्कार के रूप में संकलित हो जाता है। जब साधक की मृत्यु हो जाती है तो उसका सूक्ष्म शरीर जिसमें मन बुद्धि भी होती है। दूसरा शरीर धारण करने के लिए माता के गर्भ में पहुंचता है इस प्रकार पूर्व जन्म की साधना जो मन और बुद्धि में संस्कार के रूप में संकलित रहती है वह अपना प्रभाव दिखाती है। यह तथ्य विचित्र है रहस्यप्रद है जिसे जाना जा पाना असंभव है। पूर्व जन्म की साधना का संयोग इस जन्म की बुद्धि में होने लगता है। यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझे जैसे हम साधना करते हैं तो वह हमारी बुद्धि में संकलित हो जाती है और वही बुद्धि दूसरे शरीर में जब जाती है तब पूर्व जन्म की बुद्धि का संयोग इस जन्म की बुद्धि से होता है तथा पूर्व जन्म की साधना का प्रभाव दिखता है प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। यह तथ्य संचित कर्मफल की तरह से है। जैसे पूर्व जन्म के संचित दुष्कर्म और सत्कर्म हमें पाप पुण्य के परिणाम के रूप में प्राप्त हो जाते है उसकी प्रकार परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार जो साधना पूर्व जन्म में की गई थी वह सूक्ष्म रूप से बुद्धि में संकलित रहती है और इस जन्म में वह स्वतः ही प्रकट हो जाती है। जैसे हम जगत में कोई विषय सीखते हैं और उस सीखने की स्मृति बुद्धि में संकलित हो जाती है और बुद्धि से मन में प्रकट होती है। इस सीखने की प्रक्रिया में जब कोई व्यवधान आता है तो हमें पुनः यदि सीखने का अवसर मिलता है तो हम पूर्व जानकारी के आधार पर उस विषय को, उस विधा को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते है। हमें इसमें प्रयास कम करना पड़ता है। प्रयास करने पर हमें पूर्व में सीखे गए ज्ञान के आधार पर पुनः प्रयास में पूर्णतः प्राप्त हो जाती है। यह पूर्व जन्म की बुद्धि का संयोग है।

2– संयोग का सिद्धान्त :–

सृष्टि में संयोग तथा वियोग दो प्रमुख स्थितियां है और वे स्थितियां परमात्मा की व्यवस्था में चला करती है जैसे हमारे परिवार के सदस्य है वे संयोग के अधीन ही माता पिता, स्त्री–पुरूष के रूप में बनते हैं। यह सबका सब पूर्व जन्मों की व्यवस्था के आधार पर ही चला करता है। हमारा इससे कब मिलन होगा? यह निश्चित परमात्मा का कार्य है और उस विनिश्चय के आधार पर वह व्यक्ति हमसे स्वतः ही जुड़ता है। यह कार्य हम नहीं करते है, यह कार्य परमात्मा तथा उसकी रचनात्मक शक्ति प्रकृति ही व्यवस्था करती है। उसमें हमारा कोई वश नहीं है हम परवश है तथा परवश होकर हमें उन

व्यक्तियों से संयोग रखना पड़ता है। इस प्रकार वह परमात्मा ही हमारे समस्त प्रकार के सांसारिक संयोगों की व्यवस्था करने वाला है।

हमारे सगे सम्बंधियों का संयोग तथा कार्य क्षेत्र में लगे व्यक्तियों का संयोग हमें प्राप्त होता है। वह सबका सब परमात्मा की व्यवस्था से ही प्रकट रहता है। व्यक्ति की तरह वस्तुओं के संयोग भी परमात्मा ही उत्पन्न करता है। इसमें हमारा श्रम अर्थात् कर्म प्रमुख आधार है। मुख्यतः मनुष्य तथा वस्तुओं का संयोग का उपार्जन हमारे कर्मो के आधार पर ही होता है। हम जैसे जैसे कर्म करते जाते हैं वैसे वैसे ही संयोग भी उत्पन्न होते जाते हैं। उसी प्रकार से बुद्धि का संयोग हमारी पूर्व कृत साधना के आधार पर ही हमें इस जन्म में स्वतः ही मिलता है। उसके लिए हमें प्रयास नहीं करना पड़ता है। यह संयोग का सिद्धान्त वस्तुओं तथा मनुष्यों के साथ घटनाओं पर ही लागू होता है। जैसे हमारे साथ कोई घटना होती है वह अनायास नहीं होती है। वह संयोग के द्वारा ही होती है उस घटना के संयोग का उपार्जन भी हमारे कर्मो के आधार पर होता है। जितनी भी आकस्मिक घटनाऐ हैं। वे सभी संयोग के आधार पर स्वतः ही घटित हो जाती है। यह संयोग का सिद्धान्त हमारे कर्मो तथा परमात्मा की व्यवस्था के आधार पर स्वतः ही चलता रहता है।

3– सिद्धि के लिए पुनः प्रयत्नशील होता है (यतते च ततो भूयः संसिद्धो) :–

स्ंसार में जितनी भी विधाएं है उनमें एक अपरा विद्या है और दूसरी परा विद्या है। अपरा विद्या को सहजता से समझने के लिए यह जानना चाहिए कि अपरा विद्या संसार में जितने भी ज्ञान हैं उसके समुच्चय को कहते हैं। उपनिषदों में अपरा विद्या के दस भाग बताये गए हैं परन्तु पराविद्या का कोई भेद नहीं है। वह अभेद है तथा परमात्मा प्राप्ति के साधन और परमात्मा के स्वरूप गुण कर्म प्रभाव आदि का निरूपण करती है। अपरा विद्या के दस भाग है।

1– ऋग्वेद 2– सामवेद 3– यजुर्वेद, 4– अथर्वेद, 5– शिक्षा 6– कल्प 7– व्याकरण 8– निरूक्त, 9– छंद तथा 10 ज्योतिष। उक्त सभी के अध्ययन के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। बिना प्रयत्न के हमें कोई विद्या प्राप्त नहीं होती है। इसी प्रकार पराविद्या की सिद्धि के लिए अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार के लिए भी प्रयत्न करना पड़ता है जैसे ऋग्वेद का अध्ययन करते है तब सम्पूर्ण ऋग्वेद हम शनैः शनैः ही पढ़ते है। एक अध्याय के पश्चात् दूसरे अध्याय का क्रमिक अध्ययन करते है। जितना एक बार

में पढ़ लेते है पुनः उसके आगे पढ़ने लगते है। यह सब प्रयत्न से ही होता है। बिना प्रयत्न के कोई भी विद्या का पढ़ा जाना संभव नहीं है।

श्री भगवान कह रहे है कि जितना प्रयास परमात्मा की अनुभूति के लिए पूर्व जन्म में हो चुका है उसके आगे योग भ्रष्ट साधक पुनः प्रयास आरम्भ करता है। सिद्धि क्यों प्राप्त नहीं हुई है ? इसके कारण की जानकारी ऐसे साधक को स्वतः ही हो जाती है। सिद्धि प्राप्त करना पराविद्या का विषय है। इस विषय में क्या कमी है ? इसका ज्ञान परमात्मा के द्वारा साधक के विचारों में स्वतः ही आ जाता है। साधना की यह विशेषता है कि प्रत्येक अज्ञात विषय स्वतः ही हमारी मन बुद्धि में आता है और बुद्धि में स्थित हमारी स्मृति में संचित हो जाता है। हम कहां भटक रहे है ? अथवा हमारी साधन क्रिया में क्या कमी है ?

यह परमात्मा हमें बताता है और संकेत करता है कि इस मार्ग पर चलो और ऐसा करो। एक तो परमात्मा हमारे हृदय में वास करता है और दूसरे बाहर से विचारों को मन बुद्धि में भेजता है और ऐसी घटनाएं प्रकट करता है। जिससे सत्य तत्त्व का बोध हो जाए। इन सभी तथ्यों के आधार पर योगभ्रष्ट सिद्धि के लिए पुनः प्रयत्नशील होता है। यह प्रयत्नशीलता पूर्व जन्म के प्रयत्न के आधार पर पुनः होती जाती है। अर्थात् पूर्व जन्म का प्रयत्न इसमें प्रेरणा का आधार रहता है।

4– योग भ्रष्ट का आधार (ह्यवशोऽपि सः) :–

सत्कर्मो और दुष्कर्मो के विकास के कई कारण होते है काल, परिस्थिति, वातावरण, संगति आदि के कारण सत्कर्म और दुष्कर्म विकसित हो जाते हैं और समाप्त भी होते हैं। जैसे कोई सदाचारी पुरूष हो और वह दुष्कर्मी वातावरण, परिस्थिति तथा संगति में पड़ जाए तो वह सदाचार के आश्रय का त्याग कर दुष्कर्म के मार्ग पर चल देता है जो दुष्कर्मो का सेवन आरम्भ कर देता है, क्योंकि मनुष्य रजोगुणी स्वभाव का होता है और तमोगुणी कार्यो में प्रवृत्त होना उसकी प्रवृत्ति है जैसे जल का प्रवाह नीचे की ओर होता है वैसे ही दुष्कर्म की ओर मनुष्य स्वतः ही आकर्षित होता है। मनुष्य की प्रवृत्ति जल की तरह से अधोगामी अर्थात् नीचे की ओर होती है। इस कारण दुष्कर्म संगति से शीघ्र ही दुष्कर्मो की ओर उन्मुख होना कहा जाता है। इसी प्रकार यदि कोई

दुष्कर्मी मनुष्य सत्कर्मी मनुष्य की संगति में आ जाता है तो वह सत्कर्मो की ओर स्वतः आकर्षित होता है और उससे दुर्गुण छूटने लगते हैं।

योगभ्रष्ट पुरूष बुद्धिमान योगियों के घरों में जन्म लेता है तथा बाल्यावस्था में ही वह सिद्धि प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। जिस घर में वह जन्म लेता है उस घर में भी वह दूसरों के वश में रहता है। प्रत्येक मनुष्य माता पिता के संरक्षण में रहता है। इस कारण वह स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण तो नहीं कर सकता है इस कारण वह अवश है परवश है अर्थात् स्वच्छंद नहीं है। यद्यपि बुद्धिमान योगी के घर का वातावरण भी शुद्ध तथा सात्विक होता है यहां पर खान पान, रहन–सहन, आचरण–व्यवहार आदि सभी सात्विक होते हैं। फिर भी प्रत्येक घर में कुछ न कुछ राजसी वस्तुएं, प्रक्रियाएं वातावरण अवश्य ही होता है जिनका योगभ्रष्ट साधक पर प्रभाव पड़ सकता है परन्तु उसका प्रभाव योगभ्रष्ट साधक पर नहीं होता है।

यह तथ्य उसी प्रकार है जैसे एक युवक सत्कर्मी है परन्तु कुछ दुष्कर्मी युवकों की संगति में पड़कर मदिरा पान करने वाले स्थल तक तो जाता है परन्तु साथियों के बहुत कहने पर भी वह मदिरापान नहीं करता है और उस स्थान पर बैठा रहता है तथा अन्य साथियों को मदिरापान करते हुए देखता है। वह उस स्थान पर साथियों की संगति तथा दबाव के कारण बैठता है यह उसका अवश होना है तथा सद्गुणों की प्रेरणा से वह मदिरापान नहीं करता है। वह सद्गुणों का प्रभाव है। अवश शब्द को समझने के लिए उक्त उदाहरण प्रस्तुत किया गया। परन्तु योगभ्रष्ट साधक चूंकि बुद्धिमान योगियों के घरों में जन्मतः है इस कारण उसके घर का वातावरण प्रतिकूल नही होता है। श्री भगवान का कथन है कि यदि योगभ्रष्ट पुरूष आवश भी हो तो–

5– पूर्व जन्म के अभ्यास से लक्ष्य की ओर आकर्षित हो जाता है– (पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते) :–

पूर्व जन्म में जो अभ्यास योग भ्रष्ट साधक ने किया था उस अभ्यास के संस्कार उसकी मन और बुद्धि में संकलित होते है उन संस्कारों के कारण योग भ्रष्ट के पुर्नजन्म में वे उसे साधन करने को बाध्य करते हैं। जैसे सत्कर्मी मनुष्य प्रातः सूर्योदय के पूर्व ही

उठता है। शौच आदि से निवृत होकर स्नान आदि के उपरान्त श्री भगवान की पूजा उपासना आदि करता है तदोपरान्त जलपान करता है जो सत्कर्मी नहीं है वह अनेक सांसारिक प्रपंचों में फंसा हुआ प्रातः देर तक सोता है तथा जाग कर बिना स्नान आदि के भोजन ग्रहण कर लेता है, स्नान आदि के पश्चात् ऐसे सांसारिक प्रपंची व्यक्ति को श्री भगवान की पूजा उपासना आदि से कोई अर्थ नहीं होता है। इस स्थल पर दुष्कर्मी और सत्कर्मी मनुष्य की क्रियाकलापों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया गया। व्यक्ति पृथक्–पृथक् आचरण क्यों करता है ? यह जब आप विचार करेंगे तो पायेगे कि पृथक्–पृथक् संस्कार ही मनुष्य को पृथक्–पृथक् प्रकार के कर्मो को करने के लिए प्रेरित करते हैं। मनुष्य में जैसे गुण सत्व, रज, तम आदि होते हैं वैसा ही उसका आचरण होता है क्योंकि गुणों के प्रभाव से ही मनुष्य व्यवहार करता है और मनुष्य के गुणों के प्रेरणा से ही मनुष्य की समस्त चेष्टाएं होती है। योगभ्रष्ट ने जो पूर्व जन्म में अभ्यास किया था उस अभ्यास के आधार पर उसमें संस्कार रहते हैं तथा उसका अंतःकरण अपने लक्ष्य की ओर परमात्मा के साक्षात्कार की ओर पुनः आकर्षित हो जाता है। जैसे आकर्षण पूर्व जन्म में था अर्थात् जैसा लक्ष्य उसने पूर्व में निश्चित किया था वैसा ही संस्कार के कारण पुनः ही स्थापित कर लेता है। इसी तथ्य के स्पष्टीकरण हेतु श्री भगवान ने **पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते** पदों का प्रयोग करके यह स्पष्ट कहा है कि पूर्व जन्म के संस्कार के कारण ही योग भ्रष्ट परमात्मा की अनुभूति हेतु पुनः आकर्षित हो जाता है। इस कारण यह आकर्षण पूर्व जन्म के अभ्यास के कारण ही है।

6– योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म का अतिक्रमण कर जाता है (जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते) :–

आचार्य शंकर ने मुक्ति के बारे में यह कहा कि –

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवता।

आत्मैक्यबोधेन विनाविमुक्तिर्न सिद्धयति ब्रह्माशान्तेरेऽपि।।

भावार्थ : यदि कोई शास्त्रों की व्याख्या में निपुण हो, देवताओं का यजन पूजन करे, अनेकानेक शुभ कर्म करें, देवताओं को भजे परन्तु जब तक साधक को आत्मा तथा

परमात्मा की एकता का ज्ञान नही होता तब तक 100 ब्रह्मा के कार्य में उसे मुक्ति उपलब्ध नहीं हो सकता है।

आचार्य शंकर के मतानुसार चार कर्मो से परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती है– 1– शास्त्रों की व्याख्या करने से 2– देवी देवताओं की उपासना करने से 3– देवताओं को भजने से 4– अनेकानेक सांसारिक शुभ कर्मो से। इसका अभिप्राय यह कि उक्त चारों कर्मो से मनुष्य को शुभ फलों की प्राप्ति तो हो सकती है परन्तु परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता। श्री भगवान शब्दब्रह्म का जो उल्लेख किया है। उसका संकेत इन्हीं चार कर्मो की ओर है। वस्तुतः जो शुभ कर्म फल देने के लिए किये जाते है वे शुभ फल तो देते है और मनुष्य को उससे सांसारिक सुख भी प्राप्त होता है परन्तु उससे ब्रह्म की अनुभूति कदापि नहीं होती है। इसी भाव के पृथकीकरण हेतु श्री भगवान ने शब्दब्रह्म का प्रयोग किया है अर्थात् शास्त्रों में जो कुछ भी वर्णित है वह सबका सब मनुष्यों के सुखों के लिए है इस कारण मनुष्य उनका सकाम भाव से सेवन करता है और पुनः जन्म तथा मृत्यु के चक्र में फंसा रहता है।

शास्त्रों की व्याख्या यदि निष्कामभाव से की जाए तो लोगों का इससे नैतिक उत्थान होता है तथा यह शास्त्रों की निष्कामभाव व्याख्या का फल है। इसी प्रकार देवी देवताओं का यजन पूजन तथा भजन भी निष्कामभाव से हो तो वह मुक्ति का हेतु हो सकता है। वैसे ही जितने भी शुभ कर्म निष्कामभाव से यदि किये जाए तो वे भी मुक्ति का कारण हो सकते है परन्तु अधिकतर शास्त्रों की व्याख्या, देवी देवताओं का यजन पूजन शुभ कर्म सकाम भाव से ही होते हैं जो बंधन का कारण होते हैं तथा पुर्न्जन्म और पुनः मृत्यु के चक्र में हमें घुमाते है। योग जिज्ञासु का संकेत इस योग भ्रष्ट की ओर है जो पुनः जन्म ग्रहण करके परमात्मा के साक्षात्कार में लीन हो जाता है श्री भगवान ने कहा कि योग भ्रष्ट समस्त कर्मो को निष्काम भाव से करता है इससे वह शब्दब्रम्ह का अतिक्रमण कर जाता है। शब्दब्रह्म का अतिक्रमण करने का अर्थ है कि शास्त्रों में जो भी सकाम उपासना का वर्णन है उससे वह परे हो जाता है वस्तुतः जब तक शास्त्रों में वर्णित तथ्यों के आधार पर फल की भावना से कर्म होते है तब तक हम परमात्मा की अनुभूति से वंचित रहते है। यही श्री भगवान के कथन का अभिप्राय है।

अगले श्लोक में श्री भगवान योगी की स्थिति का वर्णन कर रहे है तथा उसकी स्थिति क्या होती है ? इसको बता रहे है।

सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की सिद्धि प्रयत्न से ही होती है। कोई भी कार्य बिना प्रयत्न के सिद्ध नहीं होता हैं। यह प्रकृति का नियम है। प्रकृति ने मनुष्य

को कर्तव्य पराणयता का संदेश दिया है। मनुष्य कर्तव्य करें और सिद्धि प्राप्त कर ले इसका प्रयास जितना प्रखर अर्थात् तेज होता है उतनी ही शीघ्र उसे सिद्धि प्राप्त होती है इसी तथ्य को श्री भगवान आगे कह रहे तथा यत्न से सिद्धि की बात बता रहे हैं।

7– योगी का प्रयत्नपूर्वक यत्न करना क्या है ? (प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी) :–

किसी भी कार्य के लिए प्रयत्न तीन प्रकार का होता है 1– शिथिल प्रयत्न 2– मध्यम प्रयत्न तथा 3– तीव्र प्रयत्न। शिथिल प्रयत्न से जो यत्न होता है उसमें कार्य की सिद्धि की संभावना बहुत कम होती है। मध्यम प्रकार के प्रयत्न में सिद्धि की संभावना बढ़ जाती है और तीव्र प्रकार के प्रयत्न में सिद्धि की संभावना शत प्रतिशत हो जाती है। श्री भगवान ने प्रयत्नपूर्वक यत्न करने का जो तथ्य कहा है तीव्र प्रयत्न से सम्बंधित है। श्री भगवान ने यह कहा कि जो योगी प्रयत्न से यत्न करता है इसका अर्थ है कि जो साधक परमात्मा का साक्षात्कार अर्थात् उसकी अनुभूति करना चाहते हैं वह प्रयत्न से यत्न करते हैं। इस तथ्य से यह स्पष्ट की परमात्मा प्राप्ति के साधन में योगी को बहुत प्रयास करना पड़ता है तो ही उसे शीघ्र सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

परमात्मा प्राप्ति के जितने भी साधन हैं वे सब योग नाम से जाने जाते है। कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति के साथ योग शब्द जोड़ा जाता है। कर्म योग में कर्म की विशिष्टता है। ज्ञान योग में ज्ञान की विशिष्टता है। ध्यान योग में ध्यान विशिष्ट हैं और भक्ति योग में भक्ति विशिष्ट है। इस कारण कर्म योग में कर्म के लिए प्रयत्न पूर्वक यत्न करना पड़ता है। ज्ञान योग में ज्ञान के लिए प्रयत्न पूर्वक यत्न करना पड़ता है। ध्यान योग में ध्यान के लिए प्रयत्न पूर्वक यत्न करना पड़ता है और भक्ति योग में भक्ति के लिए प्रयत्न पूर्वक यत्न करना पड़ता है। बिना प्रयत्न पूर्वक यत्न किये सिद्धि नहीं मिलती है। कर्म योग की सिद्धि के लिए कर्तव्य कर्मो का आचरण आसक्ति का त्याग करके सिद्धि असिद्धि में संभाव रखकर प्रयास करना पड़ता है। ज्ञान योग साधन में समस्त क्रियाओं को प्रकृति जन्य गुणों के द्वारा होना मानकर कर्तापन के अहंकार से विमुक्ति होने की क्रिया प्रयत्नपूर्वक करनी पड़ती है।

भक्ति योग साधन में श्री भगवान के प्रति स्नेह का उर्पाजन प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है तथा ध्यान के साधन में युक्त आहार तथा विहार, युक्ति चेष्टा तथा युक्त आसन्न पर बैठकर ध्यान की क्रिया का अनुष्ठान प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है। श्री भगवान के कथन का यही अभिप्राय है कि योग की सिद्धि के लिए प्रयत्न पूर्वक यत्न करना पड़ता हैं बिना प्रयत्नपूर्वक यत्न किये सिद्धि कदापि प्राप्त नहीं हो सकती है।

8– पापों से मुक्त होना क्या है ? (संशुद्धकिल्बिषः) :–

साधारणता दुष्कर्मो के परिणाम को पाप कहा जाता है। मनुष्य पूर्व जन्मों में व वर्तमान जन्म में भी जो शास्त्र विरूद्ध कर्म करता है उसका परिणाम पाप के रूप में संचित हो जाता हैं। परमात्मा की व्यवस्था के आधार पर उसका लेखा जोखा रहता है। जो पाप है। वे ही दुष्कर्म के फल के रूप में संचित रहते हैं और उनसे मनुष्य के समक्ष अनेक प्रकार की प्रतिकूलताएं स्वतः ही उपस्थित हुआ करती हैं। आध्यात्मिक, अधिभौतिक, अधिदैविक दुःखों का कारण पाप ही है। संचित पाप हमारे समक्ष दुःख प्रकट करते है। उन दुःखों को जब हम भोगते हैं तो पापों का विनाश हो जाता है। इस प्रकार परमात्मा की व्यवस्था के आधार पर हम संचित पापों को भोगते हे। साधक जब कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग, ध्यान योग साधन से परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है तो उससे नवीन दुष्कर्म नहीं होते है। वरन् परमात्मा की प्राप्ति रूप सत्कर्म ही होता है। यह सत्कर्म हमें हमारे पापों से उन्मोचित करता है। नवीन पाप होते नहीं हैं और संचित पाप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रक्रिया से पापों का क्षय हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति का जो प्रयत्न पूर्वक यत्न है वह स्वयं में एक वृहद शुभ कर्म है। इसका व्यापक प्रभाव रहता हैं। हम किसी भी साधन को जब भी करते हैं तो हमारे सत्कर्म स्वतः ही बढ़ते हैं। उसका एक प्रमुख कारण है कि परमात्मा ने मनुष्य का जन्म हमें तत्त्व प्राप्ति हेतु ही दिया है परन्तु हम परमात्मा के आदेश को न मानकर विभिन्न प्रकार के भौतिक आकर्षण में फंसकर दुष्कर्म करते रहते हैं। यह परमात्मा के आदेश के प्रतिकूल कर्म है जिससे हमें दुखों की प्राप्ति होती है। परमात्मा के स्मरण से पाप स्वतः ही नष्ट होते है। ऐसा शास्त्रों में उल्लेख आता है। इस प्रकार जो साधक परमात्मा की प्राप्ति रूपी सत्कर्म करता है उसके पाप समस्त प्रकार से धीरे–धीरे क्षय होकर अंततः पूरी तरह से विनिष्ट हो जाते है और वह पापों से मुक्त हो जाता है। श्री भगवान ऐसे ही योगी के लिए समस्त पापों से शुद्ध होना कहते है तथा **संशुद्धकिल्बिषः** पद का प्रयोग करते है।

9– अनेक जन्मों से सिद्ध होना क्या है (अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो) ?

जब से सृष्टि अस्तित्व में है अर्थात् प्रचलित हुई है तभी से हम निरन्तर जन्म ले रहे हैं। हमारा पुनः पुनः जन्म लेना यह स्पष्ट करता है कि हमें अभी भी मुक्ति प्राप्त नही हुई है अर्थात् अभी तक परम गति नहीं मिली है। श्री भगवान ने चौथे अध्याय के

पांचवें श्लोक में कहा है कि हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं, व्यतीत हो गए हैं उन समस्त जन्मों को मैं जानता हूँ परन्तु तुम नहीं जानते हो। श्री भगवान समस्त जन्मों को तथा भूत, भविष्य, वर्तमान में होने वाले समस्त प्राणियों को जानते है। परन्तु एक सामान्य व्यक्ति नहीं जानता है। यह श्री भगवान की विशेषता है।

इस स्थल पर हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि हमारे अब तक लाखों जन्म हो चुके हैं और इस प्रकार से हमारा अनेक योनियों में भ्रमण हो चुका है। प्रत्येक मनुष्य जन्म में हो सकता है कि हमने परमात्मा की प्राप्ति हेतु प्रयत्न किया हो परन्तु आज तक हम अपने यत्न में सफल नही हो सके क्योंकि हमने प्रयत्नपूर्वक यत्न नहीं किया है। भगवान ने प्रयत्नपूर्वक यत्न करने की जो बात कही है उसका संकेत था कि हमने अनेक जन्मों में यत्न तो किए परन्तु वह यत्न प्रयत्नपूर्वक नहीं रहा, नहीं हुआ। इस कारण हमें सिद्धि नहीं प्राप्त हुई और हम परम गति से वंचित रहे। यदि हमने प्रयत्न पूर्वक यत्न किया होता तो संभवतः हम परमगति को प्राप्त हो चुके होते।

श्री भगवान हमें अवसर देते रहे और हम परम गति की प्राप्ति रूपी परीक्षा में फेल होते गए। अब श्री भगवान ने पुनः कृपा की और पुनः मनुष्य जन्म देकर एक अवसर हमें प्रदान किया है। इस अवसर का लाभ लेना चाहिए तथा प्रयत्नपूर्वक यत्न करके हमें परम गति प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। यह प्रयास तभी सफल होगा जब हम अपने समस्त पापों को समाप्त करके मुक्त हो जायेंगे।

श्री भगवान ने **अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो** कहकर यह स्पष्ट किया है कि हमारे अब तक जो भी जन्म हुए है उन जन्मों में हमारा प्रयत्न सफल नहीं हो सका। अनेक जन्मों में हम सिद्ध नहीं हो पाये परन्तु इस जन्म में हमें सिद्ध होना है और परम गति को प्राप्त कर लेना है। जन्म असंख्य हुए। उसकी ओर संकेत करके श्री भगवान यह कह रहे हैं उनके कथन का अभिप्राय यही है कि एक जन्म आज हुआ है इसके पूर्व अनेक जन्म हो चुके है। उनके पूर्व भी आपको सिद्धि प्राप्त नही हुई तो इस एक में अनेक का आश्रय छोड़कर प्रयत्नशील हो ओर यत्न करो आपको परम गति प्राप्त हो जाएगी। अनेक में सिद्ध न होना इस एक में एक में सिद्ध हो जाना ही अनेक **जन्मसंसिद्धस्ततो** का अर्थ है। सृष्टि से आज तक करोड़ों वर्षो के उपरान्त जो कार्य सिद्ध नहीं हुआ है उसे हमें प्रयत्नपूर्वक यत्न से सफल करना है। अपने पापों से उन्मोचित होना है तथा परमगति को प्राप्त कर लेना है।

10– परमगति को प्राप्त करना क्या है ? (याति परां गतिम्) :–

भगवद्गीता में परम गति प्राप्त करने के चार साधनों का उल्लेख हुआ है जिन्में पूर्व में प्रसंगानुसार वर्णित किया गया है। यह साधन है कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्ति योग, ध्यान योग। प्रत्येक साधन का उद्देश्य अर्थात् परम लक्ष्य परम गति की प्राप्ति है। इन चारों प्रकार के साधनों से परमगति प्राप्त की जा सकती है। अन्य कुछ नहीं। साधक किसी भी साधन का अनुसरण करें, उसका लक्ष्य परम गति प्राप्त करना ही होता है। साधन की पूर्णतः से परमगति प्राप्त हो जाती है और शिथिलता से स्वर्ग की प्राप्ति अथवा बुद्धिमान योगियों और श्रीमानों के गृह में जन्म प्राप्त होता है। इस तथ्य का उल्लेख उपरोक्त प्रकार से हो चुका है।

श्री भगवान के इस श्लोक का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि चाहे योगी कर्मयोगी हो, ज्ञानयोगी हो, भक्तियोगी हो या ध्यान योगी हो वह प्रयत्न पूर्वक यत्न करता है तो समस्त पापों से शुद्ध हो जाता है और परमगति को स्वतः ही प्राप्त कर लेता है। इसमें प्रयत्न पूर्वक यत्न करने तथा पापों से मुक्त होने का तथ्य विशेष है। प्रयत्न की शिथिलता से परमगति प्राप्त नहीं हो सकती है। प्रयत्न की शिथिलता का बहुत व्यापक अर्थ है जैसे कोई व्यक्ति कठिन दुर्गम मार्ग पर चलता है तो उसे लक्ष्य तक पहुंचने में बहुत ही सावधानी बरतनी पड़ती है। यदि वह तनिक भी चूक जाता है तो कठिन और दुर्गम मार्ग में गिर पड़ता है। इसी प्रकार योग की सफलता का तथ्य है योगी बहुत प्रयत्न करता है तभी वह सफल हो पाता है।

साधन में क्या त्रुटि और शिथिलता आ रही है वह साधक योगी तत्काल जान जाता है कि हमारा मन लक्ष्य पर है या लक्ष्य से भटक गया है। लक्ष्य से भटके मन को साधक की बुद्धि तत्काल पकड़ कर लक्ष्य पर लगा देती है। इसी प्रकार कर्मयोगी जब कर्म योग साधन का अवलम्बन करता है तो उसे कर्तव्य कर्म की शिथिलता तथा आशक्ति का तत्काल ज्ञान हो जाता है। कुशल कर्मयोगी इस त्रुटि में सुधार कर लेता है और अपनी त्रुटि के प्रति सचेत हो जाता हैं इसी प्रकार कोई साधक को उससे जो भी त्रुटि होती है उसका ज्ञान उत्कृष्ट साधक को हो जाता है। परमगति की प्राप्ति प्रयत्नशील योगी को ही होती है अन्य को नहीं होती है इसलिए श्री भगवान ने जो प्रयत्नपूर्वक यत्न करने का तथ्य कहा है उसका स्पष्ट अर्थ है कि हम जो भी साधन करें उसमें त्रुटि, शिथिलता, सुस्ती, अकमर्ण्यता का आश्रय कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए यही परमगति प्राप्त करने का मूल मंत्र है।

योगी तपस्वियों से कर्मयोगी से ज्ञान योगी से श्रेष्ठ है। इस कारण श्री भगवान ने अर्जुन को योगी बनने का आदेश प्रदान किया है। इसी तथ्य को श्री भगवान अग्रिम श्लोक में प्रस्तुत कर रहे है।

मूल श्लोक – 46

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिकों योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।

पदच्छेद –

तपस्विभ्यः, अधिकः, योगी, ज्ञानिभ्यः, अपि, मतः, अधिकः,

कर्मिभ्यः, च, अधिकः, योगी, तस्मात्, योगी, भव, अर्जुन।।

भावार्थ : तपस्वियों से योगी उत्कृष्ट है, ज्ञानियों से भी उत्कृष्ट है तथा कर्मयोगी से भी उत्कृष्ट है। यह श्री भगवान का मत है। इससे हे अर्जुन ! तुम योगी बनो।

व्याख्या : श्री भगवान ने योगी की विशिष्टता का प्रतिपादन करने के लिए उपर्युक्त श्लोक कहा है कि योगी तपस्वी से कर्मयोगी से, ज्ञानयोगी से भी श्रेष्ठ है। इस श्लोक को समझने के लिए श्री भगवान द्वारा इस अध्याय में योगी के सम्बन्ध में कहे गए भावों का प्रथमतः अवलोकन कीजिए।

(एक) संकल्पों का त्याग किये बिना कोई योगी नहीं होता। इसके भाव पर जब आप विचार करेंगे तो यह स्पष्ट होगा कि जो संकल्पों का त्याग कर देता है वह योगी हो जाता है।

(दो) जो ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, कूटस्थ है, जितेन्द्रिय है, मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण के टुकड़े के प्रति समभाव वाला है। ऐसा युक्त मनुष्य योगी कहा जाता है।

(तीन) जिसमें दुःखों के संयोग का वियोग हो उसे योग समझना चाहिए। इस कथन पर विचार करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि जो साधक दुःखों के संयोग का वियोगी हो वह योगी होता है।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि योग एक विशिष्ट स्थिति का नाम है। योगी कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त साधक कहा जाता है। उपर्युक्त कथनों के सम्बन्ध में श्लोक के

अनुसार पर्याप्त व्याख्या हो चुकी है। उन व्याख्याओं का प्रकरणानुसार अवलोकन करना चाहिए। यहां पर योगी की श्रेष्ठता तपस्वी से, कर्मयोगी से तथा ज्ञान योगी से कही गई है। उपरोक्त परिभाषा के अनुसार योगी की स्थिति का अवलोकन कीजिए।

1– योगी कौन है ? :–

जो साधक समस्त संकल्पों का परित्याग कर देता है योगी है अथवा जो साधक ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, कूटस्थ है, जितेन्द्रिय है, मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण के टुकडे में समबुद्धि रखता है वह योगी है जिसे दुःखों के संयोग का वियोग हो जाता है वह योगी है। मन की वृत्ति अर्थात् कार्य को संकल्प कहा जाता है। मन की समस्त वृत्तियों का त्याग कठिन है। इस कारण योगी की स्थिति प्राप्त करना सहज नहीं है जो साधक यह स्थिति प्राप्त कर लेता है वह योगी हो जाता है। हम सभी सामान्य लोगों का मन निरन्तर सांसारिक वस्तुओं, व्यक्तियों, क्रियाओं, घटनाओं आदि पर विचार किया करता है। उसी को अध्यात्म की भाषा में संकल्प कहा जाता है। जब किसी साधक के मन में संसार के विषयों का विचारण समाप्त हो जाता है तो वह योगी कहलाता है। इसी प्रकार जब ज्ञान विज्ञान से तृप्त हो जाता है, कूटस्थ हो जाता है, मूल्यवान और मूलरहित वस्तुओं के प्रति समभाव वाला हो जाता है तो भी वह योगी हो जाता है। इसी साधक को दुःखों का संयोग नहीं होता है। चाहें वह आभास से न हो और चाहे वह दुःखों के समापन से न हो तब वह व्यक्ति योगी हो जाता है। इस प्रकार योगी कुछ विशिष्ट स्थितियों वाला साधक होता है तथा योग कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त स्थिति है।

2– तपस्वी कौन है ? :–

तपस्या तीन प्रकार की होती है जिसे कायिक अथवा शारीरिक, मानसिक और वाचिक कहा जाता है। शरीर सम्बंधी तप को कायिक तप कहा जाता है। मन सम्बन्धी तप को मानसिक तप कहा जाता है तथा वाणी सम्बंधी तप को वाचिक तप कहा जाता है। देवताओं, ब्राह्मणों, गुरूजनों तथा सिद्ध महापुरूषों का पूजन, शौच अर्थात् शुद्धि, सरल भाव, ब्रह्मचर्य का पालन, अहिंसा का आचरण यह सब शारीरिक तप है। सत्य बोलना, किसी को भी परेशान न करने वाले वचन कहना। प्रिय एवं कल्याणप्रद बोलना, श्री भगवान के नाम जप का प्रयास एवं अभ्यास करना। यह सब शारीरिक तप है। शान्त भाव से रहना, मौन रहना, मन को संयमित रखना तथा उसे प्रसन्न मुद्रा में रहना,

मानसिक भावों को शुद्ध रखना यह मानसिक तप कहा जाता है। कायिक, मानसिक, वाचिक तप करने वाले को तपस्वी कहा जाता है।

उपरोक्त तीन प्रकार के तप विशिष्ट प्रकार के तप हैं जिनका पालन करना सहज नहीं है। शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक तप के उद्देश्य के आधार पर ही तपश्चर्या का आंकलन होता है। परमात्मा की प्राप्ति हेतु जो तपश्चर्या की जाती है वह उत्कृष्ट श्रेणी की होती है तथा सांसारिक वस्तुओं, स्थिति को प्राप्त करने के लिए जो तपश्चर्या की जाती है वह निकृष्ट श्रेणी की होती है। इस प्रकार तपश्चर्या के पृथक्–पृथक् प्रकार हैं जिससे तपस्वी की स्थिति का आंकलन होता है।

3– कर्मयोगी कौन है ? :–

पूर्व में भी कर्मयोग के सम्बन्ध में उल्लेख हुआ था। कर्मयोग के तीन प्रमुख तथ्य है। 1– शास्त्रविहीत कर्तव्य कर्मो का आचरण करना। 2– कर्तव्य कर्मो का आचरण आसक्ति को त्याग कर करना तथा 3– सिद्धि असिद्धि में समभाव रखकर कर्तव्य कर्म करना। इस आधार पर जो कर्तव्य कर्म का आचरण करता है आसक्ति रहित रहता है तथा सिद्धि असिद्धि में समभाव रखता है वहीं कर्मयोगी है। शास्त्रविहीत कर्तव्य कर्मो को समझना बहुत कठिन है। हम तभी इस तथ्य के प्रति बहुत भ्रमित रहते है कि अमुक कार्य करे अथवा न करें। कर्मयोगी के समक्ष यह स्थिति रहती है।

संसार की आसक्ति से मुक्त होना भी सहज नहीं है तथा कर्म करने के पश्चात् सिद्धि असिद्धि में समभाव रखना भी सरल नहीं है इन तीनों का व्यवहारिक स्वरूप अत्यंत कठिन है। वर्तमान में जो परिस्थितियां उनमें कर्म के तीनों स्वरूपों का क्रियान्वयन कठिन है। मनुष्य के **किम् कर्तव्यविमूढ़** हो जाता है। संसार की आसक्ति के प्रवाह में बह जाता है। सिद्धि असिद्धि में समभाव नहीं रख पाता। इस कारण कर्मयोगी का साधक फल की ओर बढ़ता है। कर्मयोगी की पूर्णतः की स्थिति प्राप्त कठिन है।

4– ज्ञान योगी कौन है ? :–

जितनी भी क्रियाएं है वह सब की सब त्रिगुणों अर्थात् सत्व, रज, तम, के कारण ही होती है। इस तत्त्व को समझना जानना तथा उसे मानकर क्रियाओं के कर्ता के रूप में अपने को न देखना ज्ञानयोग साधन है। यह स्थिति भी कठिन है। हम सभी जो भी कर्म करते हैं उसमें अपने को कर्ता मान लेते हैं। स्वाभाविक रूप से कर्म करके कर्तापन

के भाव से मुक्त रहना यह स्थिति सहज नहीं है। सत्व, रज, तम गुण ही कर्म कर रहे हैं यह तथ्य साधारणतया समझ में नहीं आता है। यह ज्ञानयोग की कठिनता है तथा ज्ञानयोगी की स्थिति को प्राप्त करना कठिन है। वस्तुतः हम सभी लोग यह तो सत्व गुण से प्राभावित रहते हैं या रजोगुण या तमो गुण से प्रभावित रहते हैं जो गुण हमारे अन्दर अपना प्रभाव रखता है वही हमसे वैसा ही कार्य कराता है। ज्ञानयोगी को इस तथ्य का ज्ञान हो जावे कि हम कुछ नहीं करते है त्रिगुण ही सब कुछ कर रहे है। यह स्थिति अत्यंत कठिन है। ज्ञानयोगी की सफलता उसके समझ पर वास्तविकता के आधार पर आधारित होती है। समझ न होने पर ज्ञान योगी अपनी स्थिति की पूर्णतः को प्राप्त नहीं कर सकता है।

5– योगी तपस्वी से कैसे अधिक है ? (तपस्विभ्योऽधिको योगी) :–

पूर्व में भी योगी की तीन स्थितियों का वर्णन हुआ है। यह तीनों स्थितियां बहुत ही दुर्लभ है। योगी संकल्पों का सम्पूर्णतः से त्याग कर देता है। तपस्वी संकल्पों का त्याग सम्पूर्णता से नहीं कर सकता है। उसके मन में संसार के प्राप्ति के संकल्प रहते हैं। इस भाव से योगी तपस्वी से श्रेष्ठ है। योगी ज्ञान विज्ञान से तृप्त, कूटस्थ, जितेन्द्रिय है तथा मूल्यवान और मूल्यहीन वस्तुओं के प्रति समदर्शी है। ये स्थितियां उस तपस्वी के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती है जो एक मात्र परमात्मा की प्राप्ति हेतु तप नहीं करता है। सामान्य तपस्वी यह स्थितियां प्राप्त नहीं कर सकता है। इस कारण तपस्वी से योगी श्रेष्ठ है। योगी दुःखों के संयोग का वियोगी हो जाता है परन्तु सामान्य तपस्वी में दुःखों का आभास भी रहता है और तब तक वह तपश्चर्या की पूर्णतः प्राप्त नहीं कर लेता है अथवा अपने पापों को तपश्चर्या के द्वारा नष्ट नहीं कर देता है। इस भाव से भी तपस्वी से योगी श्रेष्ठ है। विशेष तथ्य यह है कि योगी की जो स्थितियां है वह विशिष्ट है। वैसी स्थितियां एक सामान्य तपस्वी की नहीं हो सकती है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखकर ही श्री भगवान ने योगी को तपस्वी से श्रेष्ठ कहा है।

6– कर्मयोगी तथा ज्ञान योगी से भी योगी श्रेष्ठ है

(कर्मिभ्यश्चाधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः) :–

कर्मयोगी की स्थिति का पूर्व में उल्लेख हुआ है तथा ज्ञानयोगी की स्थिति की विवेचना भी की गई है। कर्तव्य कर्म के आचरण में संकल्प रहता है और फल का त्याग भी पूर्णतः से नहीं होता है। बिना संकल्प के कर्तव्य कर्मो को करना असंभव है। इसी

भाव से योगी कर्मयोगी से विशिष्ट है। कर्मयोगी जब आसक्ति का त्याग एक सीमा तक कर देता है तो भी कभी–कभी उसे किसी कारण से दुःख का आभास होता है जैसे बहुत प्रिय व्यक्ति हो तो उससे स्वतः ही स्वाभाविक आसक्ति रहती है और यहीं उसकी मृत्यु हो जावे तो दुःख का आभास अवश्य होता है। यह स्थिति से समझ कर कर्मयोगी योगी से निम्न हो जाता है जैसे हमारा कोई विशिष्ट भवन हो तो उसमें रहते रहते उसके प्रति हमें आसक्ति हो जाती है। यदि वह भवन भूकम्प, दैवी आपदा आदि से अचानक विनिष्ट हो जाता है तो भी हमें दुःख का आभास होता है। दुःख में संयोग का वियोग हो यह योगी की विशिष्ट स्थिति है। इस स्थिति को योगी प्राप्त कर लेता है। इसी भाव से श्री भगवान ने कर्मयोगी से योगी को विशिष्ट कहा है तथा कर्तापन के भाव से मनुष्य शीघ्र मुक्त नहीं हो पाता है। परन्तु संकल्पों का अभाव स्वतः नष्ट नहीं होता है। संकल्प नहीं होंगे तो कर्तापन का आभास समाप्त हो जाएगा। इस कारण ज्ञान योगी से भी योगी अधिक कहा गया है।

7– श्रेष्ठता के सम्बन्ध में विशिष्ट भाव :–

श्री भगवान ने तपस्वी, कर्मयोगी, ज्ञानयोगी से योगी को अधिक अर्थात् श्रेष्ठ कहा है। यह कथन तुलनात्मक आधार पर कहा गया है। तपस्वी, कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, यह तीनों ही विशिष्ट स्थितियां है। यदि इनमें पूर्णतः प्राप्त हो जावे तो उत्कृष्टता का अभाव स्वतः ही आ जाता है परन्तु यदि पूर्णतः नहीं है और तपश्चर्या, कर्मो का आचरण तथा ज्ञानयोग का व्यवहार संसार में ऐश्वर्य ख्याति पद के लिए होता है तो वह स्वतः ही निकृष्ट हो जाता है। अधिकांशतः ऐसा ही होता है कि साधन तपश्चर्या, सांसारिक क्रियाएं तथा आध्यात्मिक शक्ति के अर्जन के लिए होती है कि लोग जाने कि हम तपस्वी है। इस भाव से भी योगी तपस्वी से श्रेष्ठ है। वैसे ही कर्मयोग तथा ज्ञान योग का जो आचरण दिखावे के लिए, ऐश्वर्य प्रतिष्ठा के लिए होता है वह निकृष्ट श्रेणी का है। उससे योगी की स्थिति बहुत अधिक अर्थात् श्रेष्ठ है। इस भाव से योगी श्रेष्ठ है।

जब किसी वस्तु, व्यक्ति, क्रिया स्थिति सिद्धान्त की तुलना होती है तो निष्पक्ष व्यक्ति निष्पक्षता से तुलना कर देता है कि यह वस्तु उससे अच्छी ही है, यह व्यक्ति उससे अच्छा है, यह क्रिया उससे सहज है अथवा कठिन है। यह स्थिति उससे प्रिय अप्रिय है यह सिद्धान्त उससे अधिक प्रभाव शाली है आदि आदि। श्री भगवान ने निष्पक्ष भाव से यह तुलना की है कि योगी उन तपस्वियों कर्मयोगियों तथा ज्ञान योगियों से श्रेष्ठ है जो संसार में यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के लिए तीनों साधनों का लक्ष्य एक मात्र परमात्मा की प्राप्ति हो तो वह भी योगी की तरह विशिष्ट हो जायेंगे।

8– इससे हे अर्जुन ! योगी हो (तस्माद्योगी भवार्जुन) :–

अंत में श्री भगवान ने अर्जुन को योगी बनने की आज्ञा इस कारण दी क्योंकि योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है। कर्मयोगियों से श्रेष्ठ है और ज्ञान योगियों से भी श्रेष्ठ है। श्री भगवान का यह आदेश अर्जुन के लिए यह भाव प्रकट करता है कि आप समस्त संकल्पों का त्याग करें, ज्ञान विज्ञान से तृप्त हो, कूटस्थ हो, मूल्यवान तथा मूलरहित वस्तुओं के प्रति समबुद्धि रखें और दुःखों के संयोग के वियोगी हो।

इन तीनों में एक भी स्थिति यदि प्राप्त हो जाती है तो मनुष्य योगी हो जाता हैं। जैसे हम समस्त संकल्पों का त्याग कर दे तो हमें तत्काल ही संसार की वस्तुओं में तृप्ति का भाव आ जाएगा। जब कोई विचार नहीं है मन पूर्ण शान्त है तो पूर्ण शान्त मन से परमात्मा का ही चिंतन होता है, जिससे परमात्मा का ज्ञान तथा परमात्मा की प्राप्ति का साधन स्वतः ही ज्ञात हो जाता है।

संकल्पों के त्याग से मनुष्य विकार रहित हो जाता है और उसे दुःखों का आभास नहीं होता हैं इस कारण जब आप योगी की तीनों स्थितियों पर विचार करेंगे तो पायेंगे कि कोई एक स्थिति प्राप्त कर लेने पर हमें योग की पूर्णतः प्राप्त हो जाती है परन्तु तीनों में कोई एक स्थिति प्राप्त करना अत्यंत दुष्कर है, कठिन है, सहज नहीं है।

अग्रिम श्लोक में श्री भगवान अपने भक्त को समस्त योगियों से श्रेष्ठ बताकर एक विशेष भाव की प्रस्तुति कर रहे है और संसार में जितने भी प्रकार के योगी है उन समस्त योगियों में श्रद्धा भाव से जो भगवान का भजन करता है वह श्रेष्ठ योगी कहा जाता है। इसी भाव से श्री भगवान ने अग्रिम श्लोक का प्रस्तुतीकरण किया है। जिसका अवलोकन कीजिए।

मूल श्लोक – 47

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स में युक्ततमो मतः।।

पदच्छेद –

योगिनाम्, अपि, सर्वेषाम्, मद्गतेन, अन्तरात्मना,
श्रद्धावान्, भजते, यः, माम्, सः, मे, युक्ततमः, मतः।।

भावार्थ : समस्त योगियों में जो श्रद्धावान पुरूष मेरे आश्रय में होकर अन्तरात्मा से मुझे भजता है वह श्रद्धावान पुरूष मेरे मतानुसार सर्वश्रेष्ठ योगी है।

व्याख्या : प्रत्येक प्रकार के योग अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग का अभीष्ट परमात्मा की प्राप्ति है। कर्मयोग साधन से कर्मयोगी परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता है। ज्ञान योग साधन से ज्ञानयोगी परमात्मा की अनुभूति करना चाहता है। ध्यान योग साधन से ध्यान योगी परमात्मा की सानिध्यता का आभास करने का इच्छुक होता हैं तथा भक्तियोगी भक्ति के द्वारा परमात्मा की निकटता चाहता है। यह सब साधन परमात्मा की प्राप्ति के लिए होते हैं। जब इन साधनों से संसार की प्राप्ति का उद्देश्य हो जाता है तो साधक गिरता है। अपने साधन से नीचे आ जाता है अथवा अभीष्ट का भ्रम उत्पन्न कर लेता है। श्री भगवान इस श्लोक में विशिष्ट बात कह रहे हैं वह समस्त योगियों की तुलना प्रस्तुत कर रहे हैं। श्री भगवान के विशिष्ट भाव का अवलोकन कीजिए–

1– समस्त योगियों में भी (योगिनामपि सर्वेषाम्) :–

संसार में वस्तुओं की, व्यक्तियों की तुलना होती है। जैसे जब पुष्पों की चर्चा होती है तो यह कहा जाता है कि गुलाब का फूल बहुत सुन्दर और सुगन्धित होता है, तेजस्वी वस्तुओं में सूर्य को तेजस्वी कहा जाता है। वेदों में सामवेद को उत्कृष्ट कहा जाता है। जन्तुओं में वनराज सिंह को श्रेष्ठ माना जाता है। नागो में शेषनाग श्रेष्ठ कहे जाते हैं। ऐसे ही श्री भगवान योगियों में श्रेष्ठ योगी के बारे में बताना चाह रहे हैं। जितने प्रकार के योगी हैं यदि वे कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, भक्तियोगी के अतिरिक्त भी हों ऐसा भाव **योगिनामपि सर्वेषाम्** कहकर श्री भगवान ने व्यक्त किया है। साधक कर्तव्यकर्मो का आचरण सम्यक् रूपेण करता है, उसमें सांसारिक आसक्ति का त्याग पूरी तरह से हो जाता है तथा यदि उसने इच्छा का त्याग भी कर दिया है और वह त्रिगुणों की वृत्तियों को समझ कर प्रत्येक क्रिया को त्रिगुणों से प्रभावित मान रहा है उसमें कर्तापन के भाव का भी त्याग हो चुका है। उसके चित्त की स्थिति वायु रहित स्थान में दीपक की लौ के समान हो गयी है। उसने समस्त संकल्पों का त्याग कर दिया है। उसने दुःख और सुख को समान समझ लिया है। उसने सिद्धि असिद्धि के भाव को सम कर लिया है। यदि ऐसी स्थितियां योगी ने प्राप्त कर ली है तो वह योगी की जो प्रतिष्ठा हैं उसे प्राप्त हो चुका हैं। उन समस्त योगियों में अर्थात् **योगिनामपि**

सर्वेषाम् के भाव में आ चुका है। कौन योगी उत्कृष्ट है? उक्त योगियों में किसे सर्वोच्चता प्राप्त है? इसका वर्णन श्री भगवान आगे कर रहे है–

2– श्री भगवान के परायण होना क्या है ? (मद्गतेन्) :–

मनुष्य बाल्यावस्था से युवावस्था तक अध्ययन करता है। प्रथम कक्षा से अंतिम सीमा तक अध्ययन वह शिक्षक और आचार्य के सहारे करता है। आरम्भ में शिक्षक का आश्रय विशेष रहता है। बालक को जैसा शिक्षक बताता है वैसा ही वह सीखता है। भाषा, गणित, विज्ञान आदि के बारे में जो भी बताया जाता है वैसा ही वह जानता है। बालक में एक अटूट विश्वास रहता है कि हमारा शिक्षक हमें सही ज्ञान ही प्रदान करेगा। यही मान कर इसी भाव से बालक पढ़ता जाता है और शिक्षक पढ़ाता जाता है। यह स्थिति माध्यमिक और उच्च शिक्षा के छात्रों की ही रहती है कि युवक आचार्य एवं शिक्षकों के सहारे अध्ययन करता है और ज्ञान का अर्जन करता है। आज के वैज्ञानिक युग में हमने बहुत प्रयास किया है परन्तु जो भी वैज्ञानिक ज्ञान है वह भी प्रकाण्ड वैज्ञानिकों के सहारे ही चलता है। यह पूर्ण परायणता है। विद्यार्थी चाहें वह निम्न स्तर का हो अथवा उच्च स्तर का हो शिक्षक के परायण अर्थात् आश्रय में रहता है। उसी के बताये गए मार्ग में चलता है। इसी भाव को प्रकट करने के लिए श्री भगवान ने मद्गतेन कहा है। अध्ययन में तो श्रम विशेष रहता है परन्तु परायणता भी प्रमुख है।

प्राचीनकाल में शिक्षा की व्यवस्था के लिए अध्ययन अध्यापन के लिए गुरूकुल आश्रम पद्धति थी। छात्र गुरू आचार्यो के आश्रमों में रहकर विद्या ग्रहण करते थे। आचार्य छात्रों के रहने, भोजन आदि की व्यवस्था भी करते थे। एक शिक्षा की व्यवस्था तथा दूसरे रहन सहन और भोजन की व्यवस्था। इस प्रकार छात्र पूरी तरह से गुरूजनों और आचार्यो पर आधारित था तथा उनके आश्रमों में ही रहता था। यह पूर्ण आश्रय है। पूरी तल्लीनता है शिक्षक अर्थात् आचार्य जैसा चाहता था वैसी ही बालक को शिक्षा देता था। शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा देना उसका कर्तव्य था।

बालक अबोध रहता है और उसके बोध की ज्ञान की व्यवस्था आचार्य करता है। वैसे ही जब मनुष्य अबोध रहकर, अज्ञानी बनकर श्री भगवान के आश्रय में जाता है तथा उसे ही सर्वत्र श्री भगवान का दर्शन सहायक के रूप में होता है उठते बैठते, सोते जागते, चलते फिरते कार्य करते है। श्री भगवान के आश्रय का आभास होता है और हम उसके आश्रय की अनुभूति करते हैं तो हम श्री भगवान के परायण हो जाते हैं। यह उसमें तल्लीनता की स्थिति प्रकट करती है। हम उठे तो श्री भगवान का सहारा ले और

बैठे तो श्री भगवान का ही आश्रय ग्रहण करें। सोने जाए तो श्री भगवान की गोद में रहे और चले तो श्री भगवान की शक्ति का आभास करें। कार्य करें तो उसके सहारे का अनुभव करे तो उसका सहारा हमें प्राप्त होता है। उसमें तल्लीनता भी रहती है। इस प्रकार हमें श्री भगवान की परायणता प्राप्त हो जाती है। जब साधक ऐसी स्थिति में आ जाता है तो समस्त योगियों से उत्कृष्ट हो जाता है। यह स्थिति सहजता से प्राप्त नहीं होती है।

3– श्रद्धायुक्त का अंतरात्मा से भजन करना क्या है ?

(अन्तरात्मना श्रद्धावान्भजते यो माम्) :–

श्रद्धा अन्तरात्मा का एक भाव है तथा जो जैसी श्रद्धा वाला है वह वैसा ही है। तीन प्रकार की श्रद्धा का वर्णन गीता जी में आता है। जिसे सात्विक श्रद्धा, राजसी श्रद्धा तथा तामसी श्रद्धा कहते है। इस आधार पर तीन प्रकार के पुरूष भी है। 1– सात्विक श्रद्धा वाला पुरूष 2– राजसी श्रद्धा वाला पुरूष 3– तामसी श्रद्धा वाला पुरूष। सात्विक श्रद्धा से युक्त मनुष्य देवी देवताओं का यजन पूजन करते हैं। राजसी श्रद्धा वाला मनुष्य यक्ष और राक्षसों का पूजन करते हैं तथा तामसी श्रद्धा वाला मनुष्य भूत प्रेतों की पूजा करता है। इन उपरोक्त तीनों श्रद्धा से उत्कृष्ट श्रद्धावान वह है जो श्री भगवान का यजन पूजन कीर्तन आदि करता है। यह श्रद्धा विशिष्ट प्रकार की है क्योंकि सात्विक श्रद्धा में देवी देवताओं के पूजन से मनुष्य सांसारिक वस्तुएं चाहता है और उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करता है। यही सकाम भाव है। यक्ष राक्षसों की पूजा से मनुष्य दूसरों के अहित की आकांक्षा करता है तथा भूत प्रेतों की उपासना से मनुष्य तांत्रिक सिद्धि चाहता है जो तामसी होने के कारण अपने ही पतन और विनाश का कारण होती है। इस प्रकार श्री भगवान ने श्रद्धावान शब्द कहा है। वह श्री भगवान के प्रति श्रद्धा रखने के भाव के लिए कहा गया है। श्रद्धा उत्पन्न हो जाने पर शीघ्र उसका विनाश नहीं होता है जैसे किसी की श्रद्धा देवी देवता अथवा विशिष्ट शक्ति के प्रति उत्पन्न हो जाती है तो वह मनुष्य उस देवी देवता के प्रति श्रद्धा रखकर उसकी पूजा उपासना की विधि को सम्पन्न करता है उस श्रद्धायुक्त मनुष्य का अपने इष्ट देवी देवताओं के प्रति विशिष्ट भाव रहता है।

इसी प्रकार राजसी पुरूष जिस यक्ष राक्षस की पूजा उपासना करता है उसका यक्ष और राक्षस के प्रति विशिष्ट भाव रहता है। तामसी श्रद्धा वाला व्यक्ति तांत्रित उपासना में विश्वास रखता है और वह भूत प्रेतों की उपासना तंत्र मंत्र की सिद्धि हेतु करता है। इस प्रकार प्रत्येक श्रद्धा वाला अपनी श्रद्धा के प्रति समर्पित रहता है। जब

साधक श्री भगवान के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य आदि को समझ लेता है तो उसकी श्रद्धा श्री भगवान के प्रति अटूट हो जाती है। वह अटल, स्थिर रहती है। उसकी स्थिरता समाप्त नहीं होती है। श्री भगवान की श्रद्धा का विशिष्ट भाव है। श्री भगवान ऐसे ही साधक के लिए श्रद्धायुक्त साधक कहते है और श्रद्धावान पद का प्रयोग करते है।

श्रीभगवान के प्रति जो श्रद्धा आ जाती है वह अंतरात्मा से होती है। अंतःकरण में उसका निवास रहता है। अंतःकरण के तीन भाग हैं। मन, बुद्धि तथा अहंकार जब मन की वृत्ति अर्थात कार्य से परमात्मा का विचारण हो तथा संसार का विचारण समाप्त हो जावे तो यह अंतरात्मा से एकमात्र श्री भगवान का भजन करता है। जब बुद्धि परमात्मा के प्रभाव, गुण, ऐश्वर्य का ही विनिश्चिय करे तो यह बुद्धि के द्वारा ही परमात्मा का भजन है। तथा जब अहंकार अपने अस्तित्त्व को भूलकर श्रीभगवान के अस्तित्त्व का बोध करे तो यह अहंकार से परमात्मा का भजन है। इस प्रकार जब श्रद्धा का श्री भगवान के प्रति समर्पण होता है तो अंतःकरण से श्री भगवान का भजन होने लगता है। सामान्य रूप से मनुष्य संसार का चिंतन करता है। उसका मन संसार के विषयों के संबंध में विचार करता रहता है और बुद्धि संसार के विषयों का विनिश्चिय करती है तथा उसे अपने अस्तित्त्व का बोध होता है।

संसार में वह जो भी है उसका उसी को बोध और ज्ञान रहता है। इस समग्र को श्री भगवान में समाधि करना है। अर्थात् अपने मन को एकाग्रता से श्री भगवान के स्वरूप में समर्पित करना है। बुद्धि से वैसा ही विनिश्चिय करना है और अपने अस्तित्त्व को परमात्मा का अंश समझना है। श्री भगवान का आश्रय ग्रहण कर लें उसमें श्रद्धा को प्रगट कर लें तथा अपने अंतःकरण से उसका ही एकमात्र चिंतन करें यह श्रद्धावान होकर श्रीभगवान का भजन करना है। भजन के जितने भी प्रकार हैं वह सब श्रीभगवान के स्वरूप, गुण, कर्म में ही समाप्त हो जाते हैं। हम सब जो भी भजन करते हैं वह भजन श्रीभगवान के प्रति ही करते हैं। उसके गुणों का बखान करते हैं। उसके स्वरूप की विवेचना करते हैं उसके कर्म की व्याख्या करते हैं। यह सब का सब श्रीभगवान के भजन रूपी कर्म में होता है।

4– ऐसा श्रद्धावान पुरुष उत्कृष्ट है (स मे युक्ततमो मतः) :–

संसार में माता–पिता उस पुत्र को सर्वाधिक चाहते हैं जो उनकी आज्ञा मानता है। स्वामी उसी सेवक को अधिक चाहता है जो उसके समस्त आदेशों को स्वीकार करता है। गुरू उस शिष्य को अधिक चाहता है जो उसके बताए गए मार्ग का यथावत्

अनुसरण करता है। वैसे ही श्रीभगवान भी उस पुरुष को सर्वाधिक स्नेह करते हैं जो उनके आश्रय में रहता है। तथा श्रद्धापूर्वक अंतःकरण से भगवान को भजता है। ऐसे भक्त के संबंध में श्रीभगवान जी कह रहे हैं कि वह श्रद्धावान भक्त समस्त योगियों से श्रेष्ठ है। वस्तुतः जितने भी परमात्मा प्राप्ति के साधन हैं उन साधनों के आधार पर ही साधकों का विनिश्चिय होता है। कर्मयोग साधन से कर्मयोगी का विनिश्चिय होता है। ज्ञानयोग साधन से ज्ञानयोगी का विनिश्चिय होता है।

ध्यानयोग साधन से ध्यानयोगी का विनिश्चिय होता है परंतु श्रीभगवान में श्रद्धायुक्त भक्ति से भजने वाला अंतरात्मा से उन्हें स्मरण करने वाला भक्ति योगी कहलाता है। जो साधक श्रीभगवान की भक्ति में डूबा हुआ है, प्रेम रस में सराबोर है वह श्रेष्ठ है। समस्त योगी क्रियाएं और योगी भगवान के भक्त के समक्ष तुच्क्ष हैं। निकृष्ट श्रेणी के हैं। समस्त योगियों का लक्ष्य श्री भगवान ही हैं। इस कारण समस्त योगी उनकी प्राप्ति का प्रयास करते हैं।

वे भांति–भांति के क्रियाएं यम–नियम आदि क्रियाएं, प्राणायाम, युक्त आहार–विहार, कर्तव्य कर्मों का आचरण, शास्त्रों का अध्ययन कर्तापन के अभिमान से मुक्ति आदि श्रीभगवान के निमित्त्त ही हैं। जो साधक श्रद्धा से श्रीभगवान का स्मरण करता है चाहे वह किसी प्रकार की यौगिक क्रिया का अनुष्ठान करे अथवा न करे वह श्रीभगवान को अतिशय प्रिय हो जाता है। श्रीभगवान ने अपने श्रद्धायुक्त भक्तों को सहजता से उत्कृष्ट कहा है। वे कहते हैं कि समस्त योगियों से मेरा भक्त मुझे प्रिय है। ऐसा मेरा स्पष्ट मत है। यह कथन भक्ति योगी की विशिष्टता तथा उत्कृष्टता का निरुपण करता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो
नाम षष्ठोध्यायः।।

ॐ तत्सत् इन परमात्मा के नामों से श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्र के आत्मसंयमयोग नामक छठे अध्याय की व्याख्या "गीता ज्ञान" के सातवें खण्ड के रूप में समाप्त हुई।